अक्क महादेवी और मीरांबाई

का

तुलनात्मक अध्ययन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत)

●

शोध-प्रबंध-सार

●

निर्देशिका—
डा० सावित्री श्रीवास्तव

●

प्रस्तुतकर्त्ता—
षणमुखय्या कंदगूल

●

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

●

मार्च, १९७३ ई०

अक्क महादेवी और मीरांबाई

का

तुलनात्मक अध्ययन

शोध-प्रबन्ध- सार

शोध-प्रबन्ध-सार

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध ७ अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय में अक्क महादेवी तथा मीरांबाईयुगीन परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया है । वर्ग (क) के अन्तर्गत अक्क महादेवीयुगीन तथा वर्ग (ख) के अन्तर्गत मीरांबाई-युगीन राजनैतिक,सामाजिक,आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का रेखा-चित्र खींचा गया है,क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों से अनभिज्ञ रहकर उचित निष्कर्ष निकाल सकना कठिन होता है । अत:इस अध्याय का उद्देश्य तत्कालीन उत्तर तथा दक्षिण भारत की सम-सामयिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में अक्क महादेवी और मीरांबाई को प्रतिष्ठित करना है,क्योंकि साहित्यकार अपने समय के वातावरण का सूक्ष्म अवलोकन करके ही नवीन साहित्य की सर्जना करता है ।

राजनैतिक दृष्टि से अक्क महादेवी के समय के भारत में सर्वत्र विशृंखलता व्याप्त थी । भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था । प्रत्येक राज्य एक-दूसरे को हड़पने की चेष्टा में रहता था तथा एक-दूसरे की अवनति पर प्रसन्न होता था । भारत के पश्चिमोत्तर सीमा पर मुसलमानों के आक्रमण होने प्रारम्भ हो गए थे । मुसलमानों ने मुलतान,सिंध तथा पंजाब आदि प्रदेशों पर अधिकार भी कर लिया था । सम्पूर्ण उत्तर भारत राजपूतों के पारस्परिक कलह का शिकार हो चुका था । दक्षिण भारत में भी उस युग में राजनैतिक एकता का अभाव था । दक्षिण भारत में चोल, सातवाहन, कदम्ब,पल्लव, गंग, पाण्ड्य, चालुक्य, कलचुरि, काकतीय, होयसल, यादव आदि प्रमुख राजवंश समय-समय पर शासन करते रहे । दक्षिण भारत में कर्नाटक का अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान माना जाता है । उत्तर भारत के मौर्यों ने भी इसे अपने साम्राज्य का अंग बनाया था । मौर्यों के पश्चात् इस प्रदेश पर क्रमश: सातवाहनों,कदम्बों, गंगों एवं चालुक्यों का शासन रहा । अक्क महादेवीयुगीन कर्नाटक में कल्याण के चालुक्यों, द्वारसमुद्र के होयसलों, कलचुरियों तथा यादवों का शासन रहा । इस युग में

कर्नाटक राज्य का इतिहास इन्हीं राजवंशों के निरन्तर संघर्ष का इतिहास है । अक्क महादेवीयुगीन कर्नाटक प्रदेश में उस समय कल्याण में कलचुरि नरेश बिज्जल का शासन था । बिज्जल ने संत बसवेश्वर को अपना मुख्य मंत्री बनाया था। इस युग में अनुभव-मंडप की स्थापना से वीरशैव मत के प्रचार-प्रसार में सक्रिय योगदान मिला ।

सामाजिक दृष्टि से अक्क महादेवीयुगीन सम्पूर्ण भारत में राजनैतिक एकता के अभाव के कारण परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई थी । दक्षिण भारत के राजवंश अपने अस्तित्व की अन्तिम सांसें ले रहे थे । १२ वीं शताब्दी तक सम्पूर्ण दक्षिण भारत में उत्तर भारत की आर्य संस्कृति का प्रसार हो गया था । दक्षिण भारतीय समाज में आर्य एवं द्रविड़ संस्कृति का सांस्कृतिक समन्वय इस युग की महत्वपूर्ण घटना है । यद्यपि १२ वीं शताब्दी में स्त्रियों की सामान्य दशा पतनोन्मुख हो चली थी, किन्तु दक्षिण भारत में स्त्रियों की दशा उत्तर भारत की अपेक्षा कम शोचनीय थी, क्योंकि अक्क महादेवीयुगीन दक्षिण भारत में मुस्लिम तत्व प्रवेश नहीं कर पाए थे । स्त्रियों को संत बसवेश्वर द्वारा स्थापित अनुभव-मंडप जैसी उच्च आध्यात्मिक संस्था की गतिविधियों में भाग लेने का समान अधिकार प्राप्त था । मुस्लिम-काल में हिन्दू-समाज रूढ़िग्रस्त हो गया था । कर्नाटक प्रदेश में बाल-विवाह प्रचलित रहने पर भी उसका अतिरेक नहीं हुआ था । पुरुषों की वेश-भूषा आडम्बर रहित किन्तु स्त्रियों की वेश-भूषा अत्यन्त आकर्षक होती थी । संत बसवेश्वर ने तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों एवं अन्ध विश्वासों को समूल से समाप्त करने का भरसक प्रयत्न किया । समाज-सुधारक के रूप में उन्होंने जाति-पांति के भेदभाव को अस्वीकार किया ।

आर्थिक दृष्टि से यद्यपि दक्षिण भारत की परिस्थिति अत्यन्त ठोस थी, किन्तु राजनैतिक एकता के अभाव में कोई ठोस कार्य नहीं हो पा रहा था, फलस्वरूप एकता, बन्धुत्व तथा सह-अस्तित्व आदि भावना का अभाव हो गया था । सामंतवादी प्रथा का भी विकास तीव्र गति से हो रहा था । ऐसी विषम परिस्थिति में संत बसवेश्वर आदि संतों ने अनेक आर्थिक

सुधार किए । विभिन्न उपौग-प्रकारों द्वारा जनता का कल्याण बसवेश्वर की आर्थिक योजना का लक्ष्य था ।

धार्मिक दृष्टि से १२ वीं शताब्दी का हिन्दु-समाज विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के अन्त:कलह के कारण असन्तुष्ट था । उस युग में ब्राह्मण धर्म के पुनर्जागरण के फलस्वरूप बौद्ध एवं जैन धर्म पतनोन्मुख हो चले थे । इस युग में बौद्ध,जैन,वैष्णव,शैव,वीरशैव आदि प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय थे । उनके साथ ही धार्मिक रूढ़ियां, अन्धविश्वास एवं अन्य परम्पराएं भी प्रचलित थीं । इन धार्मिक सम्प्रदायों में स्व-विकास एवं स्व-अस्तित्व के लिए होड़-सी लगी हुई थी । ऐसी स्थिति में संत बसवेश्वर एवं उनकी परम्परा में आत्मज्ञानी अल्लम प्रभु, ज्ञान यौगी, चेन्न बसवण्णा, कर्मयौगी सिद्ध रामय्या, एवं वैराग्यमूर्ति अक्क महादेवी आदि का आविर्भाव जन-मानस के लिए बड़ा ही हितकर सिद्ध हुआ । उस युग में कर्नाटक प्रदेश में वीरशैव धर्म का अधिकाधिक प्रचार हुआ । वैष्णव एवं वीरशैव धर्म की प्रबलता से जैन धर्म अवनत हुआ । लकुलीश, पाशुपत, कालामुख, काश्मीरी शैव, कापालिक आदि शैव मत के उपसम्प्रदायों के रूप में विभक्त हो गए । इस युग की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि शैव मत के सभी सम्प्रदाय वीरशैव मत में विलीन हो गए । वीरशैव मत अक्क महादेवी युग का सर्वाधिक चर्चित एवं प्रसिद्ध मत था ।

राजनैतिक दृष्टि से मीरांबाईयुगीन भारत शक्तियों के अस्थिर एवं अव्यवस्थित अस्तित्व का द्योतक है । १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया था तथा राजनैतिक एकता, शान्ति एवं सुव्यवस्था अस्थिर हो चली थी । भारत में सर्वत्र विद्रोह एवं अशान्ति की आग धधक रही थी । एक-दूसरे के विनाश पर लीन प्रयत्न होते थे तथा सभी स्पर्द्धापूर्वक अपनी-अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा में जुटे हुए थे । राजस्थान वीरों की जननी के रूप में विख्यात है । एक ओर भारत में मुस्लिम-आक्रमण हो रहे थे तो दूसरी ओर स्वतन्त्रता प्रेमी राजपूत राणा कुंभा और राणा सांगा के नेतृत्व में एक ऐसी शक्ति भी उभरी थी जो अखिल

भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण सत्ता समझी जाती था । भारत की विशृंखलित स्थिति में मुगल सम्राट बाबर के आक्रमण ने परिस्थिति में नया मोड़ उपस्थित किया ।

सामाजिक दृष्टि से मीरांबाईयुगीन भारत में दो प्रकार के समाज थे-- हिन्दू-समाज और मुस्लिम-समाज । निरन्तर युद्ध-संघर्ष तथा मुस्लिम-शासकों के दुर्दमनीय आतंक के कारण हिन्दू-समाज भाग्यवादी एवं अकर्मण्य बन गया था, फलत: उनमें अनेक कुप्रथाएं चल पड़ीं थीं, किन्तु राजपूतों में राष्ट्रीय भावना तथा ईमानदारी के चिन्ह स्पष्टत: परिलक्षित होते हैं । इस युग में वर्ण-व्यवस्था विशृंखलित होकर अनेक पेशेवर जातियाँ एवं उपजातियाँ में परिवर्तित हो गई थीं । अपनी सामाजिक व्यवस्था एवं शासकीय दुर्व्यवहार से असन्तुष्ट रहने पर भी कभी-कभी बहुत से निम्नवर्गीय हिन्दुओं को बलात् धर्मान्तरित भी होना पड़ता था ।

मीरांयुगीन भारत के मुस्लिम शासन-काल में हिन्दू नारियों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी । हिन्दू नारी-समाज में बाल-विवाह, पर्दा, सती, बालिका-वध, दहेज आदि कुप्रथाएं आ गई थीं । मुसलमानों द्वारा हिन्दू-कन्याओं के अपहरण एवं कामुकता के कारण हिन्दुओं में उक्त प्रथाएं प्रचलित हो गई थीं ।

आर्थिक दृष्टि से निरन्तर आक्रमण एवं लूटपाट से भारत की स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा था । फलस्वरूप आर्थिक दशा दिनोंदिन बिगड़ती ही गई । मीरांयुगीन राजस्थान की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती, क्योंकि राजपूताना की रेतीली और पहाड़ी भूमि अनुपजाऊ तो थी ही तथा वर्षा की कमी एवं यातायात के साधनों की सीमितता के कारण यह क्षेत्र और भी अव्यवस्थित रहता था ।

धार्मिक दृष्टि से ईसा की १५ वीं व एवं १६ वीं शताब्दी भारतीय इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती है । उस समय प्राय: दो प्रकार के धर्म थे-- हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म । हिन्दू धर्म मीरांकाल तक अनेक संप्रदायों

एवं उप सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था । इस्लाम के सम्पर्क एवं संघर्ष के आने के फलस्वरूप धार्मिक सुधार की प्रवृत्ति भी उनमें जागृत हो चुकी थी । इस युग में वैष्णव और शैव ब्राह्मण धर्म के दो प्रधान सम्प्रदाय थे । इनके अतिरिक्त बौद्ध, एवं जैन धर्म का भी उल्लेख मिलता है ।

दूसरा अध्याय दो वर्गों में विभक्त है । अक्क महादेवीयुगीन साहित्यिक परिस्थितियों का उल्लेख वर्ग (क) में और मीरांबाईयुगीन साहित्यिक परिस्थितियों का विश्लेषण वर्ग (ख) के अन्तर्गत किया गया है । प्रस्तुत अध्याय में सर्व प्रथम प्राचीन कन्नड़ साहित्य का संक्षिप्त परिचय साहित्यिक आधार-शिला के रूप में प्रस्तुत किया गया है । प्राचीन कन्नड साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात् जब हम १२ वीं शताब्दी के साहित्यिक वातावरण में प्रवेश करते हैं, तो सहसा एक नए युग का सूत्रपात होता दिखाई पड़ता है.। इस युग के कवियों ने प्राचीन परम्परागत काव्य-रूढ़ियों का बहिष्कार कर काव्य-क्षेत्र में अनेक नवीन भाव-बीज बोये थे,जो कालान्तर में अंकुरित,विकसित,पल्लवित,पुष्पित एवं फलित हुए । कन्नड साहित्य का अमूल्य वचन साहित्य इसी युग में निर्मित हुआ । ये वचन वेदान्त के रहस्यमय विषय को सरल एवं आकर्षक शैली में व्यक्त करते हैं, अत: वे कन्नड़ साहित्य के उपनिषद् माने जाते हैं ।

इस वैचारिक क्रान्ति में प्रभुदेव तथा चेन्न बसवेश्वर ने ज्ञान, सिद्धरामय्या ने योग,चौड्य्या,माचय्या एवं चेंदय्या ने कर्म की महत्ता प्रतिपादित की । ऐसे मौलिक साहित्यिक वातावरण में अक्क महादेवी का प्रादुर्भाव कन्नड़ साहित्य के लिए वरदान सिद्ध हुआ,उन्होंने ज्ञान,भक्ति एवं कर्म का समन्वय किया उस युग में सम्पूर्ण वचन साहित्य शरण-शरणियों द्वारा शिवानुभव नामक ऐतिहासिक मण्डप की सभाओं में भक्ति एवं आध्यात्मिक चर्चा के माध्यम से रचा गया । तत्कालीन वचनकारों की संख्या ३०० थी तथा उनके द्वारा रचित वचनों की संख्या लगभग १ करोड़ ६० लाख मानी जाती है । तत्कालीन वचनकारों में ६० स्त्रियाँ भी थीं, जो विश्व-साहित्य के लिए अभूतपूर्व घटना है ।

मीरांबाईयुगीन साहित्यिक परिस्थिति विभिन्न मतवादों का संगठित स्वरूप है । उस युग में भक्ति की निर्गुण एवं सगुण धाराएं प्रवाहित थीं । निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत सन्तमत एवं सूफी मत विकसित हुए ।

संतों की दृष्टि काव्य-कौशल की अपेक्षा मानव-कल्याण और आध्यात्मिक तत्व-चिन्तन पर अधिक केन्द्रित हुई । उन्होंने उपेक्षित एवं अपमानित जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया । कबीर आदि संतों ने प्राचीन परम्पराओं को यथावत् न स्वीकार कर उनका युगानुरूप संस्कार भी किया ।

दूसरी मुख्य धारा सूफी संतों की थी । अधिकांश सूफी कवि मुस्लिम थे,किन्तु वे हिन्दुओं के धार्मिक आदर्श को सौजन्य की दृष्टि से देखते थे । साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम एकता का यह प्रथम प्रयास था । सूफी संप्रदाय प्रेम-पंथ को लेकर चला था । उनका प्रेम लौकिक नहीं,आध्यात्मिक था ।

राम-भक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास हैं ।इस शाखा में राम के लोक-पालक एवं लोकरक्षक दोनों ही रूपों का चित्रण किया गया है । उन्हें शक्ति,शील और सौन्दर्य का निधान माना गया है । राम की उपासना के साथ ही शिव,गणेश,हनुमान आदि अनेक देवी-देवताओं की भी उपासना की गई । इसमें ज्ञानमार्गीय एवं प्रेममार्गीय कवियों की रहस्य भावना एवं अटपटी वाणी को स्थान न देकर वेद-शास्त्रानुमोदित मार्ग अपनाया गया । तुलसीदास वेद-विरुद्ध सिद्धांत स्वीकार नहीं करते ।

कृष्णकाव्य-धारा में अनेक परम्पराएं विकसित हुईं । बंगाल में चैतन्य महाप्रभु एवं उत्तरप्रदेश में वल्लभाचार्य तथा हितहरिवंश ने कृष्ण-भक्ति का अनुपम स्रोत प्रवाहित किया । कृष्ण-भक्त कवियों में किसी सिद्धांत के प्रचार की भावना नहीं है । पूर्ववर्ती कृष्ण-भक्त कवियों में आध्यात्मिक भावाधिक्य है, किन्तु परवर्ती कवियों में लौकिकता के भाव उभरे दिखाई पड़ते हैं । उद्धव-गोपी-संवाद में दार्शनिक तत्व भी मिलते हैं । राम-भक्त-कवियों की भांति कृष्ण-भक्त -कवि भी सांसारिक मोह-माया से विरक्त थे ।उन्हें राज्याश्रय की आवश्यकता नहीं थी और न धन-सम्पत्ति से ही उनका विशेष प्रयोजन था ।

सूर अष्टछाप के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं । मीरां जैसी स्वतंत्र कृष्णभक्त कवयित्री में कृष्ण-प्रेम का अलौकिक एवं मनोहारी छटा देखने को मिलती है । उनके पदों में मध्यकालीन धर्म साधना के प्रत्येक सम्प्रदाय का कुछ-न-कुछ आभास मिलता है । कृष्ण भक्त कवियों में एकमात्र मीरां ही ऐसी हैं, जिनका आत्मनिवेदन व्यक्तिगत रूप से साम्प्रदायिक अथवा साहित्यिक गुटबंदी के दलदल में न पड़कर सब के मूल तत्व को ग्रहण किया है । उनका काव्य-परम्परा से पुष्ट होते हुए भी रूढ़ियों से जकड़ा बहुधा नहीं है ।

तीसरे अध्याय में अक्क महादेवी एवं मीरांबाई का जीवन-परिचय प्रस्तुत किया गया है । अक्क महादेवी का जीवन-परिचय वर्ग (क) के अन्तर्गत तथा मीरांबाई का वर्ग (ख) के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है । अन्त में दोनों भक्त कवयित्रियों के जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में साम्य एवं वैषम्य द्वारा तुलना भी की गई है । अक्क महादेवी का जन्मकाल विभिन्न विद्वानों द्वारा ११५० से ११६५ई० तक माना जाता है, किन्तु उनके जीवन से सम्बन्धित तत्कालीन ऐतिहासिक तथ्यों पर विचार करने पर मैंने ११४६ से ११५०ई० के मध्य उनका जन्म-काल स्वीकार किया है । उनके जन्मस्थान के विषय में भी दो विचारधाराएं प्राप्त होती हैं-- एक तो ग्रन्थों में मैसूर राज्य के गुलबर्गा जिले में स्थित महागांव को उनका जन्मस्थान माना है, किन्तु प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थों, शिलालेखों एवं प्राय: समस्त प्रसिद्ध विद्वानों ने मैसूर राज्य के शिवमोग्गा जिले के शिकारीपुर तहसील का उडुतडि ग्राम ही अक्क महादेवी का जन्मस्थान माना है । अक्क महादेवी में बाल्यावस्था से ही भक्ति भाव के बीज अंकुरित होने लगे थे । बचपन से ही भगवद्भक्ति तथा भौतिक वस्तुओं की उपेक्षा के भाव उनमें सन्निहित हो गए थे । बाल्यावस्था से ही उन्होंने चेन्नमल्लिकार्जुन को पति रूप में मान लिया था । उनके विवाह के सम्बन्ध में यह प्रतिपादित किया गया है कि वे कौशिक के राजमहल में रही अवश्य थीं, किन्तु उनका उससे विवाह-सम्बन्ध नहीं हुआ था । अक्क महादेवी कौशिक के राजमहल को त्याग कर दिगम्बर होकर कल्याण गईं, यह प्रतिपादित किया गया है ।

अक्क महादेवी ने धार्मिक एवं सांस्कृतिक नगर कल्याण में प्रवेश करते समय उसकी वन्दना की है। अलौकिक सौन्दर्यपूर्ण एवं अनुपम नगर कल्याण को देखकर उन्हें अपार हर्ष हुआ। अक्क महादेवी ने वहां के आध्यात्मिक ज्ञान-मन्दिर अनुभव मण्डप में प्रवेश किया। वहां उन्होंने प्रभुदेव, चेन्न बसवेश्वर, सिद्धरामय्या आदि संतों के साथ शिवानुभव गोष्ठी में उपस्थित संतों को प्रणाम कर बसवेश्वर का दर्शन किया। महात्मा बसवेश्वर के कहने से प्रभुदेव ने अक्क महादेवी से कई प्रश्न पूछे। अक्क महादेवी ने सभी प्रश्नों का समुचित उत्तर दिया। अक्क महादेवी की ज्ञान-गरिमा को देखकर सभी ने उनका गुणगान किया। अक्कमहादेवी ने प्रभुदेव से आध्यात्म- ज्ञान एवं मुक्ति सम्बन्धी विशिष्ट जानकारी हेतु अपनी अभिलाषा व्यक्त की। प्रभुदेव ने उन्हें उपदेश द्वारा अनुपम दिशा प्रस्तुत की। तत्पश्चात् अक्क महादेवी समस्त संतों का आशीर्वाद लेकर श्री शैल की ओर-प्रस्थान करती हैं और सर्वत्र वन, लता, मृग एवं वृक्षों में भी चेन्न मल्लिकार्जुन का स्वरूप देखती हैं। वे चेन्न मल्लिकार्जुन के प्रेम में तन्मय हो जाती हैं और कदली-वन में चेन्न मल्लिकार्जुन का दिव्य साक्षात्कार करती हैं और उन्हीं में समाहित होकर निर्वाण प्राप्त करती हैं।

मीरांबाई के जन्म-काल के विषय को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है और उनका जन्म सन् १४६३ई० से १५०४ई० तक होना प्रमाणित किया गया है, किन्तु प्रामाणिक साक्ष्यों के अभाव में निश्चित पता लगा सकना बहुत कठिन पड़ जाता है। समस्त विद्वानों के मतों की परीक्षा करके मैंने भी मीरां का जन्म सन १४६८ से १५०४ई० के मध्य स्वीकार किया है। मीरां जोधपुर राज्यान्तर्गत मेड़ता या मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की इकलौती पुत्री थीं और उनका जन्म कुड़की या चौकड़ी ग्राम में हुआ था। मीरां की अल्प अवस्था में ही उनके माता-पिता का निधन हो गया था, फलतः राव दूदा जी ने उन्हें अपने पास मेड़ते में बुला लिया था और वहीं उनका पालन-पोषण भी हुआ था। राव दूदा जी परम वैष्णव थे। मीरां के हृदय पर वहां के धार्मिक वातावरण का अमिट प्रभाव पड़ा था। मीरां के विवाह के सम्बन्ध में दो मत हैं-

एक मत के आधार पर राणा कुम्भा को उनका पति बताया गया है तथा दूसरे मत के अनुसार भोजराज को । प्रस्तुत प्रबन्ध में भोजराज को ही मीरां का पति स्वीकार किया गया है ।

मीरां के पति का असामयिक निधन हो गया और वे साधु संतों में अपना समय व्यतीत करने लगीं, फलत: उनके सम्बन्धियों ने उनको अनेक यातनाएं दीं, इसका भी उल्लेख किया गया है ।

मीरां मेवाड़ से मेड़ता और मेड़ता से वृन्दावन गईं । वे वृन्दावन से अत्यधिक प्रभावित हुईं । ये तीर्थयात्राएं मीरां ने भक्तिभाव से प्रेरित होकर की थीं, ऐसा प्रतिपादित किया गया है । सं०१५९९ में वृन्दावन यात्रा के पश्चात् मीरां द्वारिका चली गईं और वहां कृष्ण-मन्दिर में लीन रहने लगीं । कुछ समय पश्चात् चित्तौड़ और मेड़ते में पुन: श्रीवृद्धि हुई और कुछ लोग मीरांबाई को बुलाने के लिए भेजे गए । उन्होंने मीरां से चलने का सत्याग्रह किया । अन्त में हार मानकर वे चलने को तैयार हो गईं, किन्तु जब वे रणछोड़जी से मिलने मन्दिर में गईं तो वहीं वे प्रभु में लीन हो गईं । सं० १६०३ में द्वारिका में मीरां परलोक सिधारी थीं, यह प्रतिपादित किया गया है ।

अक्क महादेवी और मीरांबाई के जीवन में अनेक समानताएं मिलती हैं । अक्क महादेवी पार्वती का सात्विक अंश मानी जाती हैं और मीरां ललिता नाम गोपी का अवतार । अत: दोनों में आध्यात्मिक दिव्य ज्योति सन्निहित मिलती है तथा दोनों में पूर्व जन्म के सात्विक संस्कार भी पाए जाते हैं । दोनों अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान थीं और दोनों का पारिवारिक जीवन भक्तिभाव से परिपूर्ण था । दोनों बचपन से ही पूर्व जन्म के संस्कार एवं पारिवारिक भक्ति-भावना से ईश्वरोन्मुख हुई हैं । दोनों जन्मजात अत्यन्त रूपवती थीं तथा सदाचार एवं आचरण की पवित्रता के कारण दोनों का स्वरूप और भी दिव्य हो गया था । दोनों का सौन्दर्य मनोमुग्धकारी था, अत: दोनों का अल्पवय में

ही भक्ति-साधना की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक था । दोनों ने अपने हृदय का भक्ति-भावना को काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया है । दोनों का उद्देश्य कवित्व-प्रदर्शन नहीं था, वरन् हृदय का सात्विक एवं अनुभवशील भावनाओं को सीधे-सादे शब्दों के माध्यम से जनमानस को प्रभावित करना था । दोनों का भक्ति-साधना के मार्ग में अनेक बाधायें डाली गईं, पर वे न तो विचलित हुईं और न उदासीन ही । दोनों में अपार धैर्य एवं अटल भक्ति-भावना विद्यमान है । दोनों अपने इष्टदेव को पतिरूप में मानकर उनके प्रति अपने सच्चे स्नेह का सजीव चित्र प्रस्तुत करती हैं । दोनों बचपन से ही सांसारिक माया-जाल से विलग रहकर अलौकिक पति की आराधना में जीवनपर्यन्त साधनारत रहती हैं । दोनों गुरु की महत्ता स्वीकार करती हैं । दोनों ने सत्संग-महिमा की प्रशंसा की है और स्वयं तीर्थस्थानों का भ्रमण कर अनेक साधु-संतों का सत्संग भी किया था । दोनों का अमिट प्रभाव तत्कालीन सुप्रसिद्ध महात्माओं पर भी पड़ा था । दोनों पर भारतीय संस्कृति की अमिट छाप है । दोनों का अन्त भी एक जैसा ही हुआ । अक्क महादेवी ने श्री शैल के कदली-वन में अपने इष्टदेव का साक्षात्कार किया था तथा मीरांबाई ने द्वारिकापुरी में ।

अक्क महादेवी और मीरांबाई के जीवन में अनेक विषमताएं भी मिलती हैं । अक्क महादेवी साधारण भक्त-परिवार में पैदा हुई थीं और मीरांबाई राज-परिवार में । अक्क महादेवी को अपने माता-पिता का लाड़-प्यार मिला था, किन्तु मीरां को अल्प वय में ही माता-पिता के प्यार से वंचित होना पड़ा था और उनका पालन-पोषण उनके पितामह राव दूदा जी ने अपने घर पर किया था । अक्क महादेवी वीरशैव धर्मावलम्बिनी थीं और मीरांबाई वैष्णव धर्मावलम्बिनी । अक्क महादेवी अविवाहिता थीं और मीरांबाई विवाहिता थीं । मीरां के जीवन में पारिवारिक कष्ट विशेष मिला, किन्तु अक्क महादेवी के जीवन में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता । मीरांबाई तन्मय होकर नाचती रहती थीं, लोक-लाज का उन्हें ध्यान नहीं था ? किन्तु अक्क महादेवी ने दिगम्बर वेश धारण कर लिया था । अक्क महादेवी २२ वर्ष तक जीवित रहीं,

परन्तु मीरां का जीवनकाल अपेक्षाकृत उनसे द्विगुणित रहा । अक्क महादेवी के आराध्य देव चेन्नमल्लिकार्जुन थे और मीरांबाई के कृष्ण । अक्क महादेवी ने अपने उपदेशामृत से दक्षिण भारत के ज्ञान-पिपासुओं को तृप्त किया और मीरांबाई ने अपनी प्रेम-धारा से भारत के उत्तरांचल को परिप्लावित किया । अक्क महादेवी में ज्ञान का आधिक्य है और मीरांबाई में प्रेम का । मीरांबाई के जीवन से सम्बन्धित अनेक अलौकिक घटनाएं प्रसिद्ध हैं,किन्तु विभिन्न जीवन-परिस्थिति के कारण अक्क महादेवी के जीवन में इस प्रकार की घटनाओं का अभाव है । अक्क महादेवी का धैर्य,साहस एवं दर्शन-पक्ष मीरां की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है । अक्क महादेवी ज्ञानवृद्ध थीं । यद्यपि दोनों भक्त-कवयित्रियों के जीवन में अनेक समानताएं और विषमताएं मिलती हैं,किन्तु जिस धैर्य से दोनों का जीवन-दर्शन गतिशील होता है, वह हम सब के लिए प्रेरणादायक है ।

इस प्रकार दोनों कवयित्रियों के जीवन में तुलनात्मक विवेचन करते हुए दोनों को ही भक्ति-क्षेत्र में अद्वितीय स्थान प्राप्त है, यह प्रतिपादित किया गया है ।

चौथे अध्याय में अक्क महादेवी और मीरांबाई की रचनाओं का उल्लेख किया गया है । अब तक अक्क महादेवी के तीन ग्रन्थ वचन-गद्य, योगांग त्रिविधि और सृष्टिय वचन प्रकाशित एवं उपलब्ध हैं । इनके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने उनके अक्क गद्य पीठिके ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है, किन्तु इसका अस्तित्व सामने नहीं आया है ।

विद्वानों ने मीरां के निम्नलिखित ग्रन्थों का उल्लेख किया है-- नरसी जी का मायरो, गीत गोविन्द की टीका, राग गोविन्द,सोरठ के पद, मीरा का मलार, गर्वागीत एवं मीरांबाई के पद, किन्तु अब तक मीरांबाई के पदों के अतिरिक्त अन्य कृतियाँ सभी ग्रन्थ अप्रामाण्य घोषित किए जा चुके हैं । सर्व सम्मति से मीरांबाई के पद ही उनकी प्रामाणिक रचना मानी जाती है ।

पांचवे अध्याय में अक्क महादेवी तथा मीरांबाई के दर्शन, अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के स्वरूपों का विशद् विवेचन किया गया है । दोनों के काव्य में व्यक्त दार्शनिक विचार, प्रेम का स्वरूप, माधुर्य-भाव, विरह-वेदना तथा संयोग-पक्ष का विवेचन करते हुए उनके काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष का उल्लेख किया गया है, जिसमें उनके अलंकारविधान, रस-योजना, छन्द-योजना तथा संगीत-पक्ष की विवेचना की गई है । अनेकानेक उदाहरणों द्वारा यही निष्कर्ष निकाला गया है कि दोनों कवयित्रियों में अनुभूति की गहराई प्रधान है तथा अभिव्यक्ति का चमत्कार गौण है ।

दोनों के तुलनात्मक विवेचन के आधार पर यह दृष्टिगत होता है कि मीरां की अपेक्षा अक्क महादेवी का दार्शनिक पक्ष विशेष सबल है । अक्क महादेवी ने दर्शन जैसे गम्भीर विषय को जीवन में नित्यप्रति उपयोग में आने वाली सामान्य वस्तुओं के माध्यम से सरल शब्द तथा सहज शैली में इस प्रकार व्यक्त किया है, जिसे महान् दार्शनिक बहुत प्रयत्न के बाद भी स्पष्ट नहीं कर सके हैं । दोनों ही कवयित्रियों ने ब्रह्म के सगुण और निर्गुण स्वरूप का चित्रण किया है । दोनों की ब्रह्म, जीव तथा जगत-सम्बन्धी विचार-पद्धति एक ही समान है, किन्तु मीरां के पदों में दर्शन पक्ष अपेक्षाकृत निर्बल जान पड़ता है । उनमें प्रेम की मात्रा अति की सीमा तक पहुंच जाती है । सम्भवत: इसी कारणवश मीरां का दार्शनिक विवेचन निर्बल हो जाता है । अक्क महादेवी भी अपने इष्टदेव के मिलन-हेतु व्यथित मना हैं, उनमें भी बेचैनी है, किन्तु उनका दर्शन हिमालय की तरह अटल तथा अडिग है ।

दोनों ही कवयित्रियों के काव्य में भक्ति का स्वरूप दो समानान्तर रेखाओं की भांति दृष्टिगत होता है । अक्क महादेवी का भक्ति का स्वरूप वीरशैव सिद्धांत का अनुगामी है तथा मीरां की भक्ति में वैष्णव भक्ति-भावना की नवधा भक्ति के दर्शन होते हैं । अक्क महादेवी में भक्ति का शुद्ध एवं निर्मल रूप मिलता है, किन्तु मीरां की भक्ति-भावना प्रणयाश्रित है ।

यद्यपि दोनों ही अपने-अपने आराध्य के प्रेम में साधना-रत हैं,किन्तु दोनों के पथ भिन्न-भिन्न हैं । मीरां की स्थिति अपने आराध्य के प्रेम में विक्षिप्त जैसी दिखाई देती है । जगत की अन्य वस्तुओं को या तो वे भूल जाती हैं या उस ओर आकृष्ट ही नहीं होतीं, किन्तु अक्क महादेवी में ऐसी बात नहीं है । वे सदैव सजग रहती हैं और अपने को पूर्णतया खोती नहीं है । जीवन की अत्यन्त तन्मय स्थिति में भी उन्हें जगत एवं "स्व" के अस्तित्व का ज्ञान बना रहता है । मीरां चाहती हैं कि अपने आराध्य से मिलकर बिछुड़ना ठीक नहीं है, जब कि अक्क महादेवी चाहती हैं कि सदा मिलकर रहने की अपेक्षा थोड़े समय के लिए बिछुड़कर मिलन हो और फिर सदैव एकसाथ रहना हो । अक्क महादेवी की अपेक्षा मीरां की प्रेम-परिधि कुछ-अधिक विस्तृत है । इसका एकमात्र कारण उनकी तन्मयता और प्रेम-विह्वलता है ।

अक्क महादेवी और मीरांबाई दोनों में प्रेम के माधुर्य-भाव के एक समान दर्शन होते हैं । दोनों नारी हैं और अपने आराध्य को पति के रूप में स्वीकार करती हैं । दोनों विरह की ज्वाला में समान रूप से प्रज्वलित दिखाई पड़ती हैं । दोनों का प्रेम अलौकिक है और उसी अलौकिक प्रेम के वियोग में जीवन की दिव्य अनुभूतियों का दर्शन करती हैं । दोनों के विरह-वर्णन में आकुलता और विह्वलता तो है,किन्तु वासनात्मक दुर्गन्ध लेशमात्र भी नहीं है । यद्यपि दोनों के काव्य में विरह-वर्णन की ही प्रधानता है,किन्तु अति संक्षिप्तरूप में संयोग-वर्णन के कुछ उदाहरण मिल जाते हैं । दोनों संयोग की स्थिति का चित्रण करते समय प्रसन्नता का अनुभव करती हैं । विरह के मनस्ताप के पश्चात् संयोगावस्था में उनमें नई चेतना का संचार दिखाई देता है, परन्तु जो सफलता दोनों को विरह-वर्णन में प्राप्त हो सकी है, वह संयोग-वर्णन में नहीं प्राप्त हो पाई है ।

अक्क महादेवी और मीरांबाई भक्त पहले हैं और कवयित्री बाद में, अतः दोनों में भाव-पक्ष की प्रधानता है तथा कलापक्ष की कोई

सुनिश्चित योजना नहीं है । दोनों की रुचि बाह्याकर्षणों की ओर नहीं था, क्योंकि दोनों के काव्य में अलंकार तथा रसयोजना का गौण रूप से ही चित्रण हो पाया है, किन्तु जन-मानस में दोनों ही प्रतिष्ठित हो चुकी हैं ।

दोनों ही कवयित्रियों के समी वचन तथा पद गेय हैं, किन्तु छंदविधान की दृष्टि से मीरां अक्क महादेवी की अपेक्षा अधिक धनी हैं । यद्यपि उनका छंद-विधान पिंगलशास्त्र के अनुसार नहीं किया गया है, किन्तु उसमें गतिरोध नहीं उत्पन्न होता । अक्क महादेवी के काव्य में दो छंद मात्र प्रयुक्त हुए हैं, जब कि मीरां के पदों में नौ प्रमुख तथा चार गौण छंदों का प्रयोग हुआ है । मीरां का संगीत-पक्ष भी अक्क महादेवी की अपेक्षा अधिक सबल है । मीरां के पदों में ७० राग-रागिनियों का चित्रण है । वे नृत्य में भी अत्यन्त निपुण हैं, जब कि अक्क महादेवी में इसका सर्वथा अभाव है । वैसे दोनों का समस्त काव्य गेय है ।

दोनों ही कवयित्रियों की भाषा-शैली एक जैसी ही सबल, सरल तथा प्रवाह-युक्त है । दोनों के काव्य में मुहावरों और लोकोक्तियों का समानरूप से प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार ग्रामीण, देशज और संस्कृत शब्दों के प्रयोग में भी वे दोनों समान हैं । मीरां की अपेक्षा अक्क महादेवी की भाषा में चमत्कार-शक्ति अधिक है । मीरां में काव्य-कला, संगीत-कला तथा नृत्यकला की त्रिवेणी प्रवाहित होती है, किन्तु अक्क महादेवी का मार्ग अपेक्षाकृत संकुचित है ।

छठें अध्याय में दोनों कवयित्रियों के पदों का तुलनात्मक विवेचन उदाहरण सहित प्रस्तुत किया गया है, जिससे यह व्यक्त होता है कि समय और स्थान का इतना अन्तराल होते हुए भी दोनों में अत्यधिक समानता है । दोनों कवयित्रियों ने गुरु के प्रति अपार श्रद्धा व्यक्त की है और सांसारिक आकर्षणों की हेयता का चित्रण किया है । नारीसुलभ शृंगार की दोनों ने तिलांजलि दी है तथा आध्यात्मिक शृंगार को ही स्वीकार किया है । दोनों ही

भाग्यवादी हैं और कहती हैं कि अनेक प्रयत्न करने पर भी भाग्य को परिवर्तित नहीं किया जा सकता । दोनों ही अपने इष्टदेव के सौन्दर्य का वर्णन करती हैं और उसमें ही तल्लीन रहती हैं । दोनों ही भक्तिमार्ग में आने वाली बाधाओं का उल्लेख करती हैं तथा अपने अभीष्ट पथ पर अडिग रहती हैं । दोनों ने अनन्य भक्ति-साधना का उल्लेख करते हुए यही व्यक्त किया है कि उनका मन अपने आराध्य को छोड़कर कहीं भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता । भगवान ही अपने भक्त की महिमा को जानता है और अपने भक्त को कष्टप्रद स्थितियों से मुक्ति दिलाता है, इसकी व्यंजना दोनों के ही पदों में व्यक्त की गई है । दोनों की ही धारणा है कि इस जग में आकर लोक-लज्जा तथा कुल की मर्यादा का ध्यान त्यागकर हरि के रंग में मग्न रहना चाहिए । वीरशैव संतों की कर्मभूमि कल्याण धाम एवं वैष्णवसंतों की कर्मभूमि वृन्दावन धाम के सम्बन्ध में दोनों के पदों में अपार श्रद्धा व्यक्त की गई है । दोनों कवयित्रियाँ अपने को अपने आराध्य देव की परिणीता मानती हैं और अपने परिणय के समय का, स्थान का तथा अन्य बातों का जो वर्णन करती हैं,उसमें निहित साम्य-भावना उल्लेखनीय है । दोनों ही बहुमूल्य सजावट के मध्य अपने आराध्य से स्वप्न में विवाह-संस्कार होने का चित्रण करती हैं । अक्क महादेवी का विवाह उनके आराध्य चेन्नमल्लिकार्जुन से सम्पन्न होता है और मीराबाई का श्रीकृष्ण से ।

दोनों ही संयोग तथा वियोग की अनुभूति का चित्रण करती हैं, परन्तु संयोग-सुख की अपेक्षा वियोग-दुःख की अनुभूति दोनों में अधिक गहराई से अभिव्यक्त हुई है । दोनों ही वियोगजन्य कष्ट से विक्षिप्तता की स्थिति को प्राप्त करती हैं और उनकी पीड़ा तभी मिट सकती है, जब स्वयं उनके आराध्य उनके कष्ट को दूर करें । इस प्रकार दोनों कवयित्रियों ने अपने-अपने आराध्यदेव की प्राप्ति के लिए दाम्पत्य प्रेम को माध्यम बनाया है । दोनों

"यित्रियां अपने को प्रियतम की स्मृति में लो देतो हैं और जब उनके प्रियतम का वियोगजन्य वेदना अपने उत्कर्ष पर पहुंच जाती है तो वे अपने अन्तःकरण में अपने अपने इष्ट प्रियतम चेन्नमल्लिकार्जुन तथा श्रीकृष्ण की मधुर मूर्ति का दर्शन करके उन्मुक्त हो जाती हैं । इस प्रकार इनकी रचनाओं में कोमलतम भावों की व्यंजना हुई है जो उनके अन्तःकरण से उद्भूत हुई है । इसलिए इनकी रचनाओं में सरलता, मधुरता एवं सजीवता के दर्शन होते हैं ।

सातवें अध्याय में वर्ग(क) में कन्नड़ साहित्य को अक्क महादेवी की देन तथा वर्ग (ख) में हिन्दी साहित्य को मीरां की देन पर समुचित प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है ।अपने-अपने गीत काव्यों का सृजन करके अक्क महादेवी ने कन्नड साहित्य को तथा मीरांबाई ने हिन्दी साहित्य को अत्यन्त समृद्ध एवं प्रांजल बनाने में अपना महान योग दिया है । १२ वीं शताब्दी में जितने भी भक्त-कवि कन्नड़-प्रदेश में हुए हैं,उनके साहित्य का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण वचन साहित्य में भक्ति की प्रमुखता दी गई है । अक्क महादेवी भी उसी कड़ी की एक उज्ज्वल मणिका है । उनके सम्पूर्ण वचन साहित्य में तत्कालीन साहित्य की सभी पद्धतियां निहित हैं । अतएव उनके वचन तत्कालीन साहित्य का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं । भक्ति और दर्शन,प्रेम और समर्पण ,लौकिकता और पारलौकिकता,अहिंसा और दया,लोकमंगल भावना एवं सांस्कृतिक उत्थान के भाव एक साथ यदि कहीं आये हैं तो अक्क महादेवी के वचनों में ही । निश्चय ही इस प्रकार से युक्त वचन कन्नड़ साहित्य की अमूल्य निधि हैं । कन्नड़ साहित्य की अधिकांश रिक्तता इन वचनों से निःसन्देह परिपूर्ण हो गई है और ये वचन कन्नड़ साहित्य के अक्षय कोष की अमूल्य निधि बन गये हैं ।

इसी प्रकार मीरां कृष्ण भक्ति-शाखा की अमर कवयित्री हैं ।सूरदास के अनन्तर हो स्त्रियों में उनकी सर्वप्रथम स्थान है । मीरां के पदों के में भाव-विह्वलता एवं आत्मसमर्पण का भाव है । उनके अ माधुर्य ने अनेक हिन्दी

भाषा-भाषी सहृदयों को आकृष्ट और प्रभावित किया है । उनकी विरह-वेदना उस सीमा तक पहुंच जाती है, जिसके आगे सम्भवत: कुछ भी नहीं होता । उनकी एक-एक पंक्ति तथा एक-एक शब्द में वेदना ध्वनित होती है । वेदना का ही सम्बल लेकर मीरां अपने साध्य-पथ पर अग्रसर होती हैं । उनका विरह-वर्णन मात्रा में अत्यधिक होते हुए भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है और इसीलिए उसका इतना गहरा प्रभाव पड़ता है । उनकी उक्तियों में तन्मयता और गम्भीरता का पूर्ण समावेश है, फलत: मानव के अन्तरतम को स्पर्श करने की शक्ति उनमें विद्यमान है । वे प्रेम दीवानी बन अनन्य भाव से अहर्निश अपने प्रियतम के गीत गाती ह रहती हैं । जो भावप्रवण, कोमल हृदया नारी अपने आराध्य के लिए कुल, वंश, जगत आदि सब की अवहेलना कर दर-दर भटकती फिरी हो, उसकी अनन्य निष्ठा, अगाध प्रेम और असह्य विरहानुभूति का सहज कल्पना नहीं की जा सकती । यही कारण है कि उनका दर्द सब को तिलमिला देता है और उनके द्वारा हिन्दी साहित्य और मानव समाज को जो प्रेरणा और सन्देश मिलता है, उसका बड़ा महत्व है । उन्होंने सांसारिक माया जाल में न पड़कर ईश्वर-स्मरण को ही जीवन की सार्थकता समझा । उन्हें "रामरतन धन" मिल गया था और उसी में वे जीवनपर्यन्त मग्न एवं लिप्त रहीं । उनके जीवन और साहित्य से ईश्वर के प्रति अडिग श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न होता है । उनका सम्पूर्ण जीवन विरह-प्रेम का प्रतीक काव्य है । उन्होंने हिन्दी साहित्य को अनेक नये भाव, नई अभिव्यक्ति एवं जीवन का वास्तविक मार्ग प्रदान किया है । हिन्दी साहित्य उनका चिर ऋणी रहेगा ।

अन्त में उपसंहार में दोनों कवयित्रियों के लक्ष्य और विचारधारा की समानता का दिग्दर्शन कराने का प्रयास किया गया है । दोनों ही कवयित्रियों के मूल स्वर एक हैं, किन्तु स्थान विशेष, संस्कार विशेष एवं परिस्थितिविशेष के कारण कुछ थोड़ा-सा अन्तर भी आ गया है । वस्तुत:

दोनों कवयित्रियों का साहित्य भारतीय संस्कृति का मूल संदेश है । उनमें ज्ञान और भक्ति के संगम का साक्षात् दर्शन होता है । उनकी वाणी में दक्षिण और उत्तर की ही नहीं, समस्त भारत की आत्मा समाई हुई है । अतः दोनों भक्त-साधिकाओं को देश और काल की सीमा से परे मानना ही उचित है । मेरे विचार से दोनों के सन्देश समस्त विश्व के मानव जाति के लिए शिक्षाप्रद हैं, क्योंकि उनमें मानव-चिन्तन-धारा का अजस्र प्रवाह एवं ज्ञान-गरिमा का प्रस्फुटित आलोक है । उनकी जीवन-साधना का अमर सन्देश मानव जाति का सदैव पथ प्रशस्त करेगा और उससे हम नवीन चेतना एवं नई जीवन-दृष्टि प्राप्त करते रहेंगे । दोनों कवयित्रियां भारतीय जन-मानस को ही नहीं तृप्त करतीं, वरन् अन्य विदेशी भाषाओं के समक्ष भी भारत का मस्तक ऊंचा करती हैं । दोनों अमर हैं, क्योंकि दोनों ने अलौकिकता के गीत गाये हैं । दोनों को समाज में तब तक पूजनीय माना जाता रहेगा, जब तक ईश्वर के अस्तित्व में लोगों की श्रद्धा रहेगी ।

-०-

अक्क महादेवी और मीरांबाई

का

तुलनात्मक अध्ययन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत)

●

शोध-प्रबंध

●

निर्देशिका—
डा० सावित्री श्रीवास्तव

●

प्रस्तुतकर्त्ता—
षणसुखय्या कंदगूल

●

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

●

मार्च, १९७३ ई०

प्राक्कथन

भारत का सहस्त्रों वर्षों का रोता-सिसकता इतिहास हमारे सामने है । जो देश किसी समय विश्व का शिरोमणि समझा जाता था, उसे परतन्त्रता के पाश में अनेक प्रकार के क्रूर आततायियों ने बुरी तरह जकड़ा, उसके सम्पूर्ण शरीर को क्षत-विक्षत किया, उसके सौन्दर्य को विकृत किया, उसकी वाणी पर अधिकार प्राप्त किया तथा उसे गूंगा बनाने का भी भरसक प्रयत्न किया । मुस्लिम-शासकों ने यहां फारसी और उर्दू का प्रचार एवं प्रसार किया । अंग्रेजों ने फारसी और उर्दू के साथ ही अंग्रेजी को भी प्रतिष्ठित किया । यहां की भाषा संस्कृत दबी पड़ी रही और हिन्दी तो जन्म से ही अनाथिनी थी ही । संस्कृत ने तो भारत के गौरवपूर्ण अतीत को देखा भी था, राजसिंहासनारूढ़ भी हुई थी और विश्व को बहुत कुछ सिखाया-पढ़ाया भी था, किन्तु हिन्दी तो संघर्षों में ही जन्मी और पली । आज देश के स्वतन्त्र होने पर भी वह संघर्षों को बराबर झेल रही है, जिनसे शरीर और हृदय दोनों ही व्यथित होते हैं । दारुण दुःखद स्थिति है । हृदय वेदना से भर आता है ।

आज हम स्वतन्त्र हैं, किन्तु स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर रहे हैं । हजारों वर्षों से परतंत्र रहने पर भी अभी हम स्वतन्त्रता का मूल्य नहीं समझ पाए हैं । भारत जैसे विशाल राष्ट्र के लिए सर्वमान्य एक ऐसी भाषा का होना नितान्त आवश्यक है, जो देश को एकसूत्र में बांध सके और यह सर्वमान्य सत्य है कि वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है । अतीत और विगतकाल में भी

हिन्दी में जीवन के गीत गाए हैं । अनेक अहिन्दी भाषियों ने जिसका शृंगार किया था, वही हिन्दी आज आन्तरिक गृह-कलह का शिकार बने, यह मैं कभी सहन नहीं कर सकता । मैं कन्नड़ भाषी हूं, अहिन्दी भाषी हूं, किन्तु सर्वप्रथम भारतवासी हूं । सम्पूर्ण भारत की अखण्ड सत्ता अपनी आंखों से देखना चाहता हूं, जिसमें उत्तर-दक्षिण तथा हिन्दी-अहिन्दी का भेद न हो, क्योंकि सम्पूर्ण भारत का मूल स्वर एक ही है । उसमें कहीं कोई विषमता नहीं । सम्पूर्ण भारत का साहित्यिक इतिहास ही मेरी प्रेरणा का स्रोत है, जो यदि मंदाकिनी बन सके तो जीवन सफल समझूंगा । उत्तर-दक्षिण, हिन्दी-अहिन्दी की संकीर्ण परिधि का उन्मूलन करना ही मेरा लक्ष्य है । भारत जननी की वन्दना मेरा ध्येय है । इन्हीं कुछ कारणों से मैंने अक्क महादेवी और मीरांबाई जैसी भागवत् प्रेम-साधिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने का संकल्प किया था और भारत के स्वयं सिद्ध पीठ तीर्थ-राज प्रयाग में यह पुनीत कार्य करने का मुझे सुअवसर मिला । आज मुझे अपने उद्देश्य के अनुरूप कार्य की अन्तिम रूप-रेखा प्रस्तुत करते हुए 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते' के अनुसार आत्मिक सुख की उपलब्धि हो रही है ।

मेरे प्रस्तुत अध्ययन का प्रयोजन मुख्यतया संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है --

(क) तत्कालीन उत्तर तथा दक्षिण भारत की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिस्थिति की पृष्ठभूमि में अक्क महादेवी और मीरां को प्रतिष्ठित करना ।

(ख) दक्षिण भारत के कुन्तल-मण्डल के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक परिवेश में अक्क महादेवी का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करना ।

(ग) जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में वैषम्य होते हुए भी इन भक्त-कवयित्रियों के अभिन्न आध्यात्मिक मूल-स्वर को प्रस्तुत करना ।

(घ) अक्क महादेवी एवं मीरां की तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियों का निरूपण तथा उनकी भक्ति-भावना, भाषा, रस, छंद एवं अलंकार आदि का विवेचन प्रस्तुत करना ।

(१०) अक्क महादेवी और मीरां के इस तुलनात्मक अध्ययन को सार्थक और हृदयस्पर्शी बनाने के लिए दोनों ही भक्त-कवयित्रियों के पद एवं वचन का मूल सहित अनुवाद प्रस्तुत करना, जिससे उत्तर और दक्षिण (हिन्दी और कन्नड) भाषा-भाषी एक-दूसरे को भली भांति समझने का प्रयत्न करें ।

प्रस्तुत अध्ययन अक्क महादेवी और मीरां के कृतित्व एवं व्यक्तित्व के तुलनात्मक अध्ययन को ध्यान में रखकर किया गया है, अतः इसमें दोनों कवयित्रियों के सम-सामयिक राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का रेखा-चित्र भी खींचा गया है, क्योंकि तत्कालीन परिस्थिति से अनभिज्ञ रहकर उचित निष्कर्ष नहीं प्रस्तुत किया जा सकता । तत्कालीन विविध सम्प्रदायों के सम्बन्ध में संकेत मात्र कर दिया गया है, क्योंकि अक्क महादेवी और मीरां किसी सम्प्रदाय-विशेष की परिधि में आबद्ध नहीं हो पातीं । यद्यपि अक्क महादेवी वीरशैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित थीं, परन्तु उनका साहित्य विश्व-धर्म से सम्बन्धित है । मीरां की भी बिल्कुल यही स्थिति है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध ७ अध्यायों में विभक्त है और सहायक ग्रन्थ-सूची के रूप में परिशिष्ट भाग है । इन्हीं अध्यायों में अक्क महादेवी और मीरां की भक्ति-साधना के सोपान एवं अन्य आवश्यक सामग्रियां प्रस्तुत की गई हैं ।

प्रथम अध्याय में अक्क महादेवी एवं मीरांबाईयुगीन भारत की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का पृथक-पृथक गम्भीरता-पूर्वक विवेचन किया गया है ।

द्वितीय अध्याय में अक्क महादेवी तथा मीरांबाई की तद्युगीन साहित्यिक परिस्थितियों का विवेचन प्रस्तुत है ।

तृतीय अध्याय में अक्क महादेवी तथा मीरांबाई का जीवन-चरित प्रस्तुत किया गया है । इस अध्याय में दोनों भक्त-कवयित्रियों के जन्म-काल,

बाल्यकाल, शिक्षा, गुरु, विवाह, वैराग्य, यात्राएं तथा मुक्ति आदि विषयों पर आलोचनात्मक रूप से विचार व्यक्त किया गया है । तदुपरान्त दोनों के जीवन में पाये जाने वाले साम्यों और वैषम्यों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय में अक्क महादेवी एवं मीराबाई की रचनाओं के विषय में विचार किया गया है । इस अध्याय में अक्क महादेवी तथा मीराबाई की रचनाओं के सम्बन्ध में प्रचलित विद्वानों के प्रचलित मतों का उल्लेख प्रस्तुत है तथा दोनों ही भक्त-कवयित्रियों की प्रामाणिक रचनाओं का भी विवेचन किया गया है ।

पंचम अध्याय में दोनों कवयित्रियों के दर्शन, अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है । दोनों ही कवयित्रियों के काव्य में व्यक्त माधुर्य भाव, प्रेमतत्व तथा विरह-तत्व आदि का तुलनात्मक विवेचन किया गया है एवं अभिव्यक्ति के स्वरूपों की भी तुलना करते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि दोनों के ही काव्य में अनुभूति तत्व प्रधान है और अभिव्यक्ति पक्ष गौण ।

षष्ठ अध्याय में अक्क महादेवी एवं मीराबाई के पदों में व्यक्त भाव-धारा का वर्गीकरण एवं तुलनात्मक विवेचन किया गया है । गुरु की महिमा, श्रृंगार एवं शारीरिक साज-सज्जा, शरीर की हेयता एवं उसके प्रति उदासीनता, वैराग्य-निरूपण, भाग्यवाद, इष्टदेव के प्रति लगाव, इष्टदेव के स्वरूप की व्यापकता, इष्टदेव का सौन्दर्य, भक्ति-साधना एवं बाधाएं, दर्शन लाभ एवं भक्तों के सम्बन्ध में विविध विषयों पर दोनों कवयित्रियों की रचनाएं अनुवाद सहित प्रस्तुत की गई हैं ।

सप्तम अध्याय में अक्क महादेवी तथा मीराबाई की देन के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत है । इस अध्याय में दोनों कवयित्रियों की तत्कालीन परिस्थितियों की एक झांकी प्रस्तुत करते उनकी लोकप्रियता के मुख्य कारणों

की उपादेयता प्रमाणित की गई है । अन्त में उपसंहार के रूप में प्रमुख तथ्यों पर विचार किया गया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अध्ययन एवं अनुशीलन में डा०आर०सी० हिरेमठ द्वारा सम्पादित 'महादेवी यक्कन वचन गळु' एवं आचार्य परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित 'मीरांबाई की पदावली' (चौदहवां संस्करण) से विशेष रूप से सहायता मिली है । उपर्युक्त विद्वानों के प्रति अत्यन्त आभारी हूं ।

सर्वप्रथम मैं केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय,भारत सरकार के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूं,जिसने मुझे चार वर्षों तक अहिन्दी भाषी हिन्दी छात्र-वृत्ति देकर आर्थिक सहयोग प्रदान कर मुझे ~~प्रस्तुत~~ शोध-प्रबन्ध को सम्पादित करने में बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया है ।

मैं भारत की प्रधान मन्त्राणी श्रीमती इन्दिरा गांधी का विशेषरूप से कृतज्ञ हूं, जिन्होंने मुझे एक हजार रुपये की आर्थिक सहायता प्रदान कर मुझ अहिन्दी भाषी को शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने में सक्षम बनाया है ।

श्री एस०के० श्रीवास्तव आई०सी० एस०,भूतपूर्व निदेशक केन्द्रीय एक्साइज,भारत सरकार का विशेष आभार मानता हूं, जिन्होंने शोध-कार्य के प्रारम्भ से ही मुझे अपने अतिथि के रूप में सम्मान प्रदान किया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लेखन-काल में मुझे गुरुवर्य शुभाशिवार जी अध्यक्षा— हिन्दी विभाग, धारवाड़ विश्वविद्यालय से सदा प्रेरणा मिलती रही, उन्हें मैं भला कैसे भूल सकता हूं । डा० एम०एस० शास्त्री,व्याकरण तीर्थ चन्द्रशेखर शास्त्री,श्री नागभूषण शास्त्री, डा० मंगीमठ, प्रो० चुंचुर मठ, डा० हीरेमठ आदि का सहयोग सराहनीय है ।

डा० रामकांत सिंह से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की रूप-रेखा बनाने में महत्वपूर्ण जो सहयोग प्राप्त हुआ है, वे मुझे सदैव प्रेरणा एवं परामर्श देते रहे हैं, उनका मैं सदैव आभारी हूं ।

अपने सहयोगी मित्र श्री राजेन्द्रकुमार श्रीवास्तव, श्री कृष्णकुमार सक्सेना तथा श्री शैलकुमार उपाध्याय का सहयोग मुझे सदैव समय-समय पर उपलब्ध होता रहा है । इन्हें मैं अपना हार्दिक धन्यवाद प्रेषित करता हूं ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, वाराणसी विश्वविद्यालय, मैसूर विश्वविद्यालय एवं बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के अधिकारियों एवं काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, भारतीय विद्यामंदिर तथा साहित्य संगम(बीकानेर), हिन्दी शोध प्रतिष्ठान बीकानेर तथा हिन्दी शोध प्रतिष्ठान(जोधपुर) आदि के अधिकारियों के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूं, जिन्होंने मेरे अध्ययन-काल में हर सम्भव सहायता प्रदान की है ।

मैं प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डाक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय जी का हृदय से आभारी हूं, जिनकी कृपा और सहायता से मुझ अहिन्दी भाषी को हिन्दी साहित्य में शोध-कार्य करने की अनुमति मिली । श्रद्धेय डाक्टर साहब की ही प्रेरणा से मैं इस कार्य की ओर उन्मुख हुआ और उन्होंने सर्वथा हर संभव सहायता भी प्रदान कर मुझे आभारी किया है । डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय जी ने शोध-विषय देकर न केवल मुझपर कृपा की है, वरन् उन्होंने उत्तर और दक्षिण, हिन्दी और अहिन्दी जैसी संकीर्ण भावनाओं को समाप्त करने के लिए एक नया मार्ग खोल दिया है ।

मैं अपनी शोध-निर्देशिका डा० सावित्री जी श्रीवास्तव की अशेष कृपा के प्रति कुछ भी व्यक्त कर औपचारिकता निभाना उचित नहीं समझता । उन्होंने जिस प्रकार अपने वात्सल्य का वास्तविक स्नेह मुझे प्रदान किया है, वह मेरे मन में सदैव अमर रहेगा । प्रेषित शोध-प्रबन्ध उन्हीं की महत् अनुकम्पा का प्रतीक है । जिस प्रकार उन्होंने मुझ अहिन्दी भाषी शोधछात्र को इस महान कार्य को सम्पन्न करने में सक्षम बनाया है, वह सर्वथा दुर्लभ है । मैं उनके प्रति कृतज्ञता से नतमस्तक हूं ।

चयन सामग्री को निष्ठापूर्वक संजोकर शोध-प्रबन्ध को उपयोगी सिद्ध करने की भरसक चेष्टा की गई है और मौलिकता को प्रश्रय दिया गया है, फिर भी अहिन्दी भाषी होने के नाते यदि कहीं त्रुटियां प्रकाश में आएं तो उदारमना विद्वज्जनों के प्रति क्षमा प्रार्थी हूं ।

अन्त में अपने आराध्य देव को स्मरण कर शोध-प्रबन्ध विद्वज्जनों की सेवा में निर्णयार्थ प्रेषित करते हुए मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है ।

आशा है, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उत्तर और दक्षिण भारत में सांस्कृतिक एकसूत्रता प्रदान करने में उपयोगी सिद्ध होगा ।

विनम्र

अप्पामुरुवय्या कंदगूळ

(अप्पामुरुवय्या कंदगूळ)

विषय-सूची

विषय | पृष्ठसंख्या

विषय	पृष्ठसंख्या

विषय | पृष्ठसंख्या

अध्याय—१

अक्क महादेवी तथा मीरांबाईयुगीन परिस्थितियां

(क) अक्क महादेवीयुगीन परिस्थितियां

राजनैतिक परिस्थिति

सामाजिक परिस्थिति

आर्थिक परिस्थिति

धार्मिक परिस्थिति

(ख) मीरांबाईयुगीन परिस्थितियां

राजनैतिक परिस्थिति

सामाजिक परिस्थिति

आर्थिक परिस्थिति

धार्मिक परिस्थिति

—०—

अध्याय—१

अक्क महादेवी तथा मीरांबाईयुगीन परिस्थितियां

महान साहित्यकार युग का स्रष्टा होता है । वह जिस देश अथवा समाज में रहता है, उसकी तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का निरीक्षण करता है तथा उस युग की प्रवृत्तियों का अवलोकन कर एक नई दिशा प्रदान करता है । वह परम्परागत दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण कर एक नूतन समाज का निर्माण करता है, अतः कवि अथवा लेखक की कृतियों का यथार्थ मूल्यांकन तभी हो सकता है, जब उसके राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का पूर्णतः विवेचन किया जाय । इसी दृष्टि से यहां पर अक्क महादेवी तथा मीरांबाईयुगीन परिस्थितियों का सम्यक् विवेचन क्रमशः दो भागों में किया गया है— (क) अक्क महादेवीयुगीन परिस्थितियां एवं (ख) मीरांबाईयुगीन परिस्थितियां ।

(क) अक्क महादेवीयुगीन परिस्थितियां

राजनैतिक परिस्थिति

भारत एक विशाल देश है । भौगोलिक अनेकता के कारण भारत में प्राचीनकाल से ही राजनैतिक एकता असम्भव-सी हो गई थी, किन्तु 'अनेकता' में 'एकता' भारत की विशेषता रही है[१] । समय-समय पर शासकों ने भारत को राजनैतिक एकता, शान्ति तथा समृद्धि प्रदान करने का प्रयास किया है । चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, स्कन्द गुप्त, हर्षवर्धन,

---

१ राधाकुमुद मुकर्जी : 'हिन्दू सभ्यता', पृ० २-३

पुलकेशी, प्रतिहार, चालुक्य, पल्लव, चोल तथा पालवंशी शासकों ने समय-समय पर राजनैतिक एकता प्रदान करने का प्रयत्न किया है, किन्तु १२ वीं शताब्दी में भारतीय राजनैतिक गगनमंडल पर अनेकता के बादल मंडराने लगे और सम्पूर्ण देश ने राजनैतिक विशृंखलता का दृश्य प्रस्तुत किया[1]। अक्क महादेवीयुगीन भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। एक राज्य दूसरे राज्य को हड़प लेने की चेष्टा में रहता था तथा एक के अवनति पर दूसरा प्रसन्न होता था। इस युग की राजनैतिक दृष्टि से एक और विशेषता यह रही कि भारत के पश्चिमोत्तर सीमा पर आये दिन मुस्लिम आक्रमण होने लगे[2]। महमूद गजनवी अपनी आक्रांता शक्ति से समस्त पश्चिमोत्तर भारत को पराजित करके सोमनाथ जैसे मन्दिरों के धन को स्वच्छन्दतापूर्वक लूट रहा था। मुहम्मद गोरी के पूर्वज भारत-विजय हेतु अभियान की तैयारी में लगे हुए थे। मुसलमानों ने मुलतान, सिंध एवं पंजाब के प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमा लिया था[3]। सम्पूर्ण उत्तरी भारत राजपूतों के पारस्परिक कलह का शिकार बना हुआ था[4]। इस युग में दक्षिण भारत में भी राजनैतिक एकता का अभाव था। अक्क महादेवी युगीन राजकीय परिस्थिति तथा १६ वीं शताब्दी की मीराबाईयुगीन भारत की राजनैतिक परिस्थिति में गहन साम्य है। यहां पर दक्षिण भारत की राजनैतिक परिस्थिति का चित्रण अक्क महादेवी की महत्ता को समझने के निमित्त परमावश्यक है।

दक्षिण भारत की राजनैतिक परिस्थिति

उत्तर भारत की ही भांति बारहवीं शताब्दी के दक्षिण भारत में भी कोई एक सम्राट न था और सम्पूर्ण दक्षिण भारत छोटे-छोटे राजवंशों में विभक्त था। दक्षिण भारत में चोल, सातवाहन, कदम्ब, पल्लव, गंग:

---

१ डा०आर०सी० मजूमदार : "ए हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इंडियन पीपुल्स", खंड५ पृ० १०४।

२ डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : "दिल्ली सल्तनत", पृ०४६-५१।

३ वही

४ राधाकृष्ण चौधरी : "प्राचीन भारत का राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास" पृ०५१८-५२२।

पाण्ड्य,चालुक्य,कलचुरि, काकतीय,होयसल,यादव आदि प्रमुख राजवंश समय-समय पर शासन करते रहे । अक्क महादेवी की रचनाओं,विचारधाराओं एवं कृतियों आदि को समझने के लिए तत्कालीन कर्नाटक प्रदेश की राजनैतिक परिस्थिति का अवलोकन कर लेना परमावश्यक है ।

कर्नाटक का महत्व

दक्षिण भारत के इतिहास में कर्नाटक प्रदेश का योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है । कर्नाटक प्रदेश को दक्षिण भारत के इतिहास में वही स्थान प्राप्त है, जो उत्तरभारत के राजनैतिक क्षेत्र में मगध को प्राप्त है । अत: यदि कर्नाटक प्रदेश को दक्षिण का मगध कहा जाय तो अनुचित नहीं होगी, क्योंकि जिस प्रकार उत्तर का मगध चन्द्रगुप्त मौर्य,अशोक,समुद्रगुप्त,चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य,कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि महान सम्राटों का कार्यक्षेत्र रहा है, उसी प्रकार कर्नाटक प्रदेश, पुलकेशी द्वितीय,कृष्ण द्वितीय, गोविन्द तृतीय,अमोघ वर्ष, विक्रमादित्य षष्ठ, सोमेश्वर तृतीय आदि शासकों से सुशोभित हुआ ।

कर्नाटक प्रदेश का इतिहास बहुत प्राचीन है । उत्तरभारत के मौर्यों ने इसको महत्ता को समझकर अपने साम्राज्य का अंग बना लिया था । इस प्रदेश के ब्रह्मगिरि,सिद्दापुर,मास्की,जटिंगरामेश्वर,गवी मठ आदि स्थानों से अशोक महान के अभिलेख प्राप्त हुए हैं । इससे इस प्रदेश की ऐतिहासिकता स्पष्ट होती है । मौर्यों के पश्चात् इस प्रदेश पर क्रमशः सातवाहनों,कदम्बों,गंगों एवं चालुक्यों का शासन रहा । अक्क महादेवीयुगीन कर्नाटक प्रदेश में कल्याण के चालुक्यों,द्वारसमुद्र के होयसलों, कलचुरियों तथा यादवों का शासन रहा । इस युग के कर्नाटक राज्य का इतिहास इन्हीं वंशों के निरन्तर संघर्ष का इतिहास है । यहाँ पर इन राजवंशों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है ।

चालुक्य वंश

प्राचीन भारत में चालुक्यों के तीन प्रमुख वंश हुए हैं— (१) वातापी (बादामी के चालुक्य), (२) वेंगी के पूर्वी चालुक्य और (३) कल्याण के पश्चिमी चालुक्य । कर्नाटक के राजनीतिक इतिहास में चालुक्यों

का स्थान महत्वपूर्ण है[1]। अब महादेवीयुगीन कर्नाटक प्रदेश में कल्याण के पश्चिमी चालुक्य शासन कर रहे थे। इस वंश का स्थापना का श्रेय तैलप द्वितीय को है। तैलप द्वितीय अपने उत्कर्ष के पूर्व सम्भवत: राष्ट्रकूटों का सामन्त था। तैलप ने २४वर्षों तक शासन किया। उसने अपने समकालीन चोल शासक उत्तम चोल को पराजित किया। उसकी मृत्यु ९९७ ई० में हो गई। तैलप के पश्चात् उसका पुत्र सत्याश्रय गद्दी पर बैठा। उसने अपने पिता की प्रसारवादी नीति को अक्षुण्ण रखा। उसके बाद विक्रमादित्य (१००८-१०१५ई०) ने राज्य किया। विक्रमादित्य के पश्चात् जयसिंह चालुक्य नरेश हुआ। उसके बाद उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल(१०४२-१०६८ई०) राजा हुआ। सोमेश्वर ने परमारों को कलचुरि और गुजराती सेनाओं के विरुद्ध सहायता प्रदान कर अपना मित्र बना लिया। सोमेश्वर प्रथम ने चोलों के महत्वपूर्ण केन्द्र पर आक्रमण कर दिया। दक्षिण से मुड़कर वह उत्तर में गंगा के दोआब की ओर बढ़ गया। उसने चन्देल तथा पालवंश को पराजित किया और कोशल-कलिंग में प्रवेश किया तथा चित्रकूट के राजा धारावर्ष को अपने अधीन किया। १०६८ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

सोमेश्वर के पश्चात् उसका पुत्र सोमेश्वर द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसका छोटा भाई विक्रमादित्य अत्यन्त महत्वाकांक्षी था। सोमेश्वर व विक्रमादित्य इन दोनों भाइयों के मध्य गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। सोमेश्वर ने अपने भाई को मारने की चेष्टा की[2]। विक्रमादित्य ने चालुक्य वीर राजेन्द्र चोल से मित्रता कर ली तथा वीर राजेन्द्र की पुत्री का विवाह उससे हुआ। वस्तुत: चालुक्य राज्य दो भागों में विभक्त हो गया था। उत्तर का स्वामी सोमेश्वर द्वितीय और दक्षिण का विक्रमादित्य था। कांची के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर दोनों भाइयों में एक गृह-युद्ध छिड़ गया। विक्रमादित्य की ओर से यादव, कदम्ब और होयसल थे। विक्रमादित्य ने सोमेश्वर द्वितीय को पराजित कर बन्दी बनाया और १०७६ई० में अपने-आपको शासक घोषित किया। विक्रमांक देवचरित

---

१ डा० एस०श्रीकण्ठ शास्त्री : 'कर्नाटक संस्कृति समीक्षा', पृ०६३(१९६८ई०)
२ एम०वि०कृष्णराव : 'कर्नाटक इतिहास दर्शन', पृ०१०५।

के अनुसार विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल (१०७६-११२६ई०) एक शक्तिशाली शासक था। उसने अपनी युद्ध-कुशलता के अनेक परिचय दिए। जयकेसिन नामक कोंकण राजा तथा अन्य दक्षिणी राजाओं पर विजय प्राप्त की। १०७६ई० में अपने राज्यारोहण के उपलक्ष में उसने चालुक्य विक्रम सम्वत् चलाया। उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। चालुक्यों के इतिहास में उसके समान प्रसिद्ध पुरुष अन्य न हुए।[1] १११६ई० में बिट्टिग विष्णु वर्द्धन के नेतृत्व में होयसलों ने विद्रोह किया, परन्तु उन्हें हार खाकर उनकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। उसने वेंगी और गंगवाड़ी को जीतकर अपनी आक्रामक नीति का श्रीगणेश किया। वह इस वंश का सबसे महत्वपूर्ण शासक था। वह कला और संस्कृति का संरक्षक था और दूर-दूर के विद्वान् उसके दरबार में रहते थे।[2] वह काश्मीरी पंडित बिल्हण का संरक्षक था। उस समय कर्नाटक का वैभव अद्वितीय था। कुछ लोग विज्ञानेश्वर ('मिताक्षर' का लेखक) को भी उसका सभासद मानते हैं।[3] उसे अन्हिलवाड़ के चालुक्यों के विद्रोह का भी सामना करना पड़ा। उसके छोटे भाई जयसिंह ने भी विद्रोह किया। उसने जयसिंह को बनवासी का शासक नियुक्त कर दिया। ११२६ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

विक्रमादित्य षष्ठ का उत्तराधिकारी सोमेश्वर तृतीय भूलोक मल्ल (११२६-११३८ई०) था। वह 'मानसोल्लास' जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थ का प्रणेता था। उसका पुत्र जगदेक मल्ल द्वितीय (११३८-५१ई०) समर्थ व्यक्ति था। उसने होयसलों के प्रसार को रोका और जयकर्ण परमार पर आक्रमण कर मालवा का एक भाग हस्तगत कर लिया। अन्हिलवाड़ का शासक कुमारपाल मालवा में चालुक्य-हस्तक्षेप को सहन न कर सका। जगदेक मल्ल द्वितीय के शासन-काल में अक्क महादेवी का जन्म हुआ और इसी युग में उनका शारीरिक और मानसिक विकास भी हुआ। तैलप तृतीय (११५०-५६ई०) इस वंश का अन्तिम महान शासक था। तैलप तृतीय

---

१ एन०बी०कृष्ण राव : 'कर्नाटक इतिहास दर्शन', पृ०१०४।
२ डा० एच० तिप्पे रुद्र स्वामी : 'कर्नाटक संस्कृति समीक्षे', पृ०१०४
३ के०ए० पिल्लै : 'दक्षिण भारत का इतिहास', पृ०२०५

इन दुर्बल राजाओं की परम्परा के राज्य-काल में चालुक्य राज्य के क्रमिक विघटन का श्रीगणेश हुआ । ११५७ई० में कलचुरि राजा बिज्जल ने होयसलों को[1] पीछे धकेल कर अपने-आपको राजा घोषित कर कल्याण पर अधिकार कर लिया । बिज्जल कलचुरि जाति का था और अरमुण्डी तैलप का महादण्डनायक तथा महामण्डलेश्वर था । महात्मा बसवेश्वर बिज्जल के मुख्य मंत्री थे । बिज्जल के राज्य-काल में ही महात्मा बसवेश्वर व अक्क महादेवी आदि सन्तों ने वीर शैव मत का अभूतपूर्व प्रचार किया । इसके शासन-काल में अक्क महादेवी, संत बसवेश्वर के प्रभाव में आईं और अनुभव-मण्डप में आकर अपना मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास किया । इन्होंने वचनों की रचना करके संत बसवेश्वर के समाज और धर्म सुधार सम्बन्धी कार्यों में सहायता प्रदान की । अक्क महादेवी द्वारा कल्याण छोड़कर श्री शैल को चले जाने पर कलचुरि नरेश बिज्जल की मृत्यु हो जाती है ।

११८३ ई० में तैलप तृतीय के पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ ने कलचुरियों को पीछे हटा दिया । भिल्लम (११८४-९१ई०) के राज्यकाल में चालुक्य राज्य का उत्तरी भाग और कल्याण को अब यादवों के हवाले करके वहां से दक्षिण में बनवासी की ओर प्रस्थान किया । उसी समय बल्लाल द्वितीय के नेतृत्व में होयसलों ने अनेक युद्धों में चालुक्यों को परास्त किया और भिल्लम को मार डाला । काकतियों ने भी कुछ प्रदेश जीतकर चालुक्यों के विघटन की प्रक्रिया में योगदान दिया ।

कुक्केरी, मैदूर, हीरे हडली, बेम्मनूर, बीजापुर आदि अभिलेखों तथा विक्रमांक देव चरित, मानसोल्लास एवं अन्य ग्रन्थों द्वारा चालुक्य-कालीन संस्कृति तथा शासन पर प्रकाश पड़ता है । चालुक्य नरेशों का शासन पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों पर आधारित था । स्थानीय शासन-व्यवस्था पर इस युग में अधिक जोर दिया गया था ।

---

१ डा० एच०तिप्पे रुद्रस्वामी : 'कर्नाटक संस्कृति समीक्षा', पृ०१०५ ।

होयसलवंश

होयसल वंश यादवों की एक शाखा थी । उत्कीर्ण लेखों में इस वंश के राजा को यादव कुल तिलक कहा गया है । ये कांची के चोल राज्य और चालुक्य राज्य के सामन्त थे । इनकी राजधानी बेलूर(वेलापुर)में थी । ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य इस वंश के विनयादित्य और उसके पुत्र एरगंग ने चोल-चालुक्य-संघर्ष से लाभ उठाकर अपना राज्य कुछ और बढ़ाया । फिर भी ये चालुक्यों के सामन्त हो रहे । एरगंग(एरेयिंग) की प्रथम पत्नी एचल देवी से बल्लाल, बिट्टिग देव(बिट्टिदेव या विष्णु वर्द्धन) तथा उदयादित्य नामक तीन पुत्र हुए । एरेयिंग के मृत्युपरान्त बल्लाल प्रथम होयसल शासक हुआ । होयसल ने ११०१ से ११०४ई० तक राज्य किया । राज्य प्राप्त करने के पश्चात् उसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा । उसने छोटे-छोटे राज्यों पर विजय करके होयसल का विस्तार किया[1] । उसे युद्धों में अपने अनुज विष्णुवर्द्धन की निष्ठापूर्वक सहायता प्राप्त थी । उसने धारसमुद्र पर आक्रमण करके उसके शासक को पराजित कर दिया।

बल्लाल प्रथम के पश्चात् उसका अनुज विष्णुवर्द्धन अथवा बिट्टिदेव सिंहासनारूढ़ हुआ । सिंहासनासीन होते समय उसकी आयु केवल एकवर्ष की ही थी । वह बाल्यकाल में ही अपने भ्राता के साथ युद्धों में भाग लेता था, जिससे उसे सैनिक अनुभव प्राप्त हो गए थे[2] । उसने अपने पिता की साम्राज्यवादी नीति को अपनाये रखा तथा अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया और अपना गौरव बढ़ाया[3] । साम्राज्य के उदयोन्मुख काल में ऐसे शूर राजा का आगमन उस वंश का भाग्य था । उसने वेलापुर से हटकर धारसमुद्र(हालेबिड्) को अपनी राजधानी बनाया । उसने चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ पर आक्रमण करके अपने को पूर्ण स्वतन्त्र कर लिया । उसने चोल,पाण्ड्य, केरल,तुलुव (दक्षिण कर्नाटक), कदम्ब और गंग राजाओं को हराया और समस्त मैसूर पर अपना अधिकार स्थापित

---

१ डा० तिप्पे रुद्र स्वामी : `कर्नाटक संस्कृति समीक्षा`,पृ०१२८

२ डा० तिप्पेरुद्र स्वामी : `कर्नाटक संस्कृति समीक्षा`,पृ०१३०

३ वही

कर लिया । अपने पूर्वजों की तरह बिट्टिदेव शासन के प्रथम काल में जैन था और बाद में रामानुज के प्रभाव से वैष्णव हो गया । उसने बिट्टिदेव के स्थान पर विष्णुवर्द्धन नाम धारण कर लिया, किन्तु शासन-काल के अन्त तक जैन धर्म को सहायता प्रदान करता रहा और अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार करता रहा[1] । उसने कई सुन्दर प्रासादों और मन्दिरों का निर्माण करवाया । उसके सामने दो कार्यक्रम थे-- प्रथम राज्य का विस्तार करना और दूसरा विस्तृत राज्य को सुव्यवस्थित एवं सुसंस्कृत बनाने का प्रबन्ध करना[2] । विष्णुवर्द्धन की मृत्यु ११४१ ई० में हो गई ।

विष्णुवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् नरसिंह प्रथम होयसलों का राजा हुआ । अपने सिंहासनारोहण के समय नरसिंह प्रथम केवल आठ वर्ष का ही बालक था । उसके समय में चालुक्य सम्राट ने बनवासी तथा अ नोलम्बवाड़ी के प्रदेशों का शासन करने के लिए प्रान्तीय गवर्नर भी नियुक्त किए थे । इसी बीच कल्याण में कलचुरि के आधिपत्य के कारण चालुक्यों की शक्ति ह्रासोन्मुखी हो गई और राज्य में उथल-पुथल मच गई । अतएव नरसिंह प्रथम के सेनानायक 'बोकन' ने राज्यापहर्ता कलचुरि बिज्जल को पराजित कर दिया और उसने बनवासी तथा नोलम्बवाड़ी के प्रदेश छीन लिए । यौवनावस्था प्राप्त हो जाने पर नरसिंह प्रथम विलासी तथा कामुक हो गया । कहा जाता है कि उसका अन्तःपुर काफी विशाल और सुसज्जित था, जिसमें ३८४ स्त्रियां थीं । नरसिंह प्रथम में कोई सैनिक योग्यता अथवा शासन निपुणता न थी । उसके राज्य-काल में बोकन की सैनिक-सफलता के अतिरिक्त और कोई विशेष कार्य सम्पन्न नहीं किया गया । नरसिंह प्रथम हमारी आलोच्य कवयित्री अक्क महादेवी का समकालीन शासक था । नरसिंह प्रथम की मृत्यु ११७३ ई० में हो गई ।

नरसिंह प्रथम का पुत्र वीर बल्लाल प्रथम (११७३-१२२० ई०) एक योग्य और शक्तिशाली शासक प्रमाणित हुआ । उसने अपनी स्वतन्त्रता

---

१ एच०एस०कृष्ण स्वामी : 'कर्नाटक इतिहास मत्तु होय्सळर इतिहास' (१९७०), पृ० ३

२ डा० एस०श्रीकण्ठ स्वामी : 'कर्नाटक संस्कृति समीक्षे', पृ० १३०।

घोषित की और 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की । उसने अपने ४३ वर्ष के शासन-काल में होयसल वंश की राज्यशक्ति को खूब बढ़ाया । उसने बनवासी और नोलम्बवाड़ी के विजय कार्य को पूर्णरूपेण सम्पन्न किया तथा पाण्ड्यों का सफलता-पूर्वक दमन किया । कल्याण पर यादवों तथा काकतीयों को आक्रमणकारी के रूप में आता हुआ जानकर वीर बल्लाल भी अपनी सेना लेकर उस ओर बढ़ा और सोरब नामक स्थान के निकट युद्ध हुआ, जिसमें यादवनरेश भिल्लम पंचम को वीर बल्लाल के हाथों पराजय स्वीकार करनी पड़ी । ११९०ई० में लोक्कुन्डी के दुर्ग पर होयसलों का अधिकार हो गया तथा उसके अनन्तर चालुक्य सम्राट सोमेश्वर चतुर्थ को भी पराजित कर दिया गया । उसने वैष्णवों को राज्याश्रय प्रदान करने की नीति जारी रखी । उसके शासन-काल में होयसल वंश की गणना दक्षिण भारत के प्रमुख राजवंशों में होती थी ।

उसके पुत्र नरसिंह के समय यादव सिंहण ने होयसल शक्ति को कमजोर किया । नरसिंह के उत्तराधिकारी दुर्बल थे । इस वंश का अन्तिम शासक वीर बल्लाल तृतीय था । मलिक काफूर ने १३१०ई० में द्वारसमुद्र पर आक्रमण किया और इसके बाद होयसल राज्य की स्वतंत्र सत्ता नष्ट हो गई ।

कलचुरी वंश

इस वंश ने ई०सन् पांचवीं शताब्दी से ई०सन् १२वीं शताब्दी तक भारत के भिन्न-भिन्न भागों में शासन किया । कर्नाटक प्रदेश में प्रविष्ट होकर कलचुरियों ने तल्काडु (तर्दवाड़ि) और मंगलवाड़ (वर्तमान मंगल वेढे) नामक स्थानों में निवास किया । इस वंश के कन्नम द्वितीय ने अनेक युद्धों में चालुक्यों को सहयोग प्रदान किया और तर्दवाड़ि(बीजापुर के आस पास) के प्रदेश पर चालुक्यों के सामंत के रूप में शासन किया था । कलचुरी लोग वीर एवं साहसी होने के अतिरिक्त महत्वाकांक्षी भी थे । प्रारम्भ से ही कलचुरियों ने चालुक्य सम्राटों की अवज्ञा करके अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास किया । बिज्जल के पिता पेर्माडि के समय में कलचुरियों का यह प्रयास अत्यधिक तीव्र हो गया । चालुक्य नरेश सोमेश्वर तृतीय की निर्बलता मांडलिकों को उद्दंड बनाने में सहायक सिद्ध हुई । इस स्थिति का

लाभ उठाकर कलचुरी सामंत पेर्माडि ने अपनी शक्ति और ख्याति में वृद्धि की ।

बिज्जल पेम्माडि का योग्य पुत्र था । उसने अपने पिता
तैलप के शासन काल में बिज्जल प्रबल हो गया किन्तु
की नीति का पालन किया । वह तैलप के यहां आश्रित था । धीरे-धीरे तैलप के
जीवित रहने पर उसे बिज्जल ने राजा के रूप में स्वीकार किया । उसने स्वयं
'कालिंजर पुराधीश्वर', 'निश्शंक मल्ल', 'सुवर्ण वृषभ ध्वज' आदि उपाधियों को
धारण किया । कालान्तर में उसने शासन-सूत्र को प्राप्त कर लिया और वह
११५५ ई० में सर्वाधिकारी हो गया । बिज्जल का शासनकाल अत्यन्त अल्प होने
पर भी कर्नाटक के इतिहास में चिरस्मरणीय है[1] । साम्राज्य के विस्तार की
दृष्टि से महत्वपूर्ण घटनाएं इनके समय में नहीं घट सकीं[2] । महात्मा बसवेश्वर ने
बिज्जल के प्रारम्भिक काल से ही अपना जीवन एक सामान्य कराणिक के रूप में
प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे वह बिज्जल का कोषाध्यक्ष हो गया । आगे
चलकर बसवेश्वर दण्डनायक हुए तथा अन्त में मुख्य मंत्री के पद पर आसीन हुए[3] ।
राजकीय अधिकार प्राप्त करने वाले बसवेश्वर ने सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में
स्वतन्त्र विचार-क्रान्ति मचा दी । अक्क महादेवी बिज्जल के समय में ही अवतरित
हुईं और बसवेश्वर के प्रभाव से अनुभव-मण्डप की सदस्या बनीं ।

बिज्जल के सोमेश्वर, संगम, आहवमल्ल, सिंगण नाम के चार
पुत्र हुए । बिज्जल की मृत्यु(११६८ई०)[4] के पश्चात् राय मुरारी सोविदेव तथा
उसके बाद संगमदेव ने राज्य किया । ११६८ई० में सोमेश्वर कलचुरी नरेश हुआ ।
इसको सोविदेव के नाम से भी पुकारा जाता था । सम्राट् होने के पश्चात् उसने
'रायमुरारी' नामक उपाधि धारण की । इन्होंने ११७७ ई० तक शासन किया ।
इसके पश्चात् उसका भाई संगम शासक हुआ[5] । उसने ११८०ई० तक शासन किया और

---

१ डा० तिप्पे रुद्र स्वामी : 'कर्नाटक संस्कृति समीक्षा', पृ० २०६

२ डा० तिप्पे रुद्र स्वामी : 'कर्नाटक संस्कृति समीक्षा', पृ० २०६

३ वही, पृ० १२१

४ डा० [illegible] : 'द क्वार्टर्ली जर्नल आफ् [illegible] इण्डिया [illegible] धारवाड़, अंक ३([illegible]), 'मनोविज्ञान' शीर्षक, पृ० ५३।

५ वही

११८० ई० में बिज्जल का तृतीय पुत्र आहवमल्ल शासक हुआ । ११८४ ई० में आहवमल्ल के पश्चात् बिज्जल का अन्तिम पुत्र सिंगण शासक हुआ, किन्तु ११८३ ई० से ही कलचुरी वंश का विघटन प्रारम्भ होने लगा तथा चालुक्य-नरेश सोमेश्वर चतुर्थ ने इस वंश के अधिकांश प्रदेश पर अधिकार कर लिया और सिंगण के शासन-काल में ही इस वंश का पतन हो गया । ११९०ई० में सिंगण की मृत्यु हो गई ।

यादव वंश

चालुक्यों के पतन के बाद यादवों का उत्कर्ष हुआ । चालुक्य राजा सोमेश्वर चतुर्थ के शासन का देवगिरि वंश के भिल्लम द्वारा नाश हुआ[1] । इस वंश का प्रथम शासक भिल्लम चतुर्थ या पंचम था, जिसने चालुक्यों की दयनीय स्थिति से लाभ उठाकर सोमेश्वर चतुर्थ को परास्त कर कृष्णा के उत्तर सम्पूर्ण चालुक्य राज्य पर अधिकार कर लिया तथा देवगिरि में अपनी राजधानी बनाई,फिर भी यादव निर्द्वन्द्व होकर कर्नाटक पर शासन नहीं[2] कर सके । उनके प्रबल विरोधी बनकर दक्षिण में होयसलों ने सर उठाया । ये लोग वीर और युद्ध प्रिय थे । भिल्लम ने सम्राट की उपाधि धारण की । ११९१ई० में [illegible] के होयसलों के साथ उसका संघर्ष हुआ, जिसमें सम्भवतः वह वीर बल्लाळ के द्वारा पराजित हुआ और मारा गया । इस वंश के जैतुगि जैत्रपाल (११९१-१२१० ई०) सिंघण(१२१०-४७ई०) कृष्ण व रामचन्द्र,शंकरदेव आदि शासक हुए थे । अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने १३१२ई० में शंकरदेव को जान से मार डाला । रामचन्द्र के दामाद हरपाल ने फिर से स्वतंत्र होने का प्रयास किया, किन्तु उसे भी मार दिया गया । इस प्रकार यादव राज्य का दुःखद अन्त हुआ ।

अतः उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि अक्क महादेवीयुगीन कर्नाटक प्रदेश में राजनैतिक एकता का अभाव था । वही

---

१ डा० एच० तिप्पेरुद्र स्वामी : "कर्नाटक संस्कृति समीक्षे" ,पृ०१२६

२ वही

स्थिति समस्त भारत की थी । कर्नाटक प्रदेश में अक्क महादेवी के समय कल्याण में कलचुरी बिज्जल का शासन था । बिज्जल ने सन्त बसवेश्वर को अपना मुख्यमंत्री बनाया । इस युग में अनुभव-मण्डप की स्थापना से वीरशैव मत के प्रचार में सक्रिय योगदान मिला । अक्क महादेवी स्वयं वीरशैव थीं । इसी राजनैतिक पृष्ठभूमि में हमारी आलोच्या कवयित्री अक्क महादेवी का प्रादुर्भाव भारतीय राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षितिज पर एक देदीप्यमान नक्षत्र के समान हुआ ।

सामाजिक परिस्थिति

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । वह समाज में ही जन्म लेता है और समाज में रहकर अपना जीवनयापन करता है । अक्क महादेवी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को समझने के लिए अक्क महादेवीयुगीन सामाजिक परिस्थितियों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है । अक्क महादेवी का आविर्भाव १२ वीं शताब्दी के मध्य हुआ था । जब अक्क महादेवी का जन्म भारत-भूमि पर हुआ, उस समय भारत की राजनैतिक स्थिति शोचनीय थी । सम्पूर्ण देश में राजनैतिक एकता का अभाव था । देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था । उत्तर भारत में आए दिन मुसलमानों के आक्रमण होते रहते थे और भारतीय हिन्दू शासक (चौहान, परमार, चन्देल, चेदि आदि) आपसी कलह व एवं फूट के शिकार हो रहे थे । दक्षिण भारत में भी चोल, कदम्ब, राष्ट्रकूट, पल्लव, होयसल, चालुक्य, कलचुरि, चेर आदि राजवंशों के शासक अपने अस्तित्व को अंतिम सांसें ले रहे थे । किसी भी देश की राजकीय परिस्थिति का प्रभाव उस देश की सभ्यता व व तथा संस्कृति पर पड़ता है । १२ वीं शताब्दी तक सम्पूर्ण दक्षिणी भारत में उत्तर की आर्य संस्कृति का प्रचार हो गया था और इस युग के दक्षिण भारतीय समाज ने आर्य एवं द्रविड़ संस्कृति के समन्वय का दृश्य प्रस्तुत किया । अक्क महादेवीयुगीन समाज का चित्र साहित्यिक ग्रन्थों, कलात्मक भवनों, मंदिरों, विदेशी यात्रियों के विवरणों, शिला-लेखों आदि की सहायता से प्रस्तुत किया जा सकता है ।

वर्ण व्यवस्था

भारत में वैदिक युग से ही वर्णाश्रम व्यवस्था समाज की आधार-शिला मानी जाती थी । प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था लचीली थी, किन्तु समय के विकास के साथ भारत में फारसी, यूनानी, शक, कुषाण, हूण आदि जातियों के आक्रमण से वर्ण व्यवस्था कठोर हो गयी थी । महाभारत, भगवद्गीता तथा उपनिषदों ने वर्ण व्यवस्था में 'कर्म' को स्थान दिया । महाभारत ने 'आपद् कर्म' का व्यवस्था की है । स्मृतियों में चार प्रमुख वर्णों के साथ-साथ अनेक उपजातियों का उल्लेख होता है । अक्क महादेवी के समय में वर्ण व्यवस्था कठोर हो गयी थी । इस युग में समाज के ऊपर श्रुति-स्मृतियों का कठोर नियंत्रण शिथिल हो रहा था । सामान्य जनता के ऊपर वर्णाश्रम व्यवस्था का नियंत्रण प्रचुर रूप से था । सामाजिक आवश्यकताओं को देखकर मनीषियों ने नई स्मृतियों की रचना प्रारम्भ कर दी थी । समस्त भारत की ही भाँति अक्क महादेवी युगीन कर्नाटक प्रदेश चार प्रमुख वर्णों एवं कुछ अन्य जातियों में विभक्त था ।

स्त्रियों की दशा

स्त्रियां समाज की एक आवश्यक अंग होती हैं । स्त्रियों के बिना मानव जीवन अपूर्ण है । अक्क महादेवीयुगीन भारत में स्त्रियों की स्थिति वैदिककाल जैसी न थी । इस युग में स्त्रियों की दशा दिन-प्रति-दिन गिरने लगी थी । उधर भारत में आए दिन विदेशी आक्रमण होते रहते थे, जिससे जन-जीवन अत्यन्त अशान्त था । अशान्त अवस्था अवनति व एवं पतन की जननी होती है । भारत में विदेशी तत्वों के आ जाने के कारण स्त्रियों की स्वतन्त्रता को एक गहरा धक्का लगा । स्त्रियां अब प्राचीनकाल जैसी स्वतन्त्र नहीं रह सकती थीं । स्त्री-समाज में अब बाल-विवाह, सती, पर्दा आदि कुप्रथाएं प्रचलित हो गईं । स्मृति ग्रन्थों ने भी स्त्रियों की पवित्रता के लिए उनकी स्वतन्त्रता और शिक्षा पर रोक लगा दी । स्त्रियां कौमार्यावस्था में पिता,

विवाहितावस्था में पति और वैधव्य अवस्था में पुत्र पर आश्रित थीं, किन्तु इसके बावजूद स्त्रियों के लिए दान, आभूषण एवं उत्तम भोजन आदि की उचित व्यवस्था रहती थी । यदि पति प्रवास-काल में है तो उसे पत्नी के लिए रहन-सहन एवं खान-पान की व्यवस्था करनी पड़ती थी । शिला-लेखों से प्रतीत होता है कि बारहवीं शताब्दी में बहुपत्नीवाद की प्रथा प्रचलित थी । अक्क महादेवीकालीन चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य के ८ पत्नियों का उल्लेख मिलता है[१] ।

१२ वीं शताब्दी में स्त्रियों की सामान्य दशा पतनोन्मुख थी, किन्तु दक्षिण भारत में स्त्रियों की दशा उत्तर भारत की अपेक्षा कम शोचनीय थी । अक्क महादेवीयुगीन दक्षिण भारत में मुसलमानी तत्व प्रवेश नहीं कर पाए थे । इसके अतिरिक्त सन्त बसवेश्वर स्त्रियों की दशा में सुधार लाने के लिए प्रयास कर रहे थे । इस युग में स्त्रियों के दो वर्ग थे --(१)उच्च वर्ग, (२) सामान्य वर्ग । उच्च वर्ग में राजवंशों, सेनानायकों, जागीरदारों, सामन्तों, उच्च विद्वानों एवं धनिकों आदि के घरों की स्त्रियां थीं । इन स्त्रियों को समाज में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी । वे उच्च शिक्षा तथा प्रशासकीय शिक्षा, ग्रहण कर सकती थीं और संगीत आदि कलाओं में निपुण हो सकती थीं । इसके अतिरिक्त उच्च वर्ग की स्त्रियों द्वारा दान देने का उल्लेख भी शिला-लेखों में मिलता है । सामान्य वर्ग में सैनिकों, नागरिकों, ग्रामीणों एवं व्यापारियों इत्यादि वर्गों की स्त्रियां आती थीं । इन स्त्रियों को उच्चवर्गीय स्त्रियों की भांति पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त थी । इन स्त्रियों का जीवन-स्तर सामान्य था । इस वर्ग की स्त्रियां अधिकतर अशिक्षित ही रहती थीं । यदि पति-पत्नी के साथ दुर्व्यवहार करता था तो उसे राजा दण्डित करता था, किन्तु कुछ स्त्रियों ने सामान्य वर्ग की होते हुए भी समाज में उच्च स्थान प्राप्त किया है । इनमें अक्क महादेवी का नाम अग्रणी है ।

कन्नड़ प्रदेश में समाज के उत्थान में वहां की महिलाओं ने महत्वपूर्ण व योगदान किया है । उन्होंने अपने त्याग, सहिष्णुता, परिश्रम एवं

---

१ साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शन्स, वॉल्यूम १८, पृ०१०५ ।

विविध गतिविधियों से कर्नाटक का इतिहास उज्ज्वल बना दिया। कन्नड प्रदेश की महिलाओं की जीवन-परम्परा उदात्त थी।

१२ वीं शताब्दी में शिवशरणियों के संघ की स्थापना ने वीरशैव महिलाओं के लिए एक उज्ज्वल परम्परा प्रस्तुत की। स्त्रियों को सन्त बसवेश्वर द्वारा स्थापित अनुभव मण्डप जैसी उच्च आध्यात्मिक संस्था की गतिविधियों में भाग लेने का समान अधिकार प्राप्त था। स्त्रियों द्वारा रचित वचन वाङ्मय से कन्नड साहित्य समृद्ध हुआ।

विवाह-पद्धति

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में 'विवाह' एक आवश्यक संस्कार माना जाता है। बिना विवाह के मनुष्य यज्ञ के लिए पवित्र नहीं होता। यदि वह अविवाहित रहे तो वह यज्ञादि अनुष्ठान सम्पादित नहीं कर सकता है। अतः महादेवीयुगीन भारत में स्मृति-सम्मत एवं स्मृति से असम्मत दोनों विवाहों का उल्लेख मिलता है। ईसवी ९वीं शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक भारत में विदेशी तत्वों के आ जाने के कारण बाल-विवाह प्रचलित हो गया था। इस युग में विवाह की आयु आठ वर्ष तक निश्चित की गई थी। कन्या के बालिग बनने की आयु लगभग १० वर्ष समझ कर उससे पूर्व ही विवाह करने में हित समझते थे।

मुस्लिम काल में हिन्दू समाज संत्रस्त हो गया था। परनारी अपहरण से बचने के लिए तथा पतिव्रता कन्याओं की रक्षा के लिए बाल-विवाह का मार्ग उचित समझा जाता था। प्रथमतः विवाह की आयु १२ से १६ वर्ष तक थी। मुस्लिम आक्रमण के प्रभाव से यह आयु क्रमानुसार कम होकर ८ वर्ष हो गई। मुस्लिमों (मुसलमानों) के आगमन के पूर्व ही भारतीय समाज में बाल-विवाह प्रारम्भ हो गया था और धीरे-धीरे वह रूढ़ि बन गई थी। मुसलमानों के भारत में आने के बाद पुनः राजकीय एवं सामाजिक कारणों से

---

१ डा० नन्दी मठ : 'दी क्वाटरली जर्नल आफ दी आल इण्डिया वीरशैव महासभा', पृष्ठ-६२।

हिन्दू एवं मुसलमान अपनी कन्याओं का विवाह अतिशीघ्र करते थे[1]।

ऐसा स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि कर्नाटक प्रदेश में बाल-विवाह प्रचलित रहने पर उसका अतिरेक नहीं हुआ। विवाह होने वाले वर की आयु १२ वर्ष से १६ वर्ष तक होती थी[2]।

वेश-भूषा

अतः महादेवीयुगीन साहित्य एवं कला के अध्ययन से हम तत्कालीन वेश-भूषा के विषय में अवगत हो सकते हैं। बारहवीं शताब्दी में काश्मीर में कण्णा (बूटीदार पैजामा) प्रचलित था। दक्षिण में भी यह प्रथा उपयोग में लाई जाती थी, किन्तु यह शरीर से चिपकने वाले वस्त्र थे। इसके लिए ऊनी, रेशमी, मलमल आदि वस्त्रों का उपयोग किया जाता था। रंगीन वस्त्र भी पहिनने की प्रथा थी। मात्र गर्मी से बचने के लिए तत्कालीन लोग पैरों में चरणपादुका पहनते थे। सिर में रूमाल बांधते थे। त्योहारों में स्त्रियां घर पर विशेष प्रकार का वस्त्र धारण करती थीं, जो अब प्रचलित नहीं है।

गुप्तकाल से ही नारियां सिर पर साड़ी रखती थीं, ब्राह्मण चोटी रखते थे और अन्य लोग बाल का मुण्डन कर लेते थे। स्त्रियां वेणल(चोटियां) करती थीं तथा बालों को फूलों से अलंकृत करती थीं।

इस प्रकार वस्त्रों के सीधे-सादे एवं अल्पमात्रा में होते हुए भी आभूषण विविध-रूपों में प्रचुर मात्रा में पाए जाते थे। स्वर्ण तथा बहुमूल्य पत्थरों के आभूषण पहिनना शुभ समझते थे। स्त्रियां नख से शिख तक आभूषणों से लदी रहती थीं। कानों में कुण्डलियां, हाथों में कंगन तथा पांवों में पैजन (पायल) पहनती थीं। ऐसा कहा जाता है कि नाक में पहनने वाले आभूषणों का प्रचार मुसलमान काल से प्रारम्भ हुआ है। इस प्रकार

---

१ एस०के०मणि : 'भारतीय सामाजिक संस्थाएं', पृ०१२८-१३०।

२ 'कन्नड़ शासन का सांस्कृतिक अध्ययन', पृ०८९।

अक्क महादेवीयुगीन प्रत्येक भारतीय नारी एक प्रकार से 'ड्रेसिंग केस' होती थी। आंखों में अंजन(दीप का काजल), सिर पर सिन्दूर एवं मस्तक पर बिन्दी लगाती थीं। ओठ, अंगुलियां, नाखून, हथेली, चरण के आधार तक लाल लाक्षा(एक विशेष प्रकार का रंग) द्वारा अलंकृत किए जाते थे। कर्नाटक की स्त्रियां वेश-भूषा पर विशेष महत्व देती थीं। पुरुषों का पहनावा आडम्बर रहित होता था। धोती, कुर्ता तथा सर के लिए रुमाल ही उस काल के पुरुष वर्ग का पहनावा था, किन्तु स्त्रियों का पहनावा चित्ताकर्षक होता था। स्त्रियों के पहनावे पर कर भी लगाया जाता था[1]।

प्रसिद्ध समाज-सुधारक बसवेश्वर का योगदान

अक्क महादेवीयुगीन भारत में गीता का वाक्य-- 'जब-जब धर्म की हानि होती है और समाज में दुर्व्यवस्था फैलती है तो ईश्वर सुधारक का अवतार लेकर कष्ट-निवारण करता है--

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥--(४।७)

अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है। इस युग में प्रसिद्ध समाज-सुधारक संत बसवेश्वर का आविर्भाव हुआ। सन्त बसवेश्वर अक्क महादेवी के समकालीन थे तथा आयु में अक्का से १४ वर्ष बड़े थे। सन्त बसवेश्वर की विद्वत्ता व धर्म परायणता से प्रभावित होकर कलचुरि नरेश बिज्जल ने उन्हें अपने मन्त्रिमण्डल में स्थान दिया था। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि सन्त बसवेश्वर एक राजनैतिक व्यक्ति थे। सन्त बसवेश्वर जैसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति इतिहास में बहुत ही कम मिलते हैं। सन्त बसवेश्वर अपने कृतित्व के कारण प्राचीन भारत के महात्मा बुद्ध और आधुनिक भारत के गांधी के समकक्ष आते हैं। यहां पर उनके कार्यों तथा सुधारों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

---

1. एम०वी० कृष्णराव : 'कर्नाटक इतिहास दर्शन', पृ० ६०५

सन्त बसवेश्वर ने आधुनिक गांधी की भांति जाति-पांति के भेद-भाव को अस्वीकार किया। उस युग का समाज अन्याय और विषमता से युक्त था। सन्त जी ने प्राणीमात्र के लिए दया एवं समानता की आधार-शिला पर निर्मित समाज की स्थापना करने की योजना की। उन्होंने सर्व समानता के लिए एक देवत्व की नीति के मंत्र की घोषणा की।[1] 'षटस्थल ग्रन्थ' से पता चलता है कि सन्त बसवेश्वर ने बाह्य रूप में किए जाने वाले कर्म-काण्डों का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया है। यज्ञादि के लिए बलि देने वाले पशुओं एवं मानव के विषय में बसवेश्वर आदि सन्त दुःखी हुए तथा इस प्रथा का विरोध किया। मन की वेदना कभी-कभी उद्विग्न होकर गहन रूप में प्रस्फुटित हुई है। समाज को सुदृढ़ बनाने के लिए एकसूत्रता का अभाव था। सन्त बसवेश्वर का विचार था कि बहुदेव उपासना द्वारा समाज छिन्न-भिन्न हो जाया करता है। पत्थर एवं मिट्टी आदि की उपासना का सन्त बसवेश्वर ने अपार धैर्य के साथ खण्डन किया है।[2] संगम साहित्य में वर्णित है कि कर्नाटक के संतों का मार्ग नये समाज के लिए अनुकरणीय है। उस मार्ग में नवीनता, धैर्य, आकर्षण, गंभीरता एवं व्यावहारिक प्रयोग की सफलता आदि अनेक विशेषताएं थीं। सन्तों के पथ ने जनता में नई ज्योति एवं नई स्फूर्ति का संचार कर उन्हें सत्कार्य हेतु प्रेरित किया।

सन्त बसवेश्वर का विचार था कि दूसरों का मन दुखाकर दूसरों का घर उजाड़ कर, गंगा नदी में स्नान करने से क्या लाभ? शिव-भक्तों की वेदना ही लिंग की वेदना है। आचरण न करके लिंग-पूजा करने से

---

1 डा० मुगली : 'कन्नड साहित्य इतिहास', पृ०८२

2 डा०आर०सी० हिरेमठ : 'षटस्थल प्रयोग', पृ०१७७।

क्या लाभ ? न खाने[1] वाले लिंग को भोग चढ़ा कर, खाने वाले जीव को भूखा रखने से क्या लाभ ? सन्त बसवेश्वर ने निम्न वर्ग के लोगों के उत्थान के लिए अथक परिश्रम किया । उनकी प्रेरणा से उच्च श्रेणी द्वारा वंचित निम्न लोग भी साधक बनकर, सन्त बनकर तथा सिद्ध पुरुष बनकर मानवता के परम उच्च शिखर को प्राप्त हुए हैं[2]। उन्होंने जनवाणी को ही देववाणी बनाने की क्रान्ति की । वह कर्म को ही स्वर्ग बनाना चाहते थे । बसवेश्वर की क्रान्ति दीन-दलितों की उन्नति से सम्बन्धित थी । उनका मुख्य उद्देश्य था, उच्च वर्ग द्वारा तिरस्कृत निम्न वर्गों के लोगों को ऊपर उठाना । उनकी क्रान्ति द्वारा कर्नाटक में अभूतपूर्व उन्नति हुई । आध्यात्मिक अनुभव की अभिव्यक्ति में संतों ने अद्भुत कार्य किए । उन्होंने जीवन की अनेक समस्याओं के समाधान का हल ढूंढने का भरसक प्रयास किया । इस प्रकार उस युग में अनेक संतों ने आध्यात्मिक एवं सामाजिक-सुधार में अवर्णनीय सहयोग दिया । सन्त बसवेश्वर का विचार था कि प्रत्येक मानव के हृदय में ईश्वर का अंश रहता है । उनके वचनों से विश्व-मानव-कल्याण का बोध होता है ।

सन्त बसवेश्वर के समाज में वर्ण-भेद नहीं था । जाति पद्धति नहीं थी । उनके समाज की रचना, नीति, धर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि तत्वों के आधार पर हुई थी । इस प्रकार के समाज ने जन-मानस को आकर्षित किया । युगपुरुष बसवेश्वर समस्त मानव जाति से आत्मीयता व एवं प्रेम रखते थे ।

उपर्युक्त विवरण से सन्त बसवेश्वर की बहुमुखी प्रतिभा पर प्रकाश पड़ता है । सन्त बसवेश्वर तथा उनकी परम्परा के अन्य सन्त समस्त हिन्दू समाज में क्रान्तिकारी सुधार लाना चाहते थे और इसके लिए इन लोगों ने अथक परिश्रम भी किया । सन्त बसवेश्वर के इस प्रयास में आधुनिक

---

[1] "शरण चरितामृत-शिवमूर्ति शास्त्री", पृष्ठ ।

[2] वही, पृ०६

युग के समाजवाद के तत्व परिलक्षित होते हैं। इस दृष्टि से सन्त बसवेश्वर प्राचीन होते हुए भी आधुनिक हैं। जिस प्रकार एक चित्रकार एक साधारण पत्थर पर अपनी भावनाओं एवं अनुभवों की अभिव्यक्ति करके प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार सन्त बसवेश्वर आदि ने भिन्न-भिन्न संस्कृति एवं विचारों से ओत-प्रोत भारतीय समाज में एक आदर्श समाज की कल्पना की थी। सौभाग्य की बात है कि सन्त बसवेश्वर के सुधारों की पृष्ठभूमि में हमारी आलोच्या कवयित्री अक्क महादेवी का साहित्यिक एवं मानसिक विकास हुआ। ठीक ही तो कहा गया है कि व्यक्तित्व पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है और अक्क महादेवी के व्यक्तित्व में यह बात अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है।

आर्थिक परिस्थिति

प्राचीनकाल से ही भारत अपनी आर्थिक सम्पन्नता एवं वैभव के लिए सम्पूर्ण जगत् में प्रसिद्ध रहा है। पाश्चात्य देशवासियों ने भारत की आर्थिक सम्पन्नता से प्रभावित होकर इसे 'स्वर्ण-विहग' की संज्ञा दी थी। किसी भी देश के समाज की आधार-शिला उस देश की आर्थिक-सम्पन्नता होती है। यदि कोई भी देश आर्थिक रूप से सम्पन्न रहता है तो वह देश मानव-जीवन के प्रत्येक पहलुओं में उत्थान करता रहता है। अक्क महादेवी के युग को समझने के लिए तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों का एक वैशिष्ट्य मूल्यांकन करना नितान्त आवश्यक है। युग की राजनीति का आर्थिक परिस्थिति पर और आर्थिक परिस्थिति का सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थिति पर प्रभाव पड़ता है। अक्क महादेवीकालीन भारत में हम राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से विशृंखलता का ही वातावरण पाते हैं। सम्पूर्ण उत्तर भारत में आए दिन बाह्य आक्रमण हो रहे थे और मुस्लिम आक्रमणकारी भारत को आर्थिक रूप से कमज़ोर बना रहे थे। वे भारत की सम्पत्ति को लूटकर अपने देश ले जा रहे थे। उत्तर भारत की इस राजनैतिक और आर्थिक परिस्थिति का प्रभाव दक्षिण भारत पर भी पड़ा। दक्षिण भारत प्राचीनकाल से सम्पन्नता का

स्थान कहा गया है, किन्तु वहाँ भी राजनैतिक एकता के अभाव के कारण कोई ठोस कार्य नहीं हो रहे थे। एक राजवंश दूसरे राजवंश के पतन पर ही प्रसन्न रहता था। एकता, बन्धुत्व तथा सह-अस्तित्व के सिद्धान्तों का पोषण असम्भव-सा हो गया था। आर्थिक रूप से सम्पन्न होने पर भी सामान्य जनता में राजनैतिक कलह के कारण सुख का अभाव-सा था। कर्नाटक प्रदेश में भी राजवंश बदल रहे थे। राजाओं का कार्य-क्षेत्र सीमित हो गया था। सामन्तवादी प्रथा का विकास तीव्रगति से हो रहा था। ऐसी परिस्थिति में बसवेश्वर आदि सन्तों ने अनेक आर्थिक सुधार किए। इस आर्थिक पृष्ठभूमि में प्रसिद्ध कवयित्री अक्क महादेवी का आविर्भाव हुआ और उन्होंने सन्त बसवेश्वर के अनुभव-मण्डप में प्रवेश कर वीरशैव सन्तों के आर्थिक सुधार-कार्य को सफल बना दिया।

आर्थिक सम्पन्नता तथा वैभव के लिए कर्नाटक राज्य प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध रहा है, क्योंकि व्यापार के क्षेत्र में यह राज्य अपने समकालीन समस्त राज्यों से आगे था। चित्र दुर्ग जिले में द्वितीय शताब्दी के मध्यका चीनी साम्राज्य का एक स्वर्ण सिक्का प्राप्त हुआ है। इससे यह स्पष्ट रूप में अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीनकाल में कर्नाटक राज्य का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध रहा है। अक्क महादेवी कालीन आर्थिक व्यवस्था का विवरण प्राचीन ग्रन्थों, शिला-लेखों, दान-पत्रों आदि शासन-लेखों के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है।

बसवेश्वर के आर्थिक-सुधार

सन्त बसवेश्वर एक युगपुरुष थे। उन्होंने बहुमुखी सुधार किए। आर्थिक स्थिति सम्बन्धी उनके सुधार-कार्य अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यहाँ पर उनके आर्थिक सुधारों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। बसवेश्वर के अहिंसावाद का प्रभाव उनकी आर्थिक योजना में भी प्रस्फुटित हुआ। विभिन्न उद्योग-धन्धों द्वारा जनता का कल्याण ही उनकी आर्थिक योजना का चरम लक्ष्य था। प्रगतिशील विचार तत्वों से उन्होंने समाज का निर्माण किया। उन्होंने उद्योग से सम्बन्धित ऊँच-नीच की समस्या को

सरलता से हल किया । सभी उद्योगों को महत्व देने से समाज में विधायक शक्ति का विकास हुआ । अहिंसात्मक कर्म तत्व बसवेश्वर की आर्थिक योजना के आधार-शिला थे । इस योजना के अनुसार जातीयता की भयानकता को मिटाने में उन्हें सफलता मिली ।

मोची, धोबी, नाई, भंगी, तेली, रंगसाज आदि कर्मिकों के प्रति समाज के उच्च वर्गों के लोग उचित भावना नहीं रखते थे[१]। इस कारण इनसे सम्बन्धित उद्योगों का विकास नहीं हो सका । फलस्वरूप वे हीन स्थिति को प्राप्त हुए । यहां तक कि उपर्युक्त कुछ उद्योगों को अपनाने वाले लोग निम्न जाति की श्रेणी में रखे जाते थे । उनके साथ भोजन तथा विवाह सम्बन्ध भी बन्द हो गया था । फलस्वरूप समाज में बन्धु-प्रेम, एकता, समानता का नैतिक अध:पतन हुआ । बसवेश्वर ने अपनी आर्थिक योजना द्वारा औद्योगिक अवनति को दूर किया ।

उद्योगों को अपनाने वाले लोग ही महान है, उद्योग न करने वाले ही परावलम्बी एवं निम्न हैं । भिक्षुक एवं संन्यासी श्रेष्ठ नहीं हैं । स्वावलम्बी ही श्रेष्ठ है । इस प्रकार समाज में प्रामाणिकता, परिश्रम, स्वावलम्बन, समानता, बन्धुभाव आदि गुण श्रेष्ठ हैं । यही बसवेश्वर के सिद्धांत-तत्व है[२]।

गुरु के होने पर भी 'कर्म' से ही मुक्ति मिलती है, क्योंकि कर्म के अभाव में गुरु से भी मुक्ति नहीं मिल सकता । कर्म ही स्वर्ग है । स्वर्ग अलग नहीं है । उद्योग में ही स्वर्ग है अर्थात् पारमार्थिक शान्ति है[३]।

बसवेश्वर ने जनता को उद्योग अपनाने में स्वतन्त्रता प्रदान किया थी । उदाहरणस्वरूप मोळिगे मारय्या लकड़ी बेचता था, नुलि चन्दय्या रस्सी तैयार करता था, हडपद अप्पण्णा नाई का काम करता था,

---

१ शिवानुभव संपुट २३, पंक्ति ४ शीर्षक—'बसवण्णनवर क्रांति कारक कार्यगळु' पृ०१२५

२ वही, पृ०१२६

३ वही, पृ०१२७

मडिवाळ माचय्या धोबी, हरळय्या मोची, ककय्या ढोर, रामण्णा पशु-पालन का कार्य करता था। केतय्या टोकरी बुनता था। संगण्णा वैद्य-कार्य करता था। रामय्या दर्जी का काम करता था। मुद्दया कृषि-कार्य करता था। इस प्रकार अनेक सन्तों ने विविध उद्योग अपनाए थे। वे सभी बसवेश्वर के लिए पूज्य थे[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि महात्मा गांधी के ग्रामोद्योग संघ की आधार-शिला में बसवेश्वर के कर्म तत्व ही समाहित हैं।

बसवेश्वर की आर्थिक योजना से जनता में शान्ति-पूर्ण क्रान्ति हुई। जन-जीवन का कल्याण हुआ। ऊंच-नीच, एवं जातीयता के भेद-भाव को छोड़कर सभी कार्य करने के कारण वे आत्मोन्नति के साधक बने। प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्ति का सदुपयोग करके नीति पर चलने के लिए अवसर प्राप्त हुआ। समानता एवं बन्धुभाव का विकास हुआ। उद्योगों का विकास होकर सम्पत्ति समाज में केन्द्रित नहीं हुई। अपितु धन का वितरण समानरूपसे हुआ। व्यक्ति का हित एवं समाज का कल्याण एक ही समय में साध्य हुआ। संग्रह प्रवृत्तियां संघर्ष का मूल कारण नहीं रहीं। जन-जीवन में नागरिकता का संचार तथा संस्कृति का विकास हुआ, जिससे आध्यात्मिक एवं साहित्यिक अभ्युदय हुआ। सामाजिक कल्याण की दृष्टि को बल मिला[2]।

इस प्रकार [illegible]युगीन कर्नाटक प्रदेश में आर्थिक शोषण का अभाव था। कर्नाटक प्रदेश में व्याप्त आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए तत्कालीन वीरशैव सन्त बसवेश्वर के नेतृत्व में प्रयत्नरत थे। बसवेश्वर ने 'कर्म' पर ज़ोर दिया और उनके आर्थिक सुधार व आर्थिक सिद्धान्तों में आधुनिक युग के समाजवाद एवं गांधीवाद के तत्वों की झलक मिलती है।

---

१ शिवानुभव संपुट २३, संचिके ४, डॉ० [illegible] — 'बसवण्णनवर क्रांति कारक कार्यगळु' पृ० १२० ।

२ वही, पृ० ८८ ।

धार्मिक परिस्थिति

प्राचीनकाल से ही मानव-जीवन धर्म से अनुप्राणित है। प्राचीनकाल में मानव अपने प्रत्येक क्रिया-कलापों को धार्मिक प्रवृत्ति से ही सम्पादित करता था। भारत एक प्राचीन, विशाल एवं धर्मप्रधान देश है। अतः मध्ययुगीन भारत धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस युग में कन्याकुमारी से हिमालय तक सहस्रों साधु-सन्तों, मनीषियों, एवं धर्म-प्रवर्तकों ने भारत की भाव-भूमि में भक्ति की गंगा को प्रवाहित किया। धर्म के क्षेत्र में कर्नाटक का योगदान भी महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय रहा है। समस्त भारत ही नहीं, अपितु विश्व को वेदान्त एवं तत्वज्ञान का सन्देश देने वाले श्री शंकराचार्य एवं रामानुज का कर्म-क्षेत्र कर्नाटक ही रहा। मध्वाचार्य आदि महान आचार्य एवं वीरशैव धर्मोद्धारक महात्मा बसवेश्वर आदि सन्त कर्नाटक की ही देन हैं।

१२ वीं शताब्दी का हिन्दू समाज विभिन्न धर्मों एवं धार्मिक सम्प्रदायों तथा पंथों के अन्तःकलह के कारण असन्तुष्ट था। इस युग में ब्राह्मण धर्म के पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप बौद्ध एवं जैन जैसे नास्तिक धर्म पतनोन्मुख हो चले थे। अहिंसा-प्रधान जैन मत कुछ काल तक विकसित होने पर भी वैदिक धर्म का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी न बन सका। ज्ञान प्रधान बौद्ध धर्म का प्रचार विदेशों में अत्यधिक तीव्रगति से हो रहा था, जब कि अपने ही जन्मस्थान में बौद्ध धर्म का पतन हो गया। जैन और बौद्ध मत हिन्दू धर्म की कुछ त्रुटियों को दूर करने पर भी व्यापक तथा धार्मिक सम्प्रदाय नहीं बन सके।

राजकीय क्षेत्र की ही भांति १२ वीं शताब्दी में धार्मिक क्षेत्र में भी अस्थिरता बनी रही। इस युग में बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, वीरशैव आदि प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय थे। इसके साथ-ही-साथ अनेक अनीश्वर रूढ़ियां एवं परम्परायें प्रचलित थीं। इन धार्मिक सम्प्रदायों में स्वविकास एवं स्व-अस्तित्व के लिए होड़-सी लगी हुई थी। ऐसी परिस्थिति में अनेक मतों के उत्कृष्ट अंशों का समन्वय करके जनता को नया समन्वित धर्म प्रदान करना परमावश्यक-सा हो गया था।

ऐसी पृष्ठभूमि में कर्नाटक के धार्मिक क्षितिज पर एक ऐसे देदीप्यमान नक्षत्र का अभ्युदय हुआ, जिसने अपने अलौकिक प्रकाश-पुंज से धर्म के बुझते दीप को पुनः जलाया तथा दिव्य प्रकाश से देदीप्यमान किया। वह व्यक्ति प्रसिद्ध समाज-सुधारक एवं धर्मोद्धारक सन्त बसवेश्वर थे। बसवेश्वर एवं उनकी परम्परा के सन्तों ने वर्णाश्रम धर्म के बन्धन से निर्लिप्त वीरशैव मत को पुनरुज्जीवित करके समान भाव से पूर्ण उन्नत सामाजिक नीति का प्रतिपादन किया। इस युग के धार्मिक महापुरुषों में भक्ति के अग्रदूत संत बसवेश्वर के अतिरिक्त, आत्म-ज्ञानी अल्लमप्रभु, ज्ञान-योगी चेन्न बसवण्णा, कर्मयोगी सिद्ध रामय्या, शरण-सती लिंगपति तथा अक्क महादेवी आदि सन्त प्रसिद्ध हैं। सामान्यतः वीरशैव धर्म सन्त बसवेश्वर की क्रान्ति से जन सामान्य की निधि बन गया। यह धार्मिक क्रान्ति कल्याण नगर में व्याप्त होने के साथ-ही-साथ आन्ध्र प्रदेश एवं उत्तरभारत में भी प्रचलित हुई। इस प्रकार यह धार्मिक क्रान्ति वाद-विवाद तथा मतभेदों के होने पर भी सहिष्णुता एवं समन्वय की दृष्टि से जनता में व्याप्त थी। अक्क महादेवीकालीन धार्मिक परिस्थिति को समझने के लिए जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, व वीरशैव आदि धार्मिक सम्प्रदायों पर विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

बौद्ध धर्म

६ वीं शताब्दी ई०पू० में उत्तर भारत में वैदिक धर्म एवं कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया में धर्म-प्रवर्तक महात्मा गौतम ने बौद्ध धर्म की स्थापना की। समय के विकास के साथ एवं राजकीय प्रश्रय के कारण सम्पूर्ण भारत में बौद्ध धर्म व्याप्त हो गया और प्रथम शताब्दी ई० में तो कुषाण सम्राट कनिष्क तथा अन्य बौद्ध-भिक्षुओं के प्रयास से विदेशों में भी प्रसारित होने लगा। कर्नाटक प्रदेश भी बौद्ध धर्म के प्रभाव से मुक्त न रह सका। तृतीय शताब्दी ई०पू० के धार्मिक सम्राट अशोक द्वारा कर्नाटक प्रदेश में बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु बौद्ध-भिक्षुओं का भेजा जाना बौद्ध-ग्रन्थों में उल्लिखित है।[१] ह्वेनत्सांग

१ सूर्यनाथ कृष्णराव, डी०लिट्०, एम०आर०ए०एस० : कर्नाटक इतिहास दर्शन पृ० ८।

के विवरणों से पता चलता है कि ७वीं शताब्दी में बनवासी में एक सौ संघाराम थे और १० हजार भिक्षु थे। वे हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों का अनुकरण करते थे। बनवासी पश्चिमी कर्नाटक के बौद्धों का केन्द्र था[१]। ई०सन् ११०४ के एक शिला-लेख में गुलगुंद के वीर नारायण स्वामी के उत्तराधिकारी सन्यासी को 'बुद्ध महेश पंचानन' के नाम से पुकारा गया है[२]। लेख में शंकर के देवालय के साथ-साथ बुद्ध के भी मन्दिर होने का संकेत मिलता है[३]। १२ वीं शताब्दी के होयसल मन्दिरों में बुद्ध की मूर्तियां प्राप्त होती हैं[४]। एक शिला-लेख से ई०सन्११६६ में जिला बीजापुर हुण्ड तहसील के निकिन्डी ग्राम में बुद्धालय एवं बौद्ध संघ का पता चलता है[५]। बदरि बेट्ट (पहाड़) की गुफाएं बौद्ध-विहार का स्मरण दिलाती हैं[६]। तीसरी शताब्दी से लेकर १२ वीं शताब्दी तक प्राचीन मैसूर के मध्य एवं दक्षिणी भाग को छोड़कर सम्पूर्ण कर्नाटक प्रान्त में बौद्ध धर्म के प्रचलित होने का प्रमाण प्राप्त होता है, किन्तु इस क्षेत्र में वह प्रबल धर्म नहीं था[७]।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म अन्य धर्मों की तुलना में तिरस्कृत नहीं था, बल्कि अन्य धर्मों के समानान्तर उसका भी एक अस्तित्व था, भले ही वह न्यून क्रम में क्यों न रहा हो।

जैन धर्म

बौद्ध धर्म की ही भांति ६ वीं शताब्दी ई०पू० में वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही जैन धर्म का आविर्भाव हुआ।

---

१ 'कन्नड शासनगळ सांस्कृतिक अध्ययन', पृ०११४
२ वही, पृ०११८
३ 'इण्डियन एण्टिक्वेरी', संपुट १४, पृ०१५, ११२४-११२५ई०
४ 'मैसूर आर्कोलॉजिकल रिपोर्ट', (१९२३), पृ०७८।
५ 'कन्नड नाडिन केलवु शासन कविगळु मैलारि मल्लारि', पृ०९९
६ 'कन्नड शासन गळ सांस्कृतिक अध्ययन', पृ०११८
७ वही, पृ०११०।

बौद्ध धर्म के साथ-ही-साथ जैन धर्म का विकास सम्पूर्ण भारत में हुआ। कर्नाटक प्रदेश इस नियम का अपवाद न रह सका। दक्षिण भारतीय जैन धर्म का इतिहास कर्नाटक के जैन धर्म का ही इतिहास प्रतीत होता है। प्राचीन कर्नाटक में जैन धर्म एक प्रबल धर्म माना जाता था। जैन धर्म को जनप्रिय बनाने में कवियों ने कन्नड भाषा में काव्य-रचना की और संस्कृत-ग्रन्थों पर टीकाएं लिखीं[1]।

कर्नाटक प्रदेश में गंग वंश के नरेशों(२००ई०-१२००ई०) द्वारा प्रश्रय प्राप्त होने पर जैन धर्म का समुचित विकास हुआ। राष्ट्रकूट नरेशों ने भी जैन धर्म को स्वीकार किया और जैन-ग्रन्थों की रचना की। जैन मुनि के वरदान से होयसलों के राज्यप्राप्ति करने की जनश्रुति है। कदम्ब एवं चालुक्य राजाओं ने जैनेतर मतावलम्बी होते हुए भी जैन धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाई और अनेक प्रकार से सहायता करके इसे प्रोत्साहित किया। इस प्रकार तलकाड़ के गंग, मान्यखेड़ के राष्ट्रकूट एवं हळेबीड़ के होयसल आदि राजवंशों ने जैन मत को राजकीय प्रश्रय प्रदान किया[2]।

दसवीं शताब्दी तक जैन मत का काल दक्षिण भारत में जैन धर्म की समृद्धि का काल था। इस युग तक सभी धर्मों ने पारस्परिक कलह एवं संघर्ष रहित होकर अपना-अपना विकास किया। डा०सालेतुर के अनुसार ई०सन् ७ वीं शताब्दी से कई शताब्दी तक अनेक प्रबल एवं प्रतिष्ठित राजवंशों पर जैन धर्म ने नियन्त्रण किया[3]। १२ वीं शताब्दी में कर्नाटक में शैव मत का अधिकाधिक प्रचार हुआ। वैष्णव एवं वीरशैव धर्मों की प्रबलता से जैन धर्म अवनत हुआ। जैन एवं शैव धर्मों के संघर्ष के फलस्वरूप अनेक जैन बसदियां(मन्दिर) शैव देवालय में परिवर्तित हुईं[4]। शैव मत के साथ जैन मतावलम्बियों का संघर्ष भी

---

१ "कन्नड शासनगळ सांस्कृतिक अध्ययन",पृ०६७

२ "कन्नड साहित्य चरिते",भाग२,पृ०२६३

३ "मेडिएवल जैनिज्म",पृ०६

४ "कन्नड शासनगळ सांस्कृतिक अध्ययन",पृ०१०५।

प्रकार का था --(१) राज-दरबारों और सभामण्डपों में विद्वत्ता के स्तर पर संघर्ष, (२) जन-सामान्य के स्तर पर संघर्ष ।

बारहवीं शताब्दी में जैनियों का प्रभाव धीरे-धीरे कम होने लगा, किन्तु जैनियों की कन्नड़ संस्कृति की देन अक्षुण्ण रही । कन्नड़ साहित्य के जैनकाल में अनेक अमूल्य कृतियों की रचना करने वाले जैन ही थे । जैन धर्म की अवनति के चिन्ह १२ वीं शताब्दी के मध्य से ही परिलक्षित होते हैं ।

वैष्णव धर्म

अतः महावैष्णवीकुल में वैष्णव(भागवत) मत की रक्षा का भार सबल प्रखर रामानुज ने उठाया[१]। रामानुज ने वैष्णव संप्रदाय को पूर्ण परिपक्वता प्रदान की[२]। रामानुज के अनुयायियों को भी वैष्णव के नाम से ही अभिहित किया जाता है । १२ वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य ने कर्नाटक प्रदेश में आकर महाराजा विष्णुवर्द्धन के प्रोत्साहन पर वैष्णव धर्म का प्रचार किया । किन्तु उनके कर्नाटक प्रदेश में पदार्पण के पूर्व तमिल प्रदेश के आळ्वार के वैष्णव धर्म का प्रभाव कर्नाटक पर था । इन वर्णनों की पुष्टि शिला-लेखों द्वारा होती है । रामानुज के समय में तमिल प्रदेश के चोल-शासकों ने जैन मत को प्रश्रय दिया था । अतः रामानुजाचार्य को वैष्णव मत के प्रचार मार्ग में अनेक संकटों, विपदाओं एवं विघ्नों का सामना करना पड़ा । चोल शासक रामानुज को नीचा दिखाना चाहता था, जैसा कि शिला-लेखों में वर्णित एक घटना से पता चलता है । एक बार चोल-नरेश ने रामानुज को अपने दरबार में बुलाकर उनके मुख से शिव को श्रेष्ठ कहलवाना चाहा, किन्तु राजा के बुरे उद्देश्य को जानकर रामानुज की शिष्य कुरेश स्वयं को रामानुज बताकर राज-दरबार में गया । गुरु-भक्ति से विह्वल होकर कुरेश ने दरबार

----

१ 'कन्नड़ वाङ्मय सांस्कृतिक अध्ययन', पृ०१६२ ।

२ रामकृष्ण स्वामी आयंगार : 'कन्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इण्डिया टु इण्डियन कल्चर', पृ०२८५।

में शिव की श्रेष्ठता स्वीकार न की और परिणामत: राजाज्ञा से उसे दोनों आंखों से वंचित होना पड़ा। जब इस वृत्तान्त का पता रामानुज को चला तो उन्होंने चुपचाप चोल प्रदेश को त्याग कर होयसल प्रदेश में प्रवेश किया। होयसल प्रदेश के शासक बिट्ठल देव राय(बिट्टिदेव) ने शैव धर्म को त्याग कर वैष्णव धर्म को अपना लिया तथा उनकी धर्मपत्नी शांतले देवी ने भी वैष्णव धर्म में दीक्षा स्वीकार कर ली[1]। डा० श्री नीलकण्ठ का अभिमत है कि रामानुज वैष्णवधर्म के प्रचार के उद्देश्य मात्र से कर्नाटक में पधारे थे[2]। वैष्णव धर्म की स्वीकृति के पश्चात् होयसल-नरेश विष्णुवर्द्धन एवं शान्तले ने बेलूर के चेन्न केशव देवालय को बनवाया[3]।

रामानुज मेलकोटि में १४ वर्ष तक रहे। वहां नारायण देवस्थान को बनवाकर रामप्रिय नामक विग्रह स्थापित किया। रामानुज ने हरिजन लोगों के विषय में अपार करुणा दिखाकर उन्हीं को अपना धर्मोपदेश सुनने के लिए अवसर प्रदान किया। इस समय चोल धर्मांध शासक की मृत्यु हो गई और अनुकूल परिस्थिति देखकर रामानुज ने श्रीरंग वापस आ जाकर हजारों शिष्यों को ज्ञान देकर ई०सन् ११३७ में विष्णु धाम को प्राप्त किया[4]।

वहां पर विष्णुवर्द्धन एवं शान्तले की धार्मिक प्रवृत्ति का उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। शान्तले पार्वती की सदा उपासना करती थीं[5]। उनके पिता मारसिंगय्या हरि-भक्त थे[6]। उनकी माता माचिकब्बे जैन -भक्त थीं[7]। शान्तले द्वारा शिव गंगे तीर्थ में 'मुड़ुपि' (अर्थात् सन्यास विधि से मृत्यु प्राप्त करने पर) उनके नाम पर शान्तलेश्वर नामक शिव देवस्थान उनकी माता ने

---

१ 'मैसूर एण्ड कुर्ग फ्रॉम इंस्क्रिप्शन्स', पृ०२०७।
२ नीलकण्ठशास्त्री : 'भारतीय संस्कृति', पृ०१४२।
३ 'कन्नड शासन मद्द सांस्कृतिक अध्ययन', पृ०१४७।
४ वही, पृ०१४८।
५ 'ईपि ग्रैफिया कर्नाटिका', वॉल्यूम५, एस०बी०११६(११२३ई०)।
६ वही, वॉल्यूम २, १४३, ११३१ई०।
७ वही

बनवाया[1]। उसके पश्चात् उनकी माता ने श्रवण बेलगोल जाकर सन्यास -विधि से प्राण त्याग किया[2]। उनके पति विष्णुवर्द्धन परम वैष्णव थे। इस प्रकार शान्तले शैव, वैष्णव और जैन सम्प्रदाय की त्रिवेणी थी। यद्यपि विष्णुवर्द्धन ने सभी धर्मों के प्रति समान गौरव व्यक्त किया, किन्तु वैष्णव धर्म की ओर उनका झुकाव अत्यधिक रहा। जैसा कि कहा गया है कि उनकी पत्नी शैव धर्मावलम्बिनी थीं, इससे प्रतीत होता है कि विष्णुवर्द्धन की धार्मिक नीति उदारता एवं सहिष्णुता की थी। कर्नाटक में सहिष्णुता एवं समन्वयवादिता का उल्लेख काव्यों एवं शिला-लेखों में भी हुआ है। प्राचीन कर्नाटक में एक ही घर में शिव एवं विष्णु की उपासना करने का उल्लेख मिलता है। एक ओर जैन प्रतिमा दूसरी ओर शिवलिंग तथा तीसरी ओर विष्णु मूर्ति की उपासना का वृत्त शिव ने उपहास किया है[3]।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि अक्क महादेवीयुगीन कर्नाटक प्रदेश में वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ था और विष्णुवर्द्धन के राजकीय प्रश्रय तथा रामानुजाचार्य के परिश्रम एवं प्रयास से वैष्णव धर्म एक प्रमुख धर्म बन गया था। इस युग के शासक ने धार्मिक सहिष्णुता एवं सह अस्तित्व की नीति अपनाई थी।

<u>शैव मत</u>

प्राचीन भारत में वैष्णव मत की ही भांति शैव मत की भी अधिक प्रसिद्धि रही। शैव मत वैष्णव मत की अपेक्षा अत्यधिक प्राचीन था। शैव धर्म का उद्गम आर्य-द्रविड़ युग को लांघ कर प्रस्तर युग तक पहुंचता है। पुरातात्विक अनुसन्धानों से यह प्रतीत होता है कि सैन्धव सभ्यता में शिव के लिंग

---

१ 'ऍपि ग्रैफिया कर्नाटिका', संपुट ५, एन०आर० ३८, ११३९ई०।

२ वही, संपुट २, १४३(११३१ई०)

३ 'समय परीक्षे' अध्याय३, पृ०१२१।

की उपासना होती थी । इसके अतिरिक्त हड़प्पाकालीन मुहरों से पता चलता है कि शिव के पाशुपत व एवं योगीराज मुद्राओं की भी उपासना होती थी । वैदिक युग में शैव मत की प्रधानता कम रही । वैसे उपनिषदों में शैव मत का उल्लेख मिलता है । भारतवर्ष में आर्य-द्रविड़ संस्कृति-सम्मिलण काल में यह सनातन धर्म पाशुपत शैव धर्म में परिवर्तित हो गया । कालान्तर में पाशुपत शैव मत लकुलीश, पाशुपत, कालामुख, नाथसिद्धपंथ, काश्मीर शैव, कापालिक आदि उप सम्प्रदायों में विभक्त हो गया । जैसे-जैसे द्रविड़ों का प्रचार दक्षिण भारत में हो गया, वैसे-वैसे शैव मत का प्रचार भी दक्षिण भारत में होने लगा । १० वीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक दक्षिण भारत के मुख्यतः कर्नाटक, आन्ध्र, तमिलनाडु एवं केरल प्रदेशों में काला मुख शैव, गोलकी मठ सम्प्रदाय एवं अन्य शैव सिद्धान्त प्रबल स्थिति में थे । तत्कालीन सुप्रसिद्ध देवालयों, मठों तथा धर्म-संस्थाओं के अधिपति काला मुखाचार्य ही थे और उन्होंने उस काल के राजाओं, सामन्तों, अधिकारियों एवं प्रजा को अपना अनुगामी बना लिया था ।

काश्मीर शैव मत

शिला-लेखों से पता चलता है कि काश्मीर प्रान्त में विकसित शैव मत के चिन्ह १० वीं या ११वीं शताब्दी में दक्षिण के कर्नाटक प्रदेश में प्राप्त होते हैं[1]। काश्मीर पण्डित देव नामक गुरु के नाम का उल्लेख कन्नड ग्रन्थों में ११ वीं शताब्दी में प्राप्त होता है[2]। इसी प्रकार अभिलेखों में काश्मीर भट्ट मल्लपुया पण्डित का नाम भी मिलता है[3]। एक शिला-लेख में श्री मल्लिकार्जुन देव की प्रथम भूमि को 'काश्मीर भूमि' की संज्ञा दी गई है[4]। इस प्रकार कन्नड एवं काश्मीर प्रदेश का अल्प मात्रा में ही सही, सांस्कृतिक सम्बन्ध स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है, परन्तु काश्मीर शैव धर्म ने सम्भवतः

---

१ 'ऐपि ग्रैफिया कर्नाटिक', वॉल्यूम ७, एस०के०१३६, १०६८ई०।

२ 'कन्नड डायलक्ट सांस्कृतिक अध्ययन', पृ०१३७

३ 'ऐपि ग्रैफिया कर्नाटिका', वॉल्यूम ७, पृ०१५७(११२३ई०)

कर्नाटक प्रदेश के शैव मत को सुदृढ किया होगा[1]। ११६०ई० से १२००ई० तक कर्नाटक प्रदेश में काश्मीर शैव धर्म के विकास में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई, किन्तु १२वीं शताब्दी के पश्चात् काश्मीर शैव मत पतनोन्मुख होने लगा।

लाकुल सम्प्रदाय

कर्नाटक प्रदेश में अक्क महादेवी के युग में लाकुल संप्रदाय का भी विकास हुआ। लाकुल शैवों की बहुमुखी गतिविधियों के विकास हेतु एवं स्वस्थ निदर्शन के लिए बल्लिगावि के कोडिय मठ की स्थापना हुई। १२ वीं शताब्दी में यह मठ शैव मत का प्रसिद्ध केन्द्र बनकर दक्षिण केदार के नाम से अभिहित हुआ। इन मठों में चारों वेदों, कौमार, शाकटायन, पाणिनीय व्याकरण, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य, बौद्ध आदि दर्शन, लाकुल सिद्धान्त, पतंजलि के योगशास्त्र, अष्टदश पुराण, काव्य, नाटक आदि विधाओं का अध्ययन व अध्यापन होता था। इस प्रकार लाकुल सम्प्रदाय के धार्मिक केन्द्र सामाजिक सम्बन्धों एवं रीतियों को शाश्वत बनाए रखने में समर्थ थे।

कापालिक

शैव धर्म की एक शाखा वामाचार पद्धति के कापालिकों की है। कर्नाटक प्रदेश में इस सम्प्रदाय का उल्लेखनीय विकास हुआ। ये भी शैव में निवास करते थे। कालान्तर में इनमें से एक गोरख को बल्लम प्रभु द्वारा पराजित करने का उल्लेख "प्रभु लिंग लीले" में हुआ है[2]। ११४८ई० के शिला लेख में "महाव्रति" कापालिक का उल्लेख हुआ है[3]। कापालिक के कुछ आचरणों का बल्लम प्रभु ने उल्लेख करके खण्डन किया है[4]। कापालिकों की संख्या कर्नाटक में अत्यन्त अल्प थी[5]।

---

१ "कन्नड शासन गड सांस्कृतिक अध्ययन", पृ०१३८

२ "प्रभुलिंग लीले", पृ०१६,२१,२२

३ "कर्नाटक इंस्क्रिप्शन्स", भाग१, नं०२४, ११४८ई०

४ "बसवनवचन चन्द्रिके", पृ०१९८

५ "कर्नाटक शासनगड सांस्कृतिक अध्ययन", पृ०१४४

लकुलीश-पाशुपत

लकुलीश मत शैव मत में अपना प्रमुख स्थान रखता है। इस मत के देवस्थान गुजरात, राजस्थान, उड़ीसा, मैसूर आदि प्रान्तों से प्राप्त हुए हैं। इन प्रदेशों से अनेक लकुलीश की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। ~~ये मूर्तियां प्राप्त हुई~~ हैं। ये मूर्तियां सामान्यतया बायें हाथ में मातुलुंग(एक प्रकार का फल), दाएं हाथ में दण्ड धारण किए हुए हैं। विद्वानों का विचार है कि कर्नाटक प्रदेश में लकुलीश मठ गुजरात प्रान्त से प्रविष्ट हुआ है।[1]

कालामुख सम्प्रदाय

दक्षिण भारत में कालामुख सम्प्रदाय अत्यधिक प्रभावशाली था। कापालिकों के वामाचार पंथ के विपरीत कालामुख सम्प्रदाय शुद्ध, सात्विक आचरणों का पंथ था। कन्नड शिला-लेखों से पता चलता है कि काला मुख और लकुलीश-पाशुपत से सम्बन्धित तथा कापालिक मत से भिन्न थे। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कालामुख, तमिल, आन्ध्र एवं कर्नाटक प्रदेश में अत्यधिक प्रबल थे।[2] एक देवस्थान से प्राप्त ११६६ई० के शिलालेख से ज्ञात होता है कि कालामुखों के गुरु का नाम मल्लिकार्जुन था।[3] अभिलेखों में उल्लिखित है कि श्री शैल कालामुख का भी केन्द्र था।[4] अभिलेखों में कालामुख सम्प्रदाय के देवालयों को चालुक्य एवं कलचुरी वंश के नरेशों ने अनेक दक्षिणाएं प्रदान किए हैं। इस युग के देवस्थान वैभवपूर्ण थे। कालामुख सम्प्रदाय में अनेक मठाधिपति थे जो कि विभिन्न भागों में वास करते थे। इन मठाधिपतियों में रुद्र शक्तिदेव, ज्ञानशक्तिदेव, मल्लिकेश्वर देव, धर्मशिवदेव, क्रियाशक्तिदेव आदि प्रमुख थे।

---

१ "कन्नड वाङ्मय सांस्कृतिक अध्ययन", पृ०१२८

२ वही, पृ०१३३

३ वही, पृ०१३१

४ वही, पृ०१३१

अतः हम कह सकते हैं कि अक्क महादेवी के आविर्भाव के पूर्व समस्त दक्षिण भारत में शैव मत व उसके उप सम्प्रदायों की प्रधानता रही । डा० नन्दिमठ के अनुसार इस युग में शैवाचार्य को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था[1] । इस मत की पुष्टि शिला-लेखों से भी होती है । इस युग की प्रमुख विशेषता थी कि शैव मत के सभी सम्प्रदाय वीरशैव मत में विलीन हो रहे थे । यह समन्वयवादिता का युग था ।

वीरशैवमत

वीरशैव अक्क महादेवीयुग का सर्वाधिक चर्चित एवं प्रसिद्ध मत था । वीरशैव मत का प्रादुर्भाव अत्यन्त प्राचीनकाल में हुआ था । यह मत प्रथमतः द्रविड़ संस्कृति से जन्म लेकर आर्य संस्कृति द्वारा विकसित होकर बौद्ध,जैन, सांख्य,योग आदि मतों के उच्च तत्वों से समाहित होकर क्रमशः पुष्पित तथा फलित हुआ । मतावलम्बियों की दृष्टि से वीरशैव धर्म मे छोटा होने पर भी उदात्त तत्वों से युक्त होने के कारण अति महान होने का गौरव प्राप्त किया है । बसवेश्वर आदि सन्तों ने वीरशैव तत्व के अनुसार आचरण कर उसके संस्कृति तथा सिद्धान्तों के महत्व को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया । समय-समय पर कई अन्य मत के अनुयायियों द्वारा वीरशैव को मान्यता देने एवं स्वीकार[2] कर लेने के कारण इसने एक विशाल धार्मिक सम्प्रदाय का स्वरूप प्राप्त किया । हमारी आलोच्या अक्क महादेवी वीरशैव मतावलम्बिनी थीं । अतः वीरशैवमत का यहां पर विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा । अक्क महादेवीयुगीन भारत में वीरशैव धर्मोद्धार के विषय में एक महत्वपूर्ण आन्दोलन का जन्म कर्नाटक में हुआ । इसके आयोजक सन्त बसवेश्वर थे । महात्मा बसवेश्वर के आकर्षक व्यक्तित्व के कारण ब्राह्मण वर्ग से लेकर कृषक वर्ग तक के लोग इनके सम्पर्क में आए । इन्होंने इस मत द्वारा कन्नडवाणी में अनुभवपूर्ण वचनों को गाकर धार्मिक अराजकता से त्रस्त जनता को आश्रय प्रदान किया । मानव-प्रेम,शिव-भक्ति,

शरण-मार्ग आदि ही उनकी सदिच्छा थी । यह इच्छा वाणी और आचरण में साकार हुई । अमूल्य वचन साहित्य का सृजन हुआ । संतों के आचरण के बल से एवं गहन अनुभव से निकले वचनों ने सीधे जनता के हृदय को स्पर्श किया, जिससे धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति का उद्भव हुआ[1] । इससे दीन, दलितों एवं तिरस्कृत जनता में नए जीवन का पदार्पण हुआ । वे एक देवोपासना में विश्वास करते थे । बसवेश्वर ने अपने वचन में कहा है कि धर्म के अभ्यास का ध्येय सत्य का अन्वेषण करना है[2] । सत्य धर्म से श्रेष्ठ है । भक्तिभाव से ओत-प्रोत उस धर्म ने जनता की भावना को आकर्षित किया । मानव का दृष्टिकोण विशाल हुआ[3] । तब भाव की तरंगें उनके हृदय में ताण्डव नृत्य करने लगीं । महात्मा बसवेश्वर ने कल्याण को ही अपने धर्म-प्रचार का केन्द्र समझा । संत बसवेश्वर सन्तों को सामाजिक जीवन तथा गृह-जीवन से दूर रहने की सलाह नहीं देते थे । वे उपदेशकों को उदासी नहीं होने देना चाहते थे । उनके अनुसार अपना-अपना कर्म ही स्वर्ग है । इस प्रकार सन्त बसवेश्वर ने वीरशैव मत का[4] प्रचार सामान्य जनता में करके नई जागृति का निर्माण किया ।

वीरशैव मत का प्रचार करना बसवेश्वर का प्रमुख कार्य था । इस प्रकार वीरशैव मत के अनेक विशिष्ट सिद्धान्त उपयोग में लाए गए तथा उनके माध्यम से भक्ति एवं विचार-स्वातन्त्र्य का मार्ग प्रशस्त हुआ । स्त्री-पुरुषों में समानता, वर्णाश्रम धर्म का निराकरण, अस्पृश्यता का निवारण, कर्म का महत्व एवं उसकी आवश्यकता आदि विशाल दृष्टिकोण समाज के समक्ष प्रस्तुत हुए । फलस्वरूप वीरशैव मत[5] बसवेश्वर के प्रयास से शिव मत के समान प्रतिष्ठित होने योग्य बन सका ।

---

1. डा० आर० सी० हिरेमठ : 'कर्नाटक कल्चर' (१९६१), पृ० ६३
2. गु० बी० जोशी : 'विश्ववर्म महू' (१९६८), प्रस्तावना, पृ० २९
3. 'शिवानुभव' वर्ष ३, संचिका ११, सितम्बर १९२८, वीरशैव कल्चर, बाँकापूरमठ ।
4. प्रा० भी० कुलकर्णी : 'कन्नड भाषेचा चरित्र', पृ० ९२।
5. 'वीरशैव हुट्टु बेळवणिगे', भाग ३ (बसवन स्मारक संपुट), पृ० ४८८

सन्त बसवेश्वर के अतिरिक्त वीरशैव मत के प्रचारकों में अल्लम प्रभु का नाम आता है । अल्लम प्रभु ने धर्मोपदेश करते हुए देश का भ्रमण प्रारम्भ किया । सर्वप्रथम श्री शैल जाकर गोरक्ष नामक हठयोगी को वीरशैव तत्व का बोध कराया । इसके अनन्तर वन में तपस्यालीन ऋषियों और मुनियों को वीरशैव धर्म का ज्ञान कराया । इसके बाद पोनाबंल,रामेश्वर,गोकर्ण आदि घूमते हुए काशी केदार आदि देवस्थानों का निरीक्षण करके कल्याण वापस लौट आए । अल्लम प्रभु के कल्याण वापस आने पर सन्त बसवेश्वर ने उनको अनुभव मण्डप के शून्य सिंहासन पर आसीन करके इस मण्डप का अध्यक्ष बनाया[1] । प्रभुदेव ने यहां पर सिद्धनारायण जैसे वीरशैवेतर सन्त को चेन्न बसवेश्वर के द्वारा लिंग दीक्षा दिलाई[2] । अल्लम प्रभु का विचार था कि --"सासिवे यष्टु सुख के सागर यष्टु दुःख नोडा" (राई बराबर सुख के लिए समुद्र के समान दुःख को देखिए)[3] ।

अल्लम प्रभु के अतिरिक्त अक्क महादेवी,चेन्न बसवेश्वर, श्री रुद्र मुनि स्वामी, भीमाची देव आदि सन्तों ने वीरशैव मत का प्रचार कार्य अक्षुण्ण बनाए रखा[3] । वचनों में वर्णित है कि कल्याण से अक्क महादेवी,अल्लम प्रभु,तथा बसवेश्वर के चले जाने पर चेन्न बसवेश्वर ने कल्याण में रहकर वीरशैव धर्म का संचालन किया और उनके इस कार्य में श्री रुद्र मुनि स्वामी तथा श्री नागिदेव ने सहायता की । चेन्न बसवेश्वर वीरशैव मत के प्रचारकार्य एवं सिद्धान्त प्रतिपादन कार्य में रत थे । समाज में समानता लाने के लिए उन्होंने अपना प्रभाव डाला है[4] । परिपूर्णता की ओर जाने में जीवन का परम ध्येय क्या है? इसका वीरशैव सन्तों ने अपने साहित्य में विस्तार के साथ वर्णन किया है,जिसमें विश्व के मान्यता प्राप्त विचारों का प्रभाव है, तत्व दर्शन है, अनुभव दृष्टि है । वीरशैव सन्तों ने

---

१ "डा० फ०गु०हलकट्टि : "बसवणाधीश्वर चरित्र महू", पृ०७८।

२ वही,पृ०८०।

तत्व जिज्ञासा से बढ़कर धार्मिक विचारों, नैतिक आचरणों तथा तत्वानुभवों को अधिक महत्व दिया ।

अक्क महादेवीयुगीन सन्त धर्मान्ध नहीं थे । वे वीरशैवों को ही नहीं, अपितु शैव संस्कृति से सम्बन्धित सभी को अपना समझ कर आदर करते थे । तमिल प्रदेश के पुरातनर (प्राचीन संत) वीरशैव नहीं थे, परन्तु उनका भी वीरशैवों ने आदर किया । आन्ध्र प्रदेश के वीरशैवों में भिन्न आचरण दिखाई देता है, परन्तु उनको भी ये सम्मानित करते थे । काश्मीर एवं केरल प्रदेश के संतों को सद्भाव से देखते थे । उसी प्रकार सौराष्ट्र अर्थात् गुजरात प्रदेश के सन्तों को अपना समझते थे । इस प्रकार बसवेश्वर के समय में हुए सन्त उदार हृदय से ओत-प्रोत होकर शिव-चिन्ह का आदर करते आए हैं ।

वीरशैव मत केवल पुरुष वर्ग तक ही सीमित न रहा । वीरशैव मत के सन्तों ने स्त्रियों की सामाजिक एवं धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए अधिक परिश्रम किया । सन्त बसवेश्वर ने स्त्रियों को पुरुषों के साथ समानता का अधिकार प्रदान किया । स्त्रियों की स्वतन्त्रता के लिए इतना अधिक प्रयत्न और किसी हिन्दू मत ने नहीं किया । अक्क महादेवी-युग में स्त्रियों के प्रति अत्यन्त उदार एवं उच्च भाव अपनाने के कारण उस समय अनेक स्त्रियों द्वारा धर्म कार्य की प्रेरणा पाकर धर्म कार्य रत होने के असंख्य उदाहरण हैं । इस युग में स्त्रियों द्वारा अविवाहित रहकर केवल धार्मिक कार्यों में जीवन व्यतीत करने का उल्लेख भी मिलता है । ऐसी स्त्रियों में अक्क महादेवी, वर दानिमुंडम्मा आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हुईं । अनेक स्त्रियों को सन्त बसवेश्वर ने अपने अनुभव मण्डप में शिवशरणियों के रूप में स्थान दिया । कुछ स्त्रियों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की । उनमें से अक्क महादेवी, नीलांबिके, अक्क नागम्मा तथा सत्यक्का आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हुईं । स्त्री-शिक्षा के लिए सन्त बसवेश्वर ने विशेष महत्व दिया । बाल विवाह बन्द कराने का सफल प्रयास किया । बुद्ध की भांति उन्होंने स्त्रियों को योगिनी बनने के लिए स्वातन्त्र्य-उपदेश दिए ।

महात्मा बसवेश्वर द्वारा किए गए महत्वपूर्ण कार्यों में अनुभव-मण्डप की स्थापना प्रमुख है । सन्त बसवेश्वर ने वीरशैव मतोद्धार के लिए अपने तन-मन-धन को समर्पित करके इस मण्डप की स्थापना कल्याण में की तथा इसकी कीर्ति समस्त भारत में व्याप्त थी । काश्मीर से कन्याकुमारी तक के धार्मिकों को इस मण्डप ने आकर्षित किया । द्रविड़,गुजरात,महाराष्ट्र, उत्तरभारत एवं काश्मीर से भी लोग यहां आये थे । प्रभुदेव उसके अध्यक्ष थे । चेन्न बसवेश्वर व्यवस्थापक थे । सिद्धराम,किन्नुरय्या, मुडिचंदय्या,तम्भुनि, घटिवाड्य्या, मोळिगेमारय्या, हरळय्या, मधुवय्या आदि पुरुष तथा अक्क महादेवी,रेचव्वे, सत्यक्का,लिंगमा आदि स्त्रियां इस मण्डप के प्रमुख सदस्यों में से थीं । इस मण्डप ने १ करोड़ साठ लाख वचनों की रचना के लिए स्फूर्ति प्रदान की[1] । इस मण्डप में लगभग ३०० लोग धर्म चर्चा करते थे और शिवानुभव के विषय में उन्होंने अनेक प्रकार के वचन लिखे हैं । इन वचनकारों में ६० स्त्रियां थीं । इनमें अक्क महादेवी का स्थान अग्रगण्य था[2] । इस महासभा में जाति, मत,पन्थ,वर्ण-भेद के बिना बसवेश्वर एवं अल्लम प्रभु ने स्त्रियों और पुरुषों को प्रवेश दिया । काश्मीर के राजा (मोळिगे मारय्या),मडिवाळ माचय्या (धोबी), अंबिगार चौडय्या (नाविक), कक्कय्या (ढोर),हडपद अप्पण्णा(नाई) दासमय्या (जुलाहा), हरळय्या (मोची), बाहुणि सिद्धय्या (चमार),मेदार-केतय्या(टोकरी बुनने वाले), मुडि चंदय्या (रस्सी बुनने वाले) , शंकरदासमय्या (सूई बेचने वाले) आदि सदस्य इसके प्रमाण हैं ।

अतः उपर्युक्त विवरण के आधार पर निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि अक्क महादेवीकालीन कर्नाटक प्रदेश में वीरशैव मत की प्रधानता रही । इस युग में बौद्ध और जैन मत पतनोन्मुख हो गए थे । वैष्णव मत का भी प्रभाव कर्नाटक के कुछ भाग में देखा जा सकता था । शैव मत के लकुलीश,पाशुपत,

---

१ शरण साहित्य - 'ज्ञान निधि चेन्न बसवेश्वर' शीर्षक,अंक १८,पंक्ति २,पृ०६६।

कालामुख, कापालिक, काश्मीर शैव मत आदि उप सम्प्रदाय वीरशैव मत में विलीन हो रहे थे। वीरशैव मत अल्लम प्रभु की अध्यक्षता में तथा सन्त बसवेश्वर के नेतृत्व में एक सर्वप्रिय मत हो गया था। अक्क महादेवी इसी मत को मानने वाली थीं। वीरशैव मत ने इस युग में सामाजिक तथा धार्मिक उद्धार का भी कार्य किया। वीरशैव मत के अतिरिक्त इस युग में कुछ धार्मिक रूढ़ियां, अन्धविश्वास एवं प्रथाएं प्रचलित हो गई थीं। ऐसी धार्मिक पृष्ठभूमि में हम अक्क महादेवी का आविर्भाव कन्नड समाज में पाते हैं।

(ख) मीरांबाईयुगीन परिस्थितियां

राजनैतिक परिस्थिति

मीरांयुगीन भारत राजनैतिक शक्तियों के अस्थिर एवं अव्यवस्थित अस्तित्व का परिचायक है। पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का भारत अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया था और उस समय भारत की राजनैतिक एकता, शान्ति एवं सुव्यवस्था अस्थिर हो चुकी थी। इस समय का भारत आठवीं शताब्दी ई०पू० के भारत एवं १६ वीं शताब्दी के जर्मनी की भांति अनेक छोटे-छोटे राज्यों का पुंज बन चुका था, जो स्वतन्त्र तथा भिन्न थे। यदि मीरांयुगीन परिस्थितियों का आकलन किया जाय तो उन राज्यों की संख्या १२ से अधिक पहुंच जाती है,[1] जिनमें राज्यलिप्सा के साथ एक-दूसरे को नीचा दिखाने की स्पृहा इतनी बढ़ गई थी कि जिसके कारण वे सदैव युद्धरत रहते थे[2]। अतः मीरांकालीन भारत किसी भी शक्तिशाली विदेशी आक्रमण के लिए ऐसा क्रीड़ास्थल बन गया था, जिसकी राजनैतिक विषमता, सामाजिक विशृंखलता आदि दुर्बलताएं आक्रमणकारी की विजय को सरल करने के लिए पर्याप्त थीं।

---

१ अवधबिहारी पाण्डेय : "पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास", प्र०सं०इलाहाबाद,
पृष्ठ सं० १२।

२ ,, ,, ,, ,,

सिकन्दर लोदी

बहलोल के उत्तराधिकारी सिकन्दर लोदी ने सिंहासनासीन होते ही धौलपुर, अवंतगढ़, चंदेरी, नागौर तथा मालवा आदि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर अपने साम्राज्य तथा अपनी प्रतिष्ठा की वृद्धि की, किन्तु प्रारम्भिक युद्धों एवं राजपूतों के विद्रोह का दमन करने में ही उसके संलग्न रहने के कारण दिल्ली को सशक्त होने का अवसर न प्राप्त हो सका[1]।

इब्राहीम

सिकन्दर लोदी की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र इब्राहीम लोदी २१ नवम्बर, १५१७ई० को लोदी साम्राज्य का शासक हुआ। इब्राहीम लोदी के अहंकारपूर्ण व्यवहार, अविश्वासी और दमनकारी नीति के कारण सहायक मित्रों की सहानुभूति खो देने के फलस्वरूप लोदी सत्ता भी निर्बल तथा अस्तित्वहीन हो गई। डा० ईश्वरीप्रसाद के मतानुसार--"यह लोदीवंश का अन्तिम शासक था, जिसकी अदूरदर्शी नीति, दरबारियों और अमीरों के प्रति दुर्व्यवहार तथा अत्याचारों ने केवल नौ वर्ष के भीतर लगभग सभी को अपना शत्रु बना लिया। वह न तो सरदारों और अमीरों पर नियंत्रण रख सका और न सिकन्दर के विश्वस्त प्रशंसकों को ही अपना सहयोगी बना सका[2]।"

राणासांगा

शूरवीर और स्वतन्त्रता प्रेमी राजपूत राणा कुंभा और राणा सांगा के नेतृत्व में एक अन्य शक्ति उभर कर आई, जो कि अखिल भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण सत्ता समझी जाती थी[3]। राणासांगा ने मालवा

---

१ डा० ईश्वरीप्रसाद : "हिस्ट्री आफ मेडिवल इण्डिया" (१९४८), अध्याय १०, पृ०४६७

२ डा० ईश्वरीप्रसाद : "ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इंडिया" चतुर्थ संस्करण, पृ० २०१।

के शासक महमूद खां को पराजित करने के पश्चात् अमयनगर पर भी अधिकार कर लिया था। राजपूतों ने दिल्ली पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेने की आकांक्षा से राणा सांगा की कुशल अध्यक्षता में इब्राहीम लोदी को युद्ध में दो बार परास्त किया था[1]।

बाबर

भारत की ऐसी विशृंखलित और अनिश्चित स्थिति में मुगल सम्राट बाबर के भारत-आक्रमण ने परिस्थिति में एक नवीन मोड़ ला दिया। भारत विजय का आकांक्षी बाबर एक उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में था। यह अवसर उसे मेवाड़ के राणा सांगा ने भारत पर विजय हेतु आक्रमण के निमंत्रण के रूप में प्रदान किया। बाबर एक अवसरवादी व एवं दूरदर्शी शासक था, उसने अपने हाथ से इस अवसर को निकलने नहीं दिया और भारत-विजय के लिए कटिबद्ध हो गया। इब्राहीम लोदी के निर्दय व्यवहार से तंग आकर दौलत खां लोदी ने काबुल स्थित बाबर के पास भारत पर आक्रमण करने का पत्र भेजा था। इस समय इब्राहीम लोदी पूर्वीय प्रदेश की गंभीर परिस्थितियों में व्यस्त था कि बाबर १२ अप्रैल १५२६ई० को पानीपत के मैदान में आ डटा[2]।

बाबर और इब्राहीम लोदी

२१ अप्रैल १५२६ई० को पानीपत के प्रसिद्ध रणक्षेत्र में प्रातःकाल के समय इब्राहीम लोदी तथा बाबर की सेनाओं में घोर संघर्ष हुआ। इब्राहीम लोदी के एक लाख सैनिक बाबर की अल्पसंख्यक सेना के समक्ष भी लोदी साम्राज्य की रक्षा न कर सके और इनमें से लगभग १५-२० हजार सैनिक वीरगति को प्राप्त हुए। दिल्ली तथा आगरा पर आधिपत्य स्थापित कर लेने के पश्चात्

---

१ गोविन्दलाल धारी-मुगल भारत, द्वि०सं०, पहला परिच्छेद, पृ०१

२ डा०ईश्वरीप्रसाद : "ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इंडिया", अध्याय १२, पृ० २०५।

बाबर ने क्रमश: सम्भल, इटावा, कन्नौज, धौलपुर, रापरी, जौनपुर, गाजीपुर और काल्पी पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया । २६ अप्रैल १५२६ई० को बाबर ने स्वयं को भारत का सम्राट घोषित किया । इस प्रकार भारत में एक नए राजवंश (मुगलवंश) की स्थापना हुई, जिसने लगभग ३०० वर्ष तक भारत में शासन किया ।

बाबर और राणासांगा

बाबर की साम्राज्यवादी नीति के कारण राणासांगा से संघर्ष होना अवश्यम्भावी हो गया । राणा अपने समर्थकों के साथ आगरा की ओर बढ़ा और आगरा से २३ मील दूर खानवा के युद्ध-क्षेत्र में १७ मार्च, १५२७ई० को बाबर की सेना के साथ उसका संघर्ष हुआ । तुमुल संग्राम के पश्चात् राजपूतों की पराजय हुई । बाबर ने राणा के मित्र चन्देरी के शासक मेदनी राय को भी इसके साथ पराजित कर चन्देरी पर अपना अधिकार कर लिया । अन्ततोगत्वा उसकी सेना बंगाल और बिहार की ओर बढ़ी और वहाँ के अफगान शासकों को परास्त कर मुगल साम्राज्य का विस्तार किया ।

हुमायूं

साम्राज्य का उत्तरदायित्व अपने ज्येष्ठ पुत्र हुमायूं पर छोड़कर १५३०ई० में बाबर कालकवलित हो गया । हु हुमायूं का अधिकांश समय भी संघर्षों में ही व्यतीत हुआ ।

शेरशाह सूरी

अफगान शासक शेरशाह सूरी ने हुमायूं को पूर्णतया परास्त करके अपनी नीति-कुशलता तथा वीरता से पुन: सुदृढ़ अफगान राज्य की प्रतिष्ठा की । भारत के इतिहास में सुव्यवस्थित राज्य प्रबन्ध तथा निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था के लिए वह अकबर के पथ-प्रदर्शक के रूप में प्रसिद्ध है,[१] किन्तु कालगति ने उसे

१ भीमनिवासचारी : `मुगलभारत` सं०२०१०, पहला परिच्छेद, पृ० २३ ।

५ वर्ष से अधिक शासन करने का अवसर प्रदान नहीं किया ।

हुमायूं का पुनरागमन

शेरशाह सूरी के देहावसान (१५४५ई०) के पश्चात् हुमायूं ने उसके उत्तराधिकारियों की अकुशलता व निर्बलता का लाभ उठाकर भारत में पुनः मुगल साम्राज्य की स्थापना की । हुमायूं भी केवल ६ माह तक ही उसका सुख प्राप्त कर सका तथा जीवन भर ठोकरें खाने वाला यह मुगल शासक अन्ततः साधारण सी ईंट की ठोकर खाकर काल कवलित हो गया । दिल्ली का भविष्य अब पुनः अस्थिर हो गया ।

अकबर

१३ वर्ष की अर्द्ध विकसित आयु का हुमायूं -पुत्र अकबर बैरमखां की देख-भाल में भारत का शासक(१४ फरवरी १५५६ई०) हुआ[1] । अकबर ने अपने पिता के उत्तराधिकार में जो राज्य प्राप्त किया था, उसका क्षेत्र-विस्तार सुदूर दक्षिण के विजयनगर साम्राज्य के मुकाबले में भी कम था ।

हिन्दू राज्यों की राजनैतिक परिस्थिति

मुसलमानों द्वारा शासित राज्यों की राजनैतिक परिस्थितियों के अध्ययन के पश्चात् हिन्दुओं द्वारा शासित राज्यों की राजनैतिक परिस्थिति पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है । मीरांकालीन भारत में उत्तर तथा मध्य में मेवाड़, मारवाड़ तथा बुन्देलखण्ड तथा पूर्व में उड़ीसा तथा दक्षिण में विजयनगर आदि हिन्दू शासित राज्य थे । हमारी आलोच्या कवयित्री मीरां बाई का जन्म व कर्मक्षेत्र राजपुताना रहा है । अतः राजपुताना की स्थिति पर विचार करना समीचीन है ।

१डा० रामप्रसाद त्रिपाठी : "राइज एण्ड फाल आफ मुगल एम्पायर",पृ०१७२-१७३।

राजपूताना

राजपूताना भारत की गौरवमयी भूमि रही है । राजस्थान की भूमि वीरों की जननी कही जाती है । "उसने अनेक महापुरुषों तथा वीरांगनाओं को जन्म दिया है, जिन्होंने भीषण संकटापन्न अवस्थाओं में निर्भय शत्रुओं से युद्ध कर अपनी मर्यादा की रक्षा की है । उन्होंने अनेक बार अपने प्राणों की आहुति देकर भयंकर आततायी नृशंस आक्रमणकारियों को मार भगाया और अपनी वीरता का परिचय दिया ।"[१] मीरांयुगीन राजस्थान हमारे समक्ष उन परम प्रसिद्ध महात्माओं का उज्ज्वल चित्रावली प्रस्तुत करता है, जो वीरत्व के उन सभी आदरणीय गुणों से सुशोभित थे, जिनमें शौर्य, देश-भक्ति, आत्मत्याग, राजभक्ति, साहस तथा नेतृत्व का समावेश है और साथ ही मानव-हृदय में उच्च आदर्शों की कल्पना जागृत करते हैं । शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के आक्रमण (११९२ई०) के पश्चात् लगभग २५० वर्षों तक राजस्थान का इतिहास अन्धकारमय है ।

कुम्भाजी

१४३३ई० में महाराणा मोकल जी के पुत्र राणा कुम्भाजी के सिंहासनारूढ़ होने से ही राजस्थान का इतिहास पुनः प्रकाश में आ सका । शिलालेखों और प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों में इनका अतुल गौरव और प्रताप वर्णित है । कुम्भा अपने समय के अतुल शूर वीर, योद्धा, साहसी और नीतिज्ञ थे, जिन्होंने मुसलमानों के हृदय पर अपनी धाक जमा दी थी । कुछ विद्वान् राणा कुम्भा जी को ही मीरां का पति बताते हैं, किन्तु उनका यह मत ऐतिहासिक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आलोक में सर्वथा अमान्य है । राणा कुम्भा ने मेवाड़ की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनःस्थापित किया । उन्होंने अपने विरोधियों को पराजित कर राजस्थान की स्थिति को सुदृढ़ किया । कुम्भा के शासन-काल में राजस्थान के शासकों में एकता का अभाव था । राणा कुम्भा ने गुजरात, मालवा एवं नागौर के शासकों को भी परास्त किया था ।

---

१ देवकुमार ठाकुर (अनुवादक): "टाड कृत राजस्थान का इतिहास" भूमिका–

कुम्भा-शासन-काल से मेवाड़ राज्य में एक नवीन युग आरम्भ होता है । कुम्भा के समय में राजस्थान में हिन्दू संस्कृति विद्या, कला और समाजादर्शों का पूर्ण उत्थान हुआ । श्री पणिक्कर महोदय के शब्दों में --" महाराणा कुम्भा तथा उनके उत्तराधिकारियों की प्रसिद्धि हिन्दू-चेतना को पुनरुज्जीवित करने वाले उन अमर सेनानियों के रूप में है, जिन्होंने इस प्रदेश को मुस्लिम-विजयों से सुरक्षित रखने के अतिरिक्त उत्तर भारत के अन्य भागों में भी हिन्दू जनता को आश्वस्त किया था ।"[1] कुम्भा की वीरता, साहस एवं युद्ध-कौशल के फलस्वरूप मेवाड़ का राज्य दूर-दूर तक फैलकर अखिल भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण सत्ता समझा जाने लगा, किन्तु कुम्भा के ज्येष्ठ पुत्र उदय कर्ण या `ऊदा` ने अपने पिता राणा कुम्भा की कुम्भलगढ़ में १४६८ई० में हत्या कर मेवाड़ के गौरव को कलंकित कर दिया और मेवाड़ पुन: विकेन्द्रीकरण एवं विनाश के गर्त में जा गिरा ।

राणा रायमल

सन् १४७३ई० में अपनी वीरता और क्षमता से रायमल राणा कुम्भा के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ । राणा रायमल ने पुन: मेवाड़ की प्रतिष्ठा को स्थापित करना चाहा, किन्तु वह अपने प्रयास में पूर्णतया सफल सिद्ध न हुआ । १५०९ई० में राणा रायमल का देहावसान हो गया ।

राणा संग्राम सिंह

जब राजपुताने में यह राजनैतिक उथल-पुथल चल रही थी, उस समय दिल्ली शासन भी दुर्बल हो चुका था । १६ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में राणा संग्राम सिंह के नेतृत्व में हिन्दू राज्य-शक्तियों का जो प्रबल संगठन हुआ, उसने स्वातन्त्र्य एवं अखंडता का संकल्प लेकर समस्त आद्य उत्तर भारत में अपने प्रभाव विस्तार के साथ ही दिल्ली, गुजरात तथा मालवा आदि तत्कालीन प्रधान मुस्लिम राज-शक्तियों के बढ़ते हुए प्रभाव को पूर्णतया नियंत्रित एवं आतंकित रखा।

---

१ पणिक्कर : "ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री", १९४७ई०, अध्याय १३, पृ० १३८।

संग्राम सिंह महाराणा रायमल के तृतीय पुत्र थे। सं० १५३९ की वैशाख बदी ९(ई०सन् १४८२ ता० १२ अप्रैल दिन शुक्रवार) को संग्राम सिंह इस भूतल पर अवतरित हुए थे। पिता रायमल की मृत्यु के पश्चात् वे २७ वर्ष की अवस्था में सं०१५६६,ज्येष्ठ शु सुदी ५(ई०सन्१५०९,ता०२४ मई) को मेवाड़ के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुये। मेवाड़ के महाराणाओं में ये सबसे प्रतापी एवं सर्वशक्तिमान् सिद्ध हुए। उनके सिंहासनारूढ़ होने के एक वर्ष पूर्व तक राजस्थान चार राजपूत वंशों द्वारा शासित था। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपनी पुस्तक "राजपूताने का इतिहास" में उल्लेख किया है कि १५०८ई० में राजस्थान में निम्नलिखित चार राजपूत वंश भिन्न-भिन्न क्षेत्रों पर राज्य कर रहे थे --

(१) मेवाड़ में गुहिलोत वंश के सिसोदिया राणा

(२) मंडोर के आस पास मारवाड़ में राठौर

(३) बूंदी में हाड़ा वंश

(४) आम्बेर(जयपुर) में कछवाहों का वंश। इस तथ्य का उल्लेख कर्नल टाड ने भी अपनी पुस्तक में किया है।

परिस्थितियों ने राजनैतिक दृष्टि से राजस्थान को छिन्न भिन्न बना दिया था। मेवाड़ आधिपत्य से कुछ प्रदेश उदय कर्ण के हाथ से निकल गए थे, जिन्हें पुन: प्राप्त करने का रायमल ने कोई प्रयत्न नहीं किया। अत: मेवाड़ में एकता स्थापित करना राणा का प्रथम कर्तव्य था। सिंहासनारोहण के समय सात बड़े-बड़े राणा, ९ राव और १०४ रावत उनके अधीन थे। जोधपुर और अम्बेर के शासक उनका सम्मान करते थे। ग्वालियर,अजमेर,सीकरी,रायसेन,चन्देरी, बूंदी,गगरौन, रामपुर और आबू के शासक राणा के सामंत थे। राणा सांगा का राज्य उनके सिंहासन पर बैठने के समय दिल्ली,गुजरात और मालवा के मुसलमान शासकों के राज्यों से घिरा हुआ था। बचपन से मृत्युपर्यन्त राणा का जीवन युद्धों में बीता। बाबर से सामना करने से पूर्व भी उन्होंने १८ बड़ी-बड़ी लड़ाइयां दिल्ली एवं मालवा के सुल्तानों के साथ लड़ीं[१]। मृत्यु के समय शरीर पर कम-से-कम ८० निशान तलवारों एवं भालों के लगे हुए थे। इस समय दिल्ली सल्तनत अत्यन्त

१ टाड:राजस्थान ,भाग१,पृ०३५८,आक्सफोर्ड संस्करण।

दुर्बल हो गई थी । इस स्थिति से राणा सांगा ने पूरा-पूरा लाभ उठाने की चेष्टा की । वि०सं०१५७४ में इब्राहीम लोदी ने मेवाड़ पर आक्रमण किया । राणा सांगा भी सामना करने के लिए अपने समर्थकों के साथ खातोली गांव के पास आ डटे । यहां पर दोनों शासकों की सेनाओं में भीषण संघर्ष हुआ । सुलतान की सेना राजपूत के प्रहार के समक्ष टिक न सकी और सब-के-सब सैनिक भाग खड़े हुए । राजपूत आख्यानों[1] के अनुसार महाराणा का एक हाथ और एक पैर इस युद्ध में जाता रहा । इसके अतिरिक्त महाराणा ने गुजरात और मालवा के सुलतानों को भी पराजित किया और कुम्भा के बाद मेवाड़ राज्य ने जो कुछ खोया था, राणा संग्राम सिंह के अधिकार पाते ही मेवाड़ राज्य ने उसे फिर प्राप्त कर लिया । संग्राम सिंह न केवल वीर और दूरदर्शी थे,बल्कि वह एक सुयोग्य शासक भी थे[2] । बाबर के आक्रमण के समय राजस्थान में मेवाड़ की शक्ति छाई हुई थी । यदि राजपूत प्रयत्न करते तो शक्तिहीन लोदी सुलतानों को पराजित कर दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार प्राप्त कर सकते थे । परन्तु गत ५०० वर्षों से लगातार तुर्कों से युद्ध करते रहने के कारण इनमें आत्मविश्वास और हिम्मत की कमी हो गई थी । भारत की इसी स्थिति से लाभ उठाकर मुगल साम्राज्य के संस्थापक तैमूर के वंशज बाबर ने १५२५ई० में भारत पर चढ़ाई कर दी ।

राजपूतों की लोकप्रसिद्ध राजनैतिक अदूरदर्शिता के कारण ही अपने निर्बल शत्रु इब्राहीम लोदी को विनष्ट करने[3] के लिए राणा सांगा ने शक्तिशाली बाबर को काबुल से आमन्त्रित किया था । यह संग्राम सिंह की राजनैतिक भूल थी, जिसका दु:खद परिणाम समस्त भारत को भोगना पड़ा ।

---

१ गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा : `राजपूताने का इतिहास`,पृ०३५०।

२ केशवकुमार ठाकुर (अनुवादक) : `टाड कृत राजस्थान का इतिहास`, हिन्दी अनुवाद,पृ० ९०४ ।

३ रघुबीर सिंह : `पूर्व आधुनिक राजस्थान`,पृ०१६ ।

कहाँ तो समस्त भारतवासियों के हृदयों में यह तरंगें उठने लगी थीं कि सांगा के जैसे पराक्रमी महाराणा के छत्र तले एक विशाल हिन्दू-साम्राज्य स्थापित होने वाला है और कहाँ हिन्दू-साम्राज्य के स्थान पर हिन्दुओं की ही सहायता से विदेशी मुसलमान-साम्राज्य की नींव पड़ी । बाबर ने १५२६ई० में पानीपत के युद्ध में इब्राहीम लोदी को पराजित कर दिल्ली तथा इटावा,कन्नौज,जौनपुर,कालपी आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया । डा० अवधबिहारी पाण्डेय के शब्दों में --" पानीपत के पश्चात् इस युद्ध-अभियान को वह उस संधि के विरुद्ध समझता था, जिसके अनुसार बाबर और सांगा ने लोदी साम्राज्यको बांट लेने का निश्चय किया था । बाबर द्वारा कालपी,धौलपुर बयाना,आगरा आदि क्षेत्रों को हस्तगत कर लेना भी उसे विशेष रूप से खटकता था,क्योंकि इन प्रदेशों को वह अपने प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत समझता था [1]।" दूसरी ओर कुछ इतिहासकारों ने बाबर नामा से ध्वनित होने वाले बाबर के असन्तोष पर भी प्रकाश डाला है, जिसके अनुसार राणा सांगा द्वारा दिए गए आश्वासन के अनुसार अपेक्षित सहायता न मिलने पर वह असन्तुष्ट था [2]। श्री निवास चारी का विचार है कि प्रारम्भ में स्वदेश की ओर लौटने को उत्सुक मुगल सेना ने जब बाबर के अधूरे स्वप्न को पूर्ण करने का निश्चय किया तो उसे सुनकर सांगा को बड़ा धक्का लगा [3]।

उपर्युक्त परिस्थितियां राणा सांगा तथा बाबर के बीच होने वाले- स्वाभाविक संघर्ष की द्योतक हैं । राणा अपनी विशाल वाहिनी सेना लेकर बयाना होते हुए आगरा की ओर बढ़ा । आगरा से २३ मील दूर स्थित खानवा के मैदान में १७ मार्च सन १५२७ई० को उसका सामना बाबर की

---

१ डा० अवधबिहारी पाण्डेय : `पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास` पृ०सं०, अध्याय१४,पृ०३२८,शीर्षक- `बाबर की नीति`।

२ डा०ईश्वरीप्रसाद : `ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया`,पृ० २०७-७८

३ `मुगल भारत`संस्करण १९५०,पहला परिच्छेद,पृ०८ ।

सेना के साथ हुआ ।

खानवा के युद्ध-क्षेत्र में आग उगलती हुई मुगल तोपों ने राजपूतों के प्रमुख नेता मेवाड़ के महान प्रतापी शासक राणा सांगा की पराजय को ही सुनिश्चित नहीं बना दिया था, अपितु मध्यकालीन राजस्थान के अन्त की सुस्पष्ट घोषणा भी कर दी थी[1] । बाबर की व्यूह-रचना एवं आक्रमण करने की युद्ध-प्रणाली भी राजपूतों के लिए सर्वथा नई तथा उनकी सेना में पराजयजनक अस्त-व्यस्तता उत्पन्न कर देने वाली थी । वीर राजपूतों की युद्ध-विद्या के विकास के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ होने वाला था[2] । खानवा के युद्ध में महाराणा जख्मी होकर मूर्च्छित हो गए । खानवा की पराजय और महाराणा सांगा के एकाएक स्वर्गवास होने से मेवाड़ के गौरव को बड़ा धक्का लगा और उसके साम्राज्य के अनेक अंगों में अलग होने की प्रवृत्ति प्रकट होने लगी । सांगा के साथ मेवाड़ का गौरव भी चला गया । यद्यपि सांगा की मृत्यु के पश्चात् भी कुछ दिनों तक मेवाड़ की उन्नति के दो-चार चिन्ह दिखाई देते रहे, परन्तु वे चिन्ह डूबते हुए सूर्य की अन्तिम किरण के समान थोड़ी देर के लिए थे ।

<u>रत्नसिंह</u>

रत्नसिंह ने मालवा राज्य के अनेक क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था, अत: राणा सांगा के मरणोपरान्त मालवा शासक सुलतान महमूद ने अपने खोए हुए क्षेत्रों को मेवाड़ के से वापस लेने की चेष्टा करते हुए अपने सेनापति को मेवाड़ लूटने के लिए भेजा, किन्तु रत्नसिंह एक सजग शासक था, उसने तुरन्त ही मालवा पर धावा बोल दिया, फलस्वरूप सुलतान महमूद और सेनापति दोनों ही वापस लौट गए । इसी बीच गुजरात का सुलतान बहादुर शाह मालवा

---

१ रघुबीर सिंह : पूर्व आधुनिक राजस्थान, १९५१ई०,पृ० १५

२ "राजस्थान स्वतन्त्रता के पहले और बाद", पृ०३६ ।

पर आक्रमण करने हेतु बागड़ (डूंगरपुर राज्य में) से होकर निकला । उधर राजा रत्नसिंह मालवा को लूटकर लौट रहा था, सरावों की घाटी के पास सुलतान से उसकी मुलाकात हो गई । सुलतान ने राणा को ३० हाथी और कई घोड़े भेंट किए तथा राणा के समर्थकों को बहुत-सा उपहार दिया । कालान्तर में बहादुर-शाह ने मांडू (मालवा) के सुलतान महमूद को पराजित कर दिया और उसे कैद कर उसके राज्य को अपने गुजरात राज्य में मिला लिया ।

राणा रत्नसिंह बूंदी के राजा तथा अपने प्रतिद्वन्द्वी सूरजमल को समाप्त करना चाहता था । एक दिन शिकार खेलते हुए महाराणा, बूंदी जा पहुंचे और शिकार खेलने के लिए उन्होंने सूरजमल को भी आमंत्रित किया । राणा रत्नसिंह ने सूरजमल को घोड़े सहित अपने हाथी से कुचलना चाहा, किन्तु असफल रहे । परिणामत: दोनों में युद्ध हुआ और दोनों वीरगति को प्राप्त हुए । महाराणा का अन्तिम संस्कार पाटन में हुआ और उनके साथ रानी पंवार सती हुई ।

राणा संग्राम सिंह के चार पुत्र थे -- भोजराज, रत्नसिंह विक्रमादित्य और उदयसिंह । राणा सांगा का ज्येष्ठ पुत्र और प्रसिद्ध हिन्दी कवयित्री मीरांबाई का पति भोजराज अपने पिता महाराणा के जीवनकाल में ही काल कवलित हो गया था । राणा सांगा की मृत्यु (जनवरी, १५२८ई०) के पश्चात् उनका पुत्र रत्नसिंह ५ फरवरी सन १५२८ई० को चित्तौड़ के सिंहासन पर अभिषिक्त हुआ । महाराणा रत्नसिंह में अपने पराक्रमी पिता राणा सांगा की तरह वीरोचित गुण थे । वीरता, तेजस्विता आदि गुणों से विभूषित होना राजपूत राजाओं का प्रधान धर्म था । राणा रत्नसिंह इस विशेषता से रहित न थे ।

विक्रमादित्य

राणा रत्नसिंह नि:सन्तान था, अत: उसकी मृत्यु के पश्चात उसका छोटा भाई विक्रमादित्य राजगद्दी पर बैठा । उसके स्वभाव में बचपना

था । कर्नल टाड् के शब्दों में--" राणा संग्राम सिंह और राणा रत्नसिंह में जितने गुण थे, विक्रमादित्य में उतने ही अवगुण थे । उसमें अयोग्यता तथा अदूरदर्शिता थी । उसके इस प्रकार के अवगुण, सिंहासन पर बैठने के बाद इतने बढ़े कि राज्य के सभी मन्त्री और सरदार उससे असन्तुष्ट रहने लगे ।[1]" विक्रमादित्य ने सात हजार पहलवान रखे, जिनके गर्व से वह सरदारों की कुछ भी परवाह नहीं करता था । अतएव सभी सरदार अप्रसन्न होकर उससे असहयोग करते थे । इससे मेवाड़ की शासन-व्यवस्था भी प्रभावित हुई और सम्पूर्ण राज्य में अराजकता फैल गई । उसकी इस अयोग्यता के कारण मेवाड़ राज्य निर्बल पड़ने लगा । मीराबाई को भी राणा विक्रमादित्य ने बहुत कष्ट दिया था । राणा विक्रमादित्य की अयोग्यता से मेवाड़ की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी । मालवा-विजय के पश्चात् गुजरात का सुलतान अत्यधिक शक्तिशाली हो गया था । वह अपने राज्य-विस्तार के लिए रायसेन और चित्तौड़ पर अधिकार करना चाहता था । विक्रमादित्य के शासन-काल में बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर दो बार आक्रमण किया । रायसेन के किले पर अधिकार कर बहादुरशाह ने १५३३ई० में चित्तौड़ पर आक्रमण किया । विक्रमादित्य ने सन्धि का प्रस्ताव बहादुरशाह के समक्ष रखा, परन्तु उसने उसे अमान्य कर दिया । रानी कर्मवती ने मुगल सम्राट हुमायूं से सहायता मांगी, परन्तु वह भी न मिल सकी । रानी कर्मवती ने बहादुरशाह को मेवाड़ राज्य से मालवा के कई परगने आदि देकर सन्धि कर ली । बहादुरशाह गुजरात वापस लौट गया । इस पराजय के फलस्वरूप भी विक्रमादित्य का व्यवहार सरदारों के प्रति पूर्ववत् रहा, अतः कुछ सरदारों ने बहादुरशाह से मिलकर उसे चित्तौड़ पर आक्रमण करने के लिए पुनः उत्तेजित एवं उत्साहित किया ।

बहादुरशाह ने गुजरात और मालवा की संयुक्त सेना लेकर चित्तौड़ पर १५३५ई० में पुनः आक्रमण किया । बहादुरशाह और चित्तौड़ के सैनिकों में भयंकर युद्ध हुआ । आख्यानों से पता चलता है कि जब यह भयंकर युद्ध अपनी चरम

---

१ टाड्: "राजस्थान का इतिहास", अनु०-केशवकुमार, पृ०१०१ ।

सीमा पर पहुंच गया था, उसी समय मीरांबाई की मृत्यु हो गई । कुछ साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों ने यह मत भी प्रतिपादित किया है कि मीरांबाई उदयसिंह के शासन-काल तक जीवित रहीं, किन्तु यह अन्य साक्ष्यों के आलोक में समीचीन नहीं प्रतीत होता है । वीर राजपूतों ने केशरिया बाना पहनकर किले के द्वार खोल दिए और शत्रुओं पर टूट पड़े । दरबारियों के परामर्श से चित्तौड़ में शीघ्रता से जौहर व्रत की व्यवस्था की गई । कर्नल टाड के शब्दों में --" रानी कर्मवती तेरह हजार राजपूत ललनाओं के साथ जौहर व्रत के लिए सुरंग में जा पहुंच गई । उसके बाद तुरन्त सुरंग में आग लगाई गई और चित्तौड़ की १३ हजार राजपूत ललनाएं उस आग में जलकर राख हो गईं । उस समय युद्ध से राजपूतों की पराजय हुई[1] । बहादुरशाह की अदूरदर्शिता के कारण उसने अपने तोपखाने के अध्यक्ष रूमी खां को असन्तुष्ट कर दिया, जो कि बहादुरशाह के लिए बहुत ही घातक सिद्ध हुआ । हुमायूं ने रूमी खां को अपनी ओर मिलाकर बहादुरशाह पर आक्रमण किया और बहादुरशाह भाग गया । उसके पश्चात् मेवाड़ के सरदारों ने मुसलमानों से चित्तौड़ का किला छीन लिया । बूंदी से राणा विक्रमादित्य और उदयसिंह बुला लिए गए, किन्तु विक्रमादित्य के व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आया और अन्ततोगत्वा दासी-पुत्र बनवीर के षड्यन्त्र के शिकार हुए और उनकी हत्या कर दी गई । बनवीर उदयसिंह को भी समाप्त करना चाहता था, किन्तु पन्नाधाय ने उदयसिंह को यत्न से बचा लिया ।

उपर्युक्त मीरांयुगीन राजस्थान के चित्र से परिलक्षित होता है कि हिन्दू राज-शक्तियों ने स्वधर्म एवं स्वजाति के रक्षण का उद्देश्य सदैव सामने रखा । पाणिक्कर महोदय ने लिखा है--" धार्मिक विश्वास इस युग की राजनीति का सक्रिय अंग बन चुका था तथा प्रत्येक हिन्दू-शासक स्वयं को धर्मरक्षक तथा वीर सैनिक मानता था[2] ।" हिन्दू राजनीति में धर्म तत्व का प्रवेश इस्लामी सम्पर्क का

---

१ कर्नल टाड : 'राजस्थान का इतिहास', अनुवादक केशव ठाकुर, पृ० ९८०

२ के०एम० पाणिक्कर : 'ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री', सं० १९६०, अध्याय १६, पृ० १५७ ।

सीधा परिणाम है, किन्तु वास्तव में यह देश में राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने के लिए सहायक था। हिन्दू-शासकों ने मुस्लिम शासकों की भांति धार्मिक असहिष्णुता की नीति नहीं अपनाई। हिन्दुओं के इस पराधीनता एवं पराभव के युग में भी राजनैतिक क्षेत्र में हिन्दू प्रभाव समाप्त न हो सका। मालवा, बीदर, बरार, अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुंडा, खानदेश आदि सभी मुस्लिम राज्यों में भी स्थान-स्थान पर हिन्दू प्रभाव देखा जा सकता है। हिन्दू शासन के सिद्धान्त यहां कभी भी मिट न पाए[1]। मीरां युग में अनेक छोटे-छोटे हिन्दू राज्यों का अस्तित्व बना रहा। विशेषतः बुन्देलखण्ड एवं बघेल खण्ड तो दिल्ली या आगरा के किसी भी मुस्लिम शासक द्वारा पूरी तरह न जीते जा सके तथा उड़ीसा और बंगाल के उत्तर-पूर्व भाग का छोटी-छोटी हिन्दू रियासतें दीर्घकाल तक स्वाधीन रहीं। मीरां युग का एक अन्य उल्लेखनीय तथ्य यह है कि १६ वीं शताब्दी के आरम्भ से हिन्दू-मुस्लिम शक्तियां विदेशी आक्रमण के समक्ष एकत्र दिखाई पड़ती हैं। उदाहरणार्थ बाबर का सामना करते समय राणा सांगा की सेना में राजपूतों के अतिरिक्त मेवाड़ के मुस्लिम शासक हुसेन खां तथा दिल्ली के अन्तिम लोदी सम्राट के पुत्र ने सेना के एक एक भाग का नेतृत्व करते हुए राणा के नेतृत्व में मुस्लिम-शक्ति को भारत से बाहर निकालने के लिए प्राणोत्सर्ग किए थे[2]।

निष्कर्षतः अन्त में हम कह सकते हैं कि राजनैतिक क्षेत्र में दो भिन्न वर्गों से सम्बन्धित शक्तियों का स्वभाव संगठित होना उसके अन्तर्गत एक नवीन सद्भाव के बीजक्षेत्र को सूचित करता है, जिसका उचित विकास अकबर के शासन-काल में विशेषरूप से परिलक्षित होता है।

<u>सामाजिक परिस्थिति</u>

बाह्य आक्रमणों के फलस्वरूप विदेशी शासन की स्थापना होना भारत के लिए कोई नवीन बात न थी। मुसलमानों के पूर्व ग्रीक, पर्शियन, शक,

---

१ डा०ईश्वरीप्रसाद : 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता', सं० १६५०ई०, अध्याय१४, पृ०४३३-४३४।

कुषाण, हूण, आदि कितनी ही विदेशी जातियों ने भारत में अपने राज्य स्थापित किए थे, किन्तु वे जातियां भारतीय संस्कृति की समन्वयवादी मनोवृत्ति होने के कारण अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खोकर भारतीय समाज में घुल-मिल गईं । भारतेन्दुयुगीन भारत में प्रधानत: दो प्रकार के समाज थे--(क) प्रथम प्राचीनकाल से निवास करने वाला भारतीय परम्परा पर प्रतिष्ठित हिन्दू समाज और दूसरा कई शताब्दियों पूर्व विजेता के रूप में आया हुआ बलात् धर्म-परिवर्तन कराने की नीति अपनाने और शासन के महत्वपूर्ण स्थानों पर प्रतिष्ठित मुस्लिम समाज । मुसलमानों के आने के पश्चात् यहां के हिन्दू समाज का ढांचा भी पूर्ववर्ती ढांचे से थोड़ा भिन्न हो गया । मुसलमान अपने साथ व अपूर्व जीवनी-शक्ति तथा अनेक नई महत्वाकांक्षाएं लेकर भारत में आए। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार --`उनके समाज में अन्तर्जीवन की उदारता तथा कम-से-कम प्रतिबन्धों के कारण स्वयं की सुरक्षा के साथ ही अन्य धर्मी समाज को सरलता से आत्मसात् कर लेने की अद्भुत क्षमता भी थी और इस विशेषता के कारण भारत ही नहीं, अपितु संसार के अन्य देशों में उक्त धर्म तथा समाज का प्रसार एवं विस्तार प्रबलता से हुआ`[१] । हमारे आलोच्य युग में स्पष्टत: दो बड़े समाज (हिन्दू एवं मुस्लिम) दृष्टिगत होते हैं । इन दोनों में से हिन्दू समाज पर यहां विचार करेंगे ।

<u>हिन्दू समाज</u>

इस युग में हिन्दू समाज की दयनीय स्थिति होने के कारण हिन्दू अपने उदात्त आदर्शों का प्रतिपादन नहीं कर सके । निरन्तर युद्ध-संघर्ष तथा मुस्लिम-शासकों के दुर्दमनीय आतंक के कारण हिन्दू समाज भाग्यवादी और अकर्मण्य बन गया । समाज में अनेक प्रकार की कुप्रथाएं चल पड़ी थीं, किन्तु कुछ हिन्दुओं, विशेषत: राजपूतों में ईमानदारी तथा राष्ट्रीय भावना के चिन्ह स्पष्टरूप से परिलक्षित होते हैं । अपमान, अमानुषिक व्यवहार और अत्याचारों द्वारा

---

१ डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : `भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास`, सं० १९५१ई०, अध्याय३४, पृ०५८० ।

मुस्लिम शासन-व्यवस्था ने हिन्दुओं को इतना पतित एवं निराश बना दिया था कि वे पुन: उठने में असमर्थ थे। समाज की ऐसी दयनीय स्थिति और उसमें व्याप्त अनेक प्रकार के अवगुण के बावजूद भी हिन्दुओं में सत्यनिष्ठा विद्यमान थी। उनमें दान-धर्म और पुण्य की भावनाएं भी थीं। वे अतिथि-सत्कार को अपना परम धर्म समझते थे। अपने पूर्वजों को ऋण-मुक्त करना पुण्य समझा जाता था[1]। हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों के द्वारा अमानुषिक व्यवहार किए जाने पर भी हिन्दू अपनी पूर्वगत परम्परा को किसी-न-किसी रूप में प्रचलित किए रहने की ओर बराबर कुछ प्रयत्नशील रहे[2]।

वर्ण व्यवस्था

भारत के सामाजिक जीवन की आधार-शिला के रूप में दीर्घकाल से प्रतिष्ठित वर्ण-व्यवस्था इस युग के चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व ही विशृंखलित होकर अनेक पेशेवर जातियों तथा उपजातियों में परिवर्तित हो गई[3]। कुछ लोग जहाँ ब्राह्मण होने के कारण देवतुल्य, पवित्र एवं आदरणीय समझे जाते थे, वहाँ चाण्डालादि जातियों के लोग इतने अपवित्र और उपेक्षणीय माने जाते थे कि उनकी छाया तक से उच्च वर्ण के लोग दूर रहने का प्रयत्न करते थे। यदि ब्राह्मण चाण्डाल से वार्तालाप कर ले, उसे छू ले, यात्रा में उसके साथ रहे, चाण्डाल के तालाब अथवा कुएं से पानी ले ले, चाण्डाल के घर में रह ले, तो उसे स्नान करना, कपड़े को स्वच्छ करना तथा तप एवं पूजा आदि भी करना पड़ता था। वर्ण-व्यवस्था की कुछ जातियों, ^और^ उपजातियों के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्णय कभी-कभी बड़ी कठिनाई के साथ किया जा सकता था। शूद्रों के प्रति कठोरता के व्यवहार में कमी न आ सकने के कारण उनका अधिकांश भाग उच्च वर्णों का पूरा सहयोग न कर पाता था। अपनी सामाजिक व्यवस्था तथा शासकीय दुर्व्यवहार से असंतुष्ट

---

१ बी०एन० लुनिया : "पूर्व मध्यकालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास", पृ०६०७।

२ ^सं.^ परशुराम चतुर्वेदी : "हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास", सं० १९५८^ई.^, पृ०६३।

३ वासुदेव उपाध्याय : "पूर्व मध्यकालीन भारत" अध्याय४, पृ०३१६-३२० ।

रहने पर कभी-कभी बहुत से हिन्दुओं को बलात् धर्मान्तरित होना पड़ता था । अस्पृश्य जातियों के सम्बन्ध में डा० दिनकर जी का मत है कि वे बहुत बड़ी संख्या में ब्राह्मणों की व्यवस्था से पीड़ित होकर इसलिए मुसलमान हो गईं, क्योंकि वैसा करके वे अस्पृश्यता के विषय में हिन्दुओं से बराबरी का दावा कर सकती थीं और हिन्दुओं के धर्म-परिवर्तन का प्रधानतया यही कारण था[1] ।

मीरांयुगीन भारत के उच्चवर्गीय समाज में ब्राह्मण, राजपूत (क्षत्रिय), कायस्थ एवं वैश्यों को स्थान प्राप्त था । प्राचीनकाल से चली आने वाली वर्ण-व्यवस्था की कठोरता अब दृष्टिगत नहीं होती थी । ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन तथा पुरोहित कर्म के अतिरिक्त कृषि कर्म तथा शासकीय पदों पर भी कार्य करने लगे थे । राजपूतों (क्षत्रियों) का प्रधान कर्म युद्ध करना एवं देश-रक्षा समझा जाता था, किन्तु वे भी इस समय विभिन्न वर्णों के कर्मों को करने लगे थे । वैश्यों का मुख्य कर्म कृषि एवं वाणिज्य था, किन्तु राजनैतिक परिस्थितियों को बदलते देख वे राजकीय कार्यों में भी रुचि लेने लगे थे । कायस्थ जाति के लोग मुख्यतः सचिव, मुंशी, लिपिक, लगान अधिकारी आदि ऊंचे पदों को सुशोभित करते थे । मुख्यतः बंगाल में कुछ निम्न जातीय हिन्दुओं ने अपना धर्म-परिवर्तन कर लिया था और वे मुसलमान हो गए थे । काश्मीर तथा पंजाब में कुछ उच्चवर्गीय हिन्दुओं को परिस्थितिवश विवश होकर मुसलमान होना पड़ा था । मीरांयुगीन भारत में अनेक उपजातियां मिलती हैं, जैसे काश्मीर के ब्राह्मणों में बागा तथा मुल्ला, गुजरात में कायस्थों की उपजाति मुन्शी, बिहार व आगरा में कानूनगो तथा रायजादा ।

स्त्रियों की दशा

मीरांयुगीन भारत में स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी । प्राचीन भारत के हिन्दू समाज में स्त्रियों को जो स्थान प्राप्त था, वह इस युग में न के बराबर हो गया था, किन्तु हिन्दू लोग नारी को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे । "स्त्रियों के पावन रनिवास में प्रवेश कर उनके पति की हत्या करने का

---

1. रामधारी सिंह दिनकर : 'संस्कृति के चार अध्याय', द्वितीय सं०, तीसरा अध्याय

साहस भी किसी अत्याचारी को नहीं होता था । प्रायः पुत्रियों का जन्म अवांछित होता था । मुसलमानों के शासन-काल में तो हिन्दू-नारियों की दशा और भी शोचनीय हो गई थी । डा० मजूमदार के शब्दों में--"नारी जाति का अपने स्वामियों एवं अन्य पुरुष-सम्बन्धियों पर आश्रित रहना उस युग के सामाजिक जीवन का प्रधान लक्षण था तथा दाम्पत्य जीवन के अन्तर्गत उनसे दृढ़ पतिव्रत धर्म की अपेक्षा की जाती थी ।"[1] हिन्दू-नारी समाज में बाल-विवाह, पर्दा, सती, बालिका-वध, जौहर आदि कुप्रथाएं प्रचलित थीं । मुस्लिम-समाज द्वारा हिन्दू-कन्याओं के अपहरण तथा विलासी मुस्लिम-शासकों, अधिकारियों, राजकर्मचारियों तथा सैनिकों के अनैतिक आतंक, विलासिता एवं कामुकता के कारण हिन्दुओं में बाल-विवाह तथा बालिका-वध की कुप्रथाएं भी प्रचलित हो गईं ।[2] इस युग में प्रायः स्त्रियों का अपने निवास-गृह से बाहर निकलना खतरे से खाली नहीं समझा जाता था, इसलिए स्त्रियों की स्वतन्त्रता और अधिकार कम कर दिए गए थे । स्त्रियों में भी स्वाभिमान की भावना समाप्त हो गई थी । प्रतिबन्ध के कारण उनका कार्य क्षेत्र घर की चहारदीवारी तक ही सीमित रह गया । मुस्लिम-प्रभाव के कारण हिन्दू समाज में भी स्त्रियां विलास की सामग्री मात्र रह गई थीं । स्त्रियों की स्वतन्त्रता बहुत कुछ सीमित हो गई थी । इस युग में बहुविवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह भी होने लगे थे । सती-प्रथा तत्कालीन नारी-समाज का प्रमुख अंग बन गई थी और यह सती प्रथा नारियों के जीवन को नारकीय बनाती जा रही थी । इस युग में सती और आत्म-बलिदान की प्रथा प्रचलित थी, किन्तु बिना राजाज्ञा प्राप्त किए कोई भी स्त्री सती नहीं हो सकती थी । पति की मृत्यु हो जाने पर उसकी सभी पत्नियां एकसाथ सती हो जाया करती थीं ।

---

१ डा० आर०सी० मजूमदार एण्ड डा० एच०सी० राय चौधरी : "द ऐन एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया", भाग २, अध्याय ६, पृ० ४०० ।

२ डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : "भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास", भाग २, अध्याय २८, पृ० ६०७ ।

हिन्दू-स्त्रियां मुसलमानों से अपने सतीत्व और धर्म की रक्षा के लिए अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी चिता पर जीवित जलकर सती होना श्रेयस्कर समझती थीं। यदि श्मशान में स्त्री चिता में जलने से डरती थी तो उसके सम्बन्धी उसे बलात् अग्नि में गिरा देते थे। उस समय यह धारणा चली आ रही थी कि सती होना स्त्रियों का कर्तव्य है। इसी प्रकार मर्यादा की रक्षा के लिए प्राय: युद्धों के समय हिन्दू-नारियों द्वारा अपनाया जाने वाला `जौहर` राजपूताने में प्रचलित था ही,[1] किन्तु देश के अन्य भागों में भी उसके उदाहरण मिलते हैं। राणा विक्रमादित्य के समय का जौहर तो सर्वप्रसिद्ध है ही। हिन्दू नारियों में सती तथा जौहर की प्रतिष्ठा से प्रकट है कि इस युग में भी उनके सतीत्व का आदर्श अभी जीवित था, जो कि प्रकारान्तर से यह भी घोषित करता है कि वे आत्म-गौरव सम्पन्न थीं। स्त्रियां अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए प्राण तक दे देती थीं। हिन्दू-विधवाओं को पुन: विवाह करने का अधिकार नहीं था। उन्हें वैरागी तपस्विनियों-सा जीवन, भयानक यातना और अपमान के साथ व्यतीत करना पड़ता था।

वेश भूषा

मीरांकालीन हिन्दू समाज में विभिन्न वस्त्र प्रयोग होते थे। ऊनी, सूती, रेशमी वस्त्रों का प्रचलन था। शाही तथा अन्य उच्च वर्ग के लोगों में विभिन्न रंगों के बहुमूल्य कीमती वस्त्रों का उपयोग किया जाता था और उनको सुनहले तथा बेल-बूटों से अलंकृत किया जाता था। उत्तर भारत में पुरुष धोती पहनते थे और सिर पर पगड़ी या साफा भी बांधते थे। स्त्रियां साड़ी पहनती थीं। सामान्य परिवार की स्त्रियां लुंगी आधी कमर में बांधती थीं और आधी सर में ओढ़ती थीं। अच्छे तथा उच्च कुल के लोग जैकेट पहनते थे। चारपाई दरियों पर जरी के किनारे वाली सफेद चादर बिछाकर सोते थे। कुछ स्त्रियां पतली लड़ी की चोलियां पहनती थीं। लोग मखमली चप्पलें भी पहना करते थे। आम लोग नंगे पांव घूमते थे।

१ डा०के०एम० अशरफ : `लाइफ एण्ड कण्डीशन आफ दि पीपुल आफ हिन्दुस्तान` भाग१,पृ०१८८-९०,शीर्षक—` जौहर`।

कक
आभूषण

आभूषणों के प्रति सभी को आकर्षण था और अनेक प्रकार के विभिन्न धातुओं के सामान्यतया रत्नजटित आभूषण तैयार किए जाते थे, जिनको मस्तक तथा चोटी से आरम्भ करके पैर की उंगलियों तक लगाया जाता था। आभूषणों की सुविधा के लिए नाक-कान में अनेक छिद्र किए जाते थे और शरीर का शायद कोई ही ऐसा भाग हो, जिसके उपयुक्त कोई-न-कोई आभूषण न हो। इस कालकी देवी-प्रतिमाओं में आभूषणों के बाहुल्य दिखाई पड़ते हैं।

आमोद-प्रमोद

मीरांयुगीन भारत में आमोद-प्रमोद के अनेक परम्परागत साधन प्रचलित थे। होली, बसन्तोत्सव, ह- दीपावली, रक्षा-बन्धन आदि त्यौहार खूब आनन्द और उत्साह के साथ मनाये जाते थे। इसके अतिरिक्त संगीत, नृत्य, कला प्रदर्शिनियाँ, नाटक-मण्डलियों के द्वारा भी मनोरंजन होता था। द्यूत, शिकार, मल्लयुद्ध, पशुओं की लड़ाइयां आदि भी मन बहलाने के साधन थे। बांसुरी, वीणा ढोल इत्यादि मीरांयुगीन प्रसिद्ध वाद्य थे। छोटे बच्चे गेंद इत्यादि खेलते थे। यह सब सुख प्रधानतः उच्च वर्गों के लिए ही उपलब्ध थे, परन्तु निम्नश्रेणी के लोग आर्थिक संकट की अवस्था में भी अपने ढंग से मनोरंजन के साधन जुटा लेते थे। उनमें सस्ती मदिरा का उपयोग होता था, लोक-नृत्यों का चलन था और अनेक लोग कुश्ती तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रों के उपयोग में दक्ष होते थे।

खान-पान

जैन, बौद्ध और वैष्णव धर्मों के प्रभाव के कारण अधिकांश हिन्दू-परिवारों में शाकाहारी तथा निरामिष भोजन का ही प्रचार था। धीरे-धीरे राजपूतों में सामिष भोजन की ओर रुचि बढ़ने लगी। शूद्रों में भी मांस मछली खाने का प्रचलन था। भोजन बनाने की कला की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था और उत्सवों, पर्वों तथा अतिथियों के सत्कार के समय विभिन्न प्रकार के सुस्वादु व्यंजन तैयार किए जाते थे। दूध, घी, मक्खन आदि को भोज्य पदार्थों में

विशेष सम्मान दिया जाता था । हिन्दू समाज के कुछ व्यक्ति मृत पशुओं का भी मांस खाते थे और ऐसे कम जाव थे, जिसका मांस उपलब्ध होने पर न खाते हों[1]। ऐसे लोगों को समाज के अन्य लोग गन्दा मानते थे । लोग मदिरा तथा अन्य मादक द्रव्यों का प्रयोग करते थे । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ढाढी लोग एवं राजियां इत्यादि मद्यपान करते थे । सामान्य स्त्रियों के लिए मद्यपान वर्जित था । कुछ लोग मद्य बेच नहीं सकते थे, किन्तु उसका सेवन कर सकते थे । उच्च वर्ग में विलासिता के बढ़ने के साथ-साथ मदिरा और अफीम का प्रयोग और भी अधिक बढ़ गया । राजपूत अफीम का प्रयोग अत्यधिक करते थे । हिन्दू अतिथि-सत्कार के लिए प्रसिद्ध थे ।

अतएव मीरांयुगीन भारत में हम सामाजिक जीवन का विश्रृंखल विभाजन और विघटन पाते हैं । राजवंशों की स्थानीयता और जातीयता, धार्मिक साम्प्रदायिकता, अन्धविश्वास, आचार-विचार की संकीर्णता, रूढ़िवादिता और परम्परावाद, अतीत का अत्यन्त आग्रह, संग्रह और संरक्षण, आत्मविश्वास का अभाव आदि विशेष उल्लेखनीय हैं । बीच-बीच में पुनरुत्थान और पुनर्संगठन के प्रयास पाए जाते हैं ।

आर्थिक परिस्थिति

प्राचीनकाल से ही सम्पूर्ण विश्व में भारत 'स्वर्ण-विहग' नाम से प्रसिद्ध रहा है । भारत की आर्थिक सम्पन्नता तथा समृद्धि की कहानी सुनकर अनेक विदेशी धन-लोलुप आक्रमणकारी भारत का अतुल-सा धन अपने देशों में उठा ले गए । महमूद गजनवी का नाम धन लूटने वालों में अग्रगण्य है । महमूद गजनवी के पश्चात् तो मुसलमान आक्रमणकारियों ने भारत की राजनीतिक विशृंखलता का लाभ उठाकर भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना कर दी । भारत से धन प्राप्त करने के लिए समय-समय पर अफगान और मंगोल आक्रमण करते रहे । मीरांकालीन भारत भी ऐसे विदेशी आक्रमणकारियों का शिकार हुआ । मीरां के जीवन-काल में ही १५२६ई० में मुगल

---

1 अवधबिहारी पाण्डेय : 'पूर्व मध्यकालीन भारत', पृ०४२७ ।

सम्राट बाबर ने दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को पराजित कर भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाली । निरन्तर आक्रमण एवं लूट-पाट का भारत की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा । आर्थिक दशा दिन-प्रति-दिन बिगड़ती चली गई ।

मीरांयुगीन भारत में दो प्रकार के प्रदेश थे --

(क) हिन्दू राजाओं द्वारा शासित प्रदेश ।

(ख) मुसलमान सुलतानों द्वारा शासित प्रदेश ।

उपर्युक्त दोनों प्रदेशों में स्थानीय शासन की स्वतन्त्रता के कारण उद्योगों का संगठन प्राय: राजनैतिक परिस्थितियों से अप्रभावित तथा लगभग एक रहा । भारत की अधिकांश जनता ग्रामों में ही रहती चली आई है और ग्रामीण सम्पर्क से प्राय: सभी मुस्लिम शासक सदैव दूर रहे, किन्तु हिन्दू शासकों ने उनसे निकट का सम्पर्क रखने के साथ-साथ प्रजा के हित का भी ध्यान रखा । शासित जनता के प्रति अपनाई गई नीति के विचार से हिन्दू तथा मुसलमान शासकों के दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर था । हिन्दू -शासक अपनी शक्ति का आधार शासित जनता की सुव्यवस्था तथा सुख-समृद्धि को मानते थे, जब कि इसके ठीक विपरीत अकबर के पूर्ववर्ती प्राय: सभी मुस्लिम सुलतान इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देते थे ।

<u>हिन्दू-नरेशों द्वारा शासित प्रदेशों की आर्थिक परिस्थिति</u>

इस युग में मेवाड़ तथा राजपूताने की अन्य रियासतें, गोंडवाना, उड़ीसा एवं दक्षिण में स्थित विजयनगर आदि प्रमुख हिन्दू राज्य थे । इन राज्यों की प्रजाएं स्वदेशी थीं और उनके समय यह बात सुस्पष्ट थी कि उनके प्रदेश का शासन जितना अधिक व्यवस्थित, दृढ़ तथा धन-धान्य से समृद्ध एवं सुखी होगा, उतनी ही शक्तिपूर्वक वे विदेशी आक्रमणों का सामना कर सकेंगी । विजयनगर के शासकों ने शान्ति एवं सुव्यवस्था की प्रतिष्ठा कर सांस्कृतिक उन्नति के साथ-साथ देश को धन-धान्य से समृद्ध कर दिया[१] । प्राचीनकाल से चली आ रही शासन-प्रणाली को

१ डा० ईश्वरीप्रसाद : 'मध्यकालीन भारत का इतिहास', सं० १९५९-६०, पृ० ४५३।

ज्यों-का-त्यों चलने देने के कारण यहां के व्यावसायिक संगठन निर्बाध रूप से चलते रहे, व्यापार की उन्नति होती रही । कृषि की उन्नति की ओर भी शासकों ने ध्यान दिया । जनता की सुख-शान्ति का अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस युग के सर्वोत्कृष्ट एवं उदार नीति वाले मुस्लिम-शासक अकबर के शासनान्तर्गत आने वाले गोंडवाना जैसे अनेक राज्यों की जनता पहले के हिन्दू राज्यों की तुलना में दु:खी थी[1] ।

मीरांकालीन राजस्थान की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती । वहां की तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार था, अन्न का उत्पादन और वितरण । राजपूताने की रेतीली और पहाड़ी जमीन वैसे ही अनुपजाऊ थी । वर्षा की कमी तथा यातायात के साधनों की सीमितता के कारण यह क्षेत्र और भी अव्यवस्थित रहता था । प्राय: अकालों से यह प्रदेश सदैव संत्रस्त रहता था । राजस्थान में प्राय: हर तीसरे वर्ष अकाल पड़ता रहता था । अतएव राजस्थान के शासक अकाल से जनता की रक्षा के लिए पेय-जल एवं सिंचाई आदि की उचित व्यवस्था करते थे । १६ वीं शताब्दी के राजस्थान में राजा समस्त भूमि का एकछत्र स्वामी था । जागीरदार उसकी व्यवस्था के स्तम्भ थे । सेना उस समय राज्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग थी । वे अपने राज्य का कार्य और शासन चलाने के लिए जनता से कर लेते थे । भूमि-लगान सबसे महत्वपूर्ण कर होता था । मीरांकालीन भारत में कर अधिक लगाए जाते थे, किन्तु मुस्लिम शासकों की अपेक्षा हिन्दू-शासक अधिक उदार थे । वे प्राचीनकाल से चली आ रही पद्धति के अनुसार ही कर लेते थे और प्रजा उन्हें अपना रक्षक समझकर `कर` देती थी । हिन्दू शासक मुस्लिमों (मुसलमानों) की भांति अत्याचारी नहीं होते थे । वे प्रजा के सुख-दु:ख का ध्यान रखते थे । हिन्दू-शासक सड़कों, यातायात के साधन, सराय, डाक इत्यादि की व्यवस्था भी करते थे । वे धर्म को प्रोत्साहन देते थे और मन्दिरों का निर्माण करते थे । उत्सवों और त्योहारों पर शाही खजाने से सारा खर्च किया जाता था । निम्नवर्गीय हिन्दुओं की स्थिति शोचनीय थी, किन्तु मुस्लिम शासित प्रदेशों के निम्नस्तरीय

---

१ वी०ए० स्मिथ : "अकबर दि ग्रेट मुगल", हिन्दी०, पृ० ३४६ ।

लोगों की अपेक्षा वे अधिक सुखी थे ।

मुसलमान शासकों द्वारा शासित प्रदेशों की आर्थिक स्थिति

मध्ययुग में दिल्ली सल्तनत दीर्घकाल तक भले ही विशृंखलित रही हो, किन्तु अनेक छोटे-बड़े मुस्लिम राज्य हिन्दू राज्यों की तुलना में सदैव अधिक व्यवस्थित रहे । जहां तक मुस्लिम-शासित प्रदेशों के आर्थिक स्रोतों का प्रश्न है, इतिहास के अन्तर्गत कृषि-विस्तार, अनेक प्रकार के उद्योग-धंधों तथा व्यापारिक उन्नति के वर्णन मिलते हैं, किन्तु देश की सामान्य जनता की आर्थिक समृद्धि का अनुमान उनके आधार पर करना भ्रामक होगा । अकबर के पूर्वकालीन मुस्लिम-सुलतानों का दृष्टिकोण तो शासित जनता को अभावग्रस्त, विपन्न तथा आर्थिक दृष्टि से पंगु बनाए रखने का था ।

अकबर के पूर्ववर्ती तथा बहमनी राज्य के समकालीन सुलतान प्रजा पर लगाए गए अन्य अनुचित करों के बल पर अनेक विश्वसनीय सेनाएं रखते थे,[1] जो कभी-कभी किसानों को हजारों की संख्या में कत्ल करने के लिए टूट पड़ती थीं । इस युग में उद्योग-धन्धों तथा व्यापार की पर्याप्त उन्नति हुई, जिससे कर्मकारों तथा व्यापारियों की आर्थिक स्थिति समृद्ध हुई । यह सही है कि मुहम्मद तुग़लक, फीरोज तुग़लक, इब्राहीम शाह शर्की जौनपुरी और सिकन्दर लोदी के शासन-काल में भी वस्तुएं बड़ी सस्ती थीं । इब्राहीम लोदी के शासन-काल में एक बहलोली मुद्रा का १० मन अनाज मिलता था । बहलोली एक पैसे का वजन १ तोला आठ माशा ४ रत्ती था । यदि कोई सवार देहली से आगरा तक की यात्रा करता तो केवल एक बहलोली मुद्रा घोड़े और सार्थ के व्यय के लिए पर्याप्त था ।

मूरलैंड के अनुसार—"तेरहवीं शती से लेकर अठारहवीं शती तक के मुस्लिम शासन के मूलाधार दो थे—कृषक तथा सैनिक शक्ति । सम्राट एवं सैन्य शक्ति दोनों की आर्थिक निर्भरता कृषकों पर ही थी, किन्तु जहां इस काल में मुसलमान एवं राज्याधिकारी सम्पन्नता एवं विलासिता का जीवन बिताते थे, वहीं

---

१ डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : "भारतीय संस्कृति और उसका विकास", [illegible]

कृषकों की स्थिति दयनीय थी।[1]" १६ वीं शताब्दी का भारतीय किसान अनेक छोटे-बड़े मुस्लिम राज्यों के शासन की चक्की में पिसता हुआ परम्परागत समस्याओं के विकराल रूप का सामना भी करता रहा है। दक्षिण भारत के मुस्लिम शासन के अधिकार में रहने वाले कृषकों के प्रति भी कर-नीति ही यह अपनाई जाती थी। "वहां जो वार्षिक नीलामी की प्रथा प्रचलित थी, उसका सर्वाधिक भार कृषकों पर ही जाता था। लेकिन साथ ही शोषण को केवल इतने तक ही सीमित रखा गया था, क्योंकि यह भी भय था कि कहीं वे विद्रोह न कर बैठें अथवा भूमि छोड़कर चले न जायं।[2]" मीरांयुगीन भारत की परिस्थितियां शिथिल तथा कृषकों के लिए प्रतिकूल ही थीं। मुरलैंड के अनुसार इस समय की अधिकांश बराबर परिस्थितियों में अफगान सुल्तान तथा उनके जागीरदार यथासम्भव प्राप्त भूमि-कर से सन्तुष्ट थे, किन्तु उनका दावा तथा प्रयत्न यही रहा कि वे बलपूर्वक अधिकाधिक कर वसूल कर सकें।[3] युद्धों, विद्रोहों तथा नए प्रदेशों की विजय का अभियान करने वाली सेनाओं के कारण इस युग में कृषकों के लिए यह सम्भव भी नहीं रह गया था कि वे शान्ति एवं निश्चिन्ततापूर्वक खेती में लगे रह सकें। इस युग में एक अन्य व्यवस्था भी थी, जिसके अन्तर्गत ग्रामों के मुखिया और चौधरी से कर-वसूली में सहायता ली जाती थी। इसके कारण आर्थिक शोषण और बढ़ जाता था।[4] भूमि का जागीरदारी की प्रथा को जिसके दुष्परिणामों के पीछे निर्दिष्ट किया जा चुका है, बाबर ने ज्यों-का-त्यों चलने दिया और किसानों को इसका जो दुष्परिणाम प्रायः पूरे समय भोगना पड़ा, उसका परिचय इस बात से प्राप्त किया जा सकता है कि वे अर्थ-संकट से त्रस्त होकर उन ग्रामों को छोड़कर भाग खड़े होने को विवश हो जाते थे, जहां कि वे वर्षों से निवास करते आ रहे थे।[5] इसके उपरान्त शेरशाह ने अपने पंचवर्षीय

---

१ डब्ल्यू०एच०मुरलैंड : "दि एग्रेरियन सिस्टम आफ मुस्लिम इण्डिया", भूमिका, पृ०११

२ वही, अध्याय३, पृ०६८

३ वही, अध्याय३, पृ०७२

४ डा०एच०आर० शर्मा : "मुगल एम्पायर इन इण्डिया" अध्याय५, पृ०११२।

५ डा०आर०सी० मजूमदार एण्ड एच०सी०राय चौधरी : "एन एडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया" अध्याय६, पृ०३६६।

(सन् १५४०-१५४५ई०) शासन-काल में उपर्युक्त भ्रष्टाचार एवं तज्जन्य शोषण को रोकने का यत्न किया, किन्तु जैसा कि डा० रामप्रसाद त्रिपाठी का मत है कि वह पर्याप्त सफल न हो सका[१]। अधिक-से-अधिक इतना स्वीकार किया जा सकता है कि इन चार-पांच वर्षों में उन्हें आंशिक राहत मिली होगी ।

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि जन-जीवन की आर्थिक व्यवस्था सामान्यत: सन्तोषजनक थी । किन्तु उदार वृत्ति के शासक जनहित का भी ध्यान रखते थे । कुछ शासकों का विचार था कि यदि जनता दु:खी होगी तो उनका शासन विघ्न-रहित नहीं रहेगा और शांति-भंग होने का भय सदैव बना रहेगा । अत: जनहित को ध्यान में रखते हुए हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों शासक अपनी आय का प्रयोग करते थे । सरकार द्वारा उद्योगों, कृषि, व्यापार, बागों आदि का विकास होता था, किन्तु साम्राज्य की सुरक्षा को सर्वोपरि स्थान प्रदान किया गया था ।

धार्मिक परिस्थिति

जब से हमें मनुष्य की भावनाओं और विचारों का कुछ भी ज्ञान हुआ है, तबसे हम देखते हैं कि उसपर धर्म का प्रभाव है या वह धर्म से अभिभूत है । ऐतिहासिक प्रवाह निरन्तर गतिशील रहता है, किन्तु इस प्रगतिशील प्रवाह में कुछ ऐसे युग होते हैं, जो अपना अमिट प्रभाव चिरकाल के लिए परवर्ती युगों पर छोड़ जाते हैं । इसीलिए ईसा के पश्चात् पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी भारतीय संस्कृति के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती है । इस युग का प्रभाव इतना गहरा पड़ा कि अद्यावधि भारतीय संस्कृति के विविध क्षेत्रों में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से इसके संयोजक तत्वों की उपलब्धि होती है । मध्ययुगीन मुस्लिम-शासकों ने भारत में दूर-दूर तक विजय प्राप्त कर बिखरी शक्तियों को सम्पुट में बांधने का प्रयास किया । हिन्दुओं की शक्ति क्षीण हो गई थी, परन्तु उनकी आस्था जीवित थी और वे पुन: उठने का प्रयास कर रहे थे ।

१डा० रामप्रसाद त्रिपाठी : 'सम आस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन', पृ०३०५।

मीरां का अवतरण भक्ति-आन्दोलन के सुदृढ़ आधार-शिला पर हुआ था । मीरांयुगीन भारत की राजनैतिक स्थिति अनिश्चित थी। इस युग में प्रधानतः दो प्रकार के धर्म थे -- एक तो शाश्वत हिन्दू धर्म और दूसरा कई शतियों पूर्व विजेता के रूप में प्रविष्ट हुआ इस्लाम धर्म ।

हिन्दू धर्म एवं सम्प्रदाय

हिन्दू धर्म मीरांकाल तक अनेक सम्प्रदायों एवं उपसंप्रदायों में विभक्त हो गया था । इस्लाम के सम्पर्क एवं संघर्ष में आकर इस धर्म का स्वभावतः अपना आत्म-निरीक्षण करना आवश्यक ज्ञात पड़ने लगा था, जिसके फलस्वरूप मीरांयुगीन भारत में a धार्मिक सुधार की प्रवृत्ति भी जाग्रत हो चुकी थी ।

इस युग में वैष्णव और शैव ब्राह्मण- धर्म के दो सम्प्रदाय थे । इसके अतिरिक्त सूफी एवं सन्त मत, बौद्ध, जैन धर्म एवं सिक्ख सम्प्रदाय का भी उल्लेख मिलता है । मीरां का प्रादुर्भाव भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठभूमि में हुआ था। भक्ति-आन्दोलन के कारण "निर्गुण" तथा "सगुण" दो प्रमुख भक्ति-धाराएं प्रकट हुई । भक्ति-आन्दोलन का प्रादुर्भाव प्रथमतः दक्षिण भारत ही में हुआ था, किन्तु उत्तर भारत में उसका जो स्वरूप देखने में आया, वह अपने मूल स्थान से भिन्न था । वैष्णव सम्प्रदाय यहां के भोक्ता-साधकों का एक साधन मार्ग बन गया और उसके प्रति जनता के हृदय में अगाध भक्ति और अटूट श्रद्धा उत्पन्न हो गई । इन समस्त धार्मिक सम्प्रदायों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना परमावश्यक है ।

निर्गुण

निर्गुण भक्ति के विकास के मूल में अवतारवाद की उपेक्षा थी । इसकी जो सबसे बड़ी विशेषता थी, वह यह कि इसने अपना प्रचार ऐसी जनता में किया जो निम्नश्रेणी की समझी जाती थी और जिसे शास्त्रसम्मत धर्म में भाग लेने का अधिकार नहीं मिला था । निर्गुण भक्ति के प्रवर्तकों ने उपेक्षित

और अपमानित जनता में आत्म-गौरव का भाव जगाकर उस समय भक्ति-आंदोलन को पूर्णता प्रदान की, नहीं तो देश का एक बहुत बड़ा समाज भारतीय चिन्ता-धारा से कटकर दूर जा पड़ता। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार —"यह सामान्य भक्तिमार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रह्मवाद की ओर झुकता था और कभी पैगम्बरी खुदावाद की ओर।"[1] यह निर्गुण पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसने जाति-पांति के भेद-भाव को मिटाकर ईश्वर की भक्ति के लिए मनुष्यमात्र के अधिकार का समर्थन किया। कुछ इतिहास-कारों ने इसका प्रेरणा स्रोत इस्लाम धर्म को माना है, परन्तु निर्गुण मतवादी सन्तों की रचनाओं का विश्लेषण करने से यह प्रमाणित हो जाता है कि भारतीय विचारधाराओं का इसपर स्पष्ट प्रभाव है। निर्गुण मत पर आधारित दो परम्पराओं का विकास हुआ, एक में ज्ञानतत्व की प्रधानता भी थी, अतः इसे ज्ञानमयी शाखा तथा दूसरे में प्रेम तत्व की प्रधानता के कारण इसे प्रेमाश्रयी शाखा के नाम से अभिहित किया गया है। प्रेरणा तत्वों के रूप में तीन प्रधान विचारधाराओं का योग इस साहित्य में मिलता है। वे हैं नाथ पंथ और सहजयान का मिश्रित रूप, सूफी मत और वेदान्त। कबीर निर्गुण सम्प्रदाय के प्रमुख कर्णधार थे।

राम एवं कृष्ण भक्ति

सगुण

सोलहवीं शताब्दी का उत्तरी भारत निर्गुण को छोड़कर सगुण की ओर प्रवृत्त हो रहा था, जिसके प्रचार एवं प्रसार में उत्तर तथा दक्षिण की विभिन्न धाराओं को विशेष गति प्राप्त हुई। हिन्दी में सगुण काव्य-परम्परा का प्रादुर्भाव वैष्णव धर्म सिद्धान्तों की आधार-भूमि पर हुआ। हिन्दू जनता भी भीषण संकट में ऐसे भगवान को चाहती थी जो उसके लोक-व्यवहार में सहायता पहुंचा सके, सांसारिक दुःखों का निवारण कर सके, अर्थात् उसे ईश्वर की उस सत्ता की

---

1 पं० रामचन्द्र शुक्ल : "हिन्दी साहित्य का इतिहास", पृ० ६६।

आवश्यकता थी लोकोपकारक की तथा लोकरंजक भी । उपर्युक्त वैष्णव मतों ने अपने भक्ति-प्रधान सम्प्रदायों द्वारा इस आवश्यकता की पूर्ति की । आगे चलकर उन्हीं सम्प्रदायों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होकर उत्तरी भारत में कई वैष्णव मत की और भी अनेक शाखाएं स्थापित हुईं, जिनमें श्री रामानन्द का `रामानन्द सम्प्रदाय` श्री वल्लभाचार्य का `वल्लभ सम्प्रदाय`, श्री चैतन्य देव का `गौडीय संप्रदाय` श्री हित हरिवंश जी का `राधा वल्लभीय सम्प्रदाय` मुख्य कहे जा सकते हैं । रामानन्द जी द्वारा रामोपासना की प्रतिष्ठा हुई, जिसका प्रधान केन्द्र काशी बना और अन्य आचार्यों ने कृष्ण के विविध रूप की उपासना चलाई, जिसका मुख्य केन्द्र वृन्दावन में स्थापित हुआ । सगुण मत का प्रचार और प्रसार समाज के ऊपर स्तर के लोगों में शुरू हुआ । इन सगुण मतों का उद्भव और विकास वैष्णव मत की विभिन्न शाखाओं के आश्रय में हुआ था, जिनकी स्थापना विभिन्न वैष्णव आचार्यों द्वारा प्राचीन वैदिक शास्त्र ग्रन्थों के आधार पर हुई थी । प्रत्येक सम्प्रदाय के कुछ नियामक तत्त्व स्थिर किए गए और प्रत्येक सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति का अलग से निरूपण किया गया । जितने आचार्य हुए थे, वे निगमागम शास्त्र पुराणों के पारंगत और प्रकाण्ड विद्वान् थे । इन आचार्यों के ऐसे कुछ अनुयायी हुए, जो शास्त्रों के मर्मज्ञ ही नहीं थे, अपितु काव्य-कला के निष्णात प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे । गोस्वामी तुलसीदास तथा सूरदास ऐसे ही महान कवि थे । तुलसीदास जैसे रामोपासक भक्तों की रचनाओं में आदर्श पात्रों का चित्रण हुआ, जिससे समाज में धर्म, नीति, भक्ति तथा सदाचार की पूरी प्रतिष्ठा हुई । तुलसीदास राम-भक्ति शाखा के प्रमुख चिन्तक थे । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार इस युग के प्रायः सभी धार्मिक संप्रदायों ने किसी-न-किसी रूप में अवतार की कल्पना अवश्य की है । वैसे तो अवतारों की संख्या बहुत मानी गई है, परन्तु मुख्य अवतार राम और कृष्ण के हैं। इनमें कृष्णावतार की कल्पना प्राचीन और व्यापक है[1] । तुलसीदास जी के प्रभाव से उत्तरी भारत में राम अवतार को बहुत प्रमुखता प्राप्त हो गई, परन्तु श्रीकृष्ण-अवतार की महिमा

---

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : `हिन्दी साहित्य`, पृ०६१-६२ ।

घटी नहीं । इस युग के काव्यों में प्राय: दो प्रकार के श्रीकृष्ण मिलते हैं । उनमें से प्रथम हैं पुरुष नारायण और विष्णु के नाम से अभिहित दाशरथायी विष्णु के अवतार कृष्ण और द्वितीय हैं उपास्य ब्रह्म के अवतार श्रीकृष्ण। डा० दीनदयालु गुप्त ने लिखा है --" धर्म स्थापन के लिए जो अवतार होता है, वह चतुर्व्यूहात्मक है । संसार को आनन्द देने के लिए जो अवतार होता है, वह उनका रसरूप है । कृष्णावतार में इनके मतानुसार कृष्ण ने चतुर्व्यूहात्मक और रसात्मक दोनों रूपों से युक्त हो अवतार लिया था ।[1] किन्तु मीरायुगीन भारत में उपास्य श्रीकृष्ण इतने व्यापक हुए कि विष्णु अवतारी इनके अंश मात्र रह गए । सूरदास ने बालकृष्ण का वर्णन करते हुए उनके पूर्व अवतारी कार्यों और शक्तियों का उल्लेख किया है । सूरदास, मीराबाई जैसे कृष्णोपासक भक्तों की कृतियों में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को लेकर प्रेम-तत्व की मधुर व्यंजना हुई ।

सगुण धारा की सर्वाधिक लोकप्रिय शाखा कृष्ण-भक्ति शाखा है, जिसमें हमें सूरदास, हित हरिवंश और मीरा जैसे भक्तों का साहित्य मिलता है । इस शाखा के प्रमुख केन्द्र हैं-- वल्लभ सम्प्रदाय, राधा वल्लभी संप्रदाय तथा चैतन्य सम्प्रदाय । कृष्ण भक्ति की विशेषता यह है कि वह सम्प्रदायों से बाहर भक्तों की स्वतन्त्र साधना में भी पल्लवित होती है और इसमें वर्णाश्रम धर्म के विपरीत पर्याप्त उदारता दिखाई देती है । इसमें दास्य भक्ति को विशेष स्थान प्राप्त नहीं होता है ।

वल्लभाचार्य इस शाखा के प्रमुख दार्शनिक हैं । उनके दार्शनिक सिद्धान्तों पर विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क दोनों का ही प्रभाव मिलता है । उनके अनुसार ज्ञान की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञान से तो ब्रह्म केवल जाना जा सकता है । भक्ति से ब्रह्म की अनुभूति होती है वह स्वयं कृष्ण के अनुग्रह स्वरूप है । उस अनुग्रह का नाम वल्लभाचार्य के अनुसार 'पुष्टि' है । इसी कारण उनके

---

1 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', भाग २, पृ०४०४ ।

सिद्धान्त को पुष्टिमार्ग के नाम से अभिहित किया गया है । उत्तर भारत के जीवन में प वल्लभाचार्य का पदार्पण एक शुभ घटना है । उनके सिद्धान्तों के द्वारा कृष्ण काव्य में एक नई स्फूर्ति तथा नई प्रेरणा का प्रादुर्भाव हुआ । उन्होंने उपासना-काल में लीला गान को प्रधान स्थान देकर जनता को उन वृत्तियों को अभिव्यक्ति की, जो लौकिक आसक्ति के कारण विशिष्ट हो रही थीं । बहुत से श्रेष्ठ कवि, जिनमें सूरदास और नन्ददास का नाम मुख्य है, इस मत के अनुयायी बन गए और उन्होंने अपनी सरल काव्य-दृष्टि से उत्तर भारत को कृष्ण-भक्ति में डुबा दिया । हिन्दी साहित्य में जिन्हें "अष्टछाप" के कवि कहते हैं, वे वल्लभाचार्य के ही अनुयायी थे[1] । वल्लभाचार्य की दार्शनिक वाणी का श्रेष्ठ साहित्यिक परिपाक सूर की साधना में हुआ । सूर ने नाथ पंथ, वेदान्त, शांकर वेदान्त, वैष्णव सम्प्रदाय के प्रभावों को समेटते हुए एवं कबीर आदि निर्गुण सन्तों के दृष्टिकोण को भी समझते हुए वल्लभाचार्य के प्रभाव से उन सब को एक नए ही रस में ढाल दिया । सूर ने पुरुषोत्तम कृष्ण के रूप में सच्चिदानन्द ज्योति की कल्पना की । जहां-जहां यह ज्योति रमती है, वहीं रस आनन्द बहता है । चैतन्य विहीन वह वस्तु नीरस है । कृष्ण का सान्निध्य अमृत रस की साक्षात् अनुभूति है । उनका वियोग भी सरस है ।

कृष्ण-भक्ति परम्परा में मीरांबाई का नाम अमर है । मीरांबाई के पदों में मध्यकालीन साधना के प्रत्येक सम्प्रदाय का थोड़ा-बहुत आभास मिलता है । निर्गुण मत के सिद्धान्तों पर आधारित अनेक पद उनके द्वारा लिखे गए हैं।

शैव मत

मीरांयुगीन भारत में वैष्णव मत के साथ ही शैव मत भी व्याप्त था । भारत में शैव मत अत्यन्त प्राचीन है । इसकी जड़ सिन्धु घाटी की सभ्यता में व वैदों का सकती है । शैव धर्म का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी हुआ । उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में शैव मत अधिक लोकप्रिय था ।

---

1 द्रष्टव्य -- डॉ० श्यामसुन्दरदास कृत "हिन्दी भाषा और साहित्य", पृ०४०७ ।

दक्षिण भारत में शैव परम्परा वैदिक परम्परा के साथ ही विकसित हुई । मीरांयुग में काश्मीर, राजस्थान एवं सम्पूर्ण दक्षिण-भारत शैव मत के प्रमुख स्थल थे । शैव सिद्धान्त का मूल आधार हैं आगम । आगमों के अतिरिक्त शिव-भक्ति का तमिल देश में प्रचार रहा है, वैष्णव आलवार संतों की तरह शैव साधक भी तमिल देश में प्रसिद्ध रहे हैं । वामन पुराणानुसार शैव मत चार हैं--शैव, पाशुपत, कालामुख तथा कापालिक । शैव मत ने सुन्दर भावपूर्ण कविताओं से दक्षिण भारत को प्रतिध्वनित किया । दक्षिण के शैवों में शैव सिद्धांत मत के अतिरिक्त लिंगायत मत भी प्रबल रहा है । शैवों में अलिंगी तथा लिंगी दो प्रकार के शैव होते हैं, जो शिव-लिंग धारण करते हैं, वे लिंगी या लिंगायत कहलाते हैं । कर्नाटक में यह मत प्रचलित है और बहुत प्राचीन मत माना जाता है । 'सिद्धान्त शिखामणि' इसका प्रसिद्ध ग्रन्थ है । आगमों को ये मानते हैं । लिंगायत अद्वैतवादी हैं । लिंगायत मत प्रवृत्तिमूलक है । ये वीरता से जीवन का सामना करते हैं और निष्काम भाव से कर्म करने का उपदेश देते हैं । अतः यह मत वीरशैव मत कहलाता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मीरां-युगीन भारत में शैवमत क एक प्रतिष्ठित-सम्प्र के मत में प्रस्तुत था ।

जैन मत

मीरांयुग के जैन समाज में श्रद्धा और भक्ति अत्यधिक मात्रा में थी, इन्होंने जैन मन्दिरों के कलापूर्ण निर्माण में तथा जैन-ग्रन्थों के सुन्दर स्वर्णाक्षरों के सचित्र लेखन में असंख्य धनराशि का व्यय कर अपने उत्कट धर्म-प्रेम का परिचय दिया है । इस युग में जैनियों के श्वेताम्बर-दिगम्बर दो प्रधान सम्प्रदायों के उल्लेख मिलते हैं । जैन लोग व पानी को छानकर पीते थे । सं० १५५०-६० के लगभग मंत्रीश्वर वच्छराज ने संघ सहित शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा की, जिसका वर्णन साधु चन्द्र 'तीर्थ राज चैत्य परिपाटी' में मिलता है । इसके अतिरिक्त उसके पुत्र तथा अन्य जैन तीर्थ यात्रियों की द्वारिका आदि तीर्थों की यात्रा का उल्लेख मिलता है । बीकानेर के जैन संघ के समाजियों की भक्ति, तप, आराधना, भक्ति एवं धार्मिक अनुष्ठानों में कितना अधिक अनुराग था, उसका परिचय तत्कालीन प्रमाणों से प्राप्त होता है ।

बौद्ध धर्म

यदि मीरांयुगीन साहित्य का ध्यानपूर्वक अवलोकन किया जाय तो इस युग में अप्रत्यक्षरूप से बौद्ध धर्म का आभास होता है । ई० की आठवीं शताब्दी से बौद्ध धर्म का पतन प्रारम्भ होने लगता है । बौद्ध धर्म से महायान का विकास हुआ, महायान से मंत्रयान, मंत्रयान से वज्रयान या तांत्रिक बौद्ध धर्म में यह परिणत हुआ । इसी वज्रयान की प्रतिक्रिया में नाथ सम्प्रदाय का विकास हुआ और नाथ सम्प्रदाय के प्रेरणात्मक तत्वों को ग्रहण कर संत-सम्प्रदाय अवतरित हुआ । बौद्ध धर्म के शून्यवाद से लेकर नाथ सम्प्रदाय के योग तक तथा वज्रयान के सिद्धों की `संधा भाषा` की उलटबासियों से लेकर नाथ सम्प्रदाय की अद्भुत भावना तक संत काव्य में सभी विचार-सरणियां पोषित हो सकीं । बौद्ध धर्म से प्रेरित इस विचार-धारा के विकास में ही यह सम्भव हुआ कि संतकाव्य उन समस्त वैदिक परम्परा के कर्मकाण्डों का विरोध कर सका, जो कालान्तर में वैष्णवधर्म में भक्ति के साधन थे । मीरांयुगीन कवियों की निर्गुण काव्य-धारा पर बौद्धों के तत्वों का प्रभाव सर्वाधिक दिखाई पड़ता है । यद्यपि सूर, तुलसी और जायसी में भी प्रभाव चिन्ह ढूंढे जा सकते हैं और उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्ययुग की अन्य काव्य-धारायें भी बौद्ध तत्वों से प्रभावित थीं, किन्तु इस प्रकार का प्रभाव बहुत कुछ अप्रत्यक्ष ही मानना पड़ेगा । हिंसा के प्रति कबीर ने लिखा है— बकरी पत्ती खाती है तब तो उसकी खाल खींच ली जाती है, किन्तु जो लोग बकरी खाते हैं, उनका क्या हाल होगा[1] । इसी प्रकार कुछ सूर, जायसी और तुलसीदास अहिंसा से प्रभावित हुए । अहिंसा के महत्व को तुलसीदास जी ने भी स्वीकार किया है ।

इस्लाम धर्म

मुस्लिम शक्ति की प्रतिष्ठा के फलस्वरूप मीरांयुगीन भारत में इस्लाम धर्म का विकास हुआ । मुसलमानों के आगमन और देश में व्याप्त

---

१ कबीर साखी संग्रह, भाग १ और २, पृ० १०२ ।

हो जाने से भारतवासियों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में बड़ा परिवर्तन हो गया। यूनानी, हूण, शक आदि जो पहले आये थे, हिन्दुओं में मिल गए, लेकिन मुस्लिम लोग उनकी तरह हिन्दुओं में नहीं मिल सके। मुसलमानों की विजयों के द्वारा दो विभिन्न संस्कृतियों का तथा शक्तियों का पारस्परिक सम्पर्क हुआ। फलस्वरूप जीवन के क्षेत्र में अनेक प्रतिक्रियाएं हुईं। यद्यपि बलात् धर्म-परिवर्तन कुरान के सिद्धांत के विरुद्ध था, परन्तु इस्लाम के प्रचार में तलवार का योग अत्यधिक रहा। 'शासन धर्मप्रधान हो गया और पुन: इस्लाम धर्म बलपूर्वक हिन्दुओं के गले मढ़ा जाने लगा।'[1] मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, एशिया माइनर, फारस, मध्य एशिया आदि भूखण्ड जो इस्लाम के झण्डे के नीचे आये पूर्णतया इस्लामी हो गये। केवल चीन और भारत इसके अपवादस्वरूप हैं। भारत ने उतनी आसानी से इस्लाम को नहीं स्वीकार किया। तलवार की धार, राज्याश्रय का मोह तथा प्रचारकों का पुरुषार्थ विजयी न हो सकी और हिन्दू धर्म ने सफलतापूर्वक इसका विरोध किया।

<u>असहिष्णुता की नीति</u>

बाबर और हुमायूं के राज्य-काल में भारतवर्ष की धार्मिक स्थिति भी विकृत हो गई थी। हिन्दू जनता को धार्मिकता का दण्ड भोगने के लिए भाँति-भाँति के कर (जज़िया) देने पड़ते थे।[2] हिन्दुओं को देवोपासना करने की स्वतन्त्रता नहीं थी। उन्हें अपने प्राचीन मन्दिरों का पुनरुद्धार करने का भी अधिकार नहीं प्राप्त था। बाबर की आज्ञा से मीर बाकी ने हिन्दुओं और जैनियों के अनेक प्रसिद्ध मन्दिरों को ध्वंस करके उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण कराया था। हुमायूं से बाबर एक बार इसीलिए असन्तुष्ट हो गया था कि हुमायूं

---

१ ईश्वरीप्रसाद : 'मेडिवल इण्डिया', हि०सं०, पृ०४४५

२ एस०आर० शर्मा: 'दि रिलीजियस पालिसी आफ मुगल एम्परर्स', पृ०२

ने कुछ कारणों से प्रेरित होकर इस मामले में हिन्दुओं के प्रति दया प्रदर्शित की थी। बाबर और हुमायूं के राज्य-काल में हिन्दू जनता बराबर यह अनुभव करती थी कि उसका जीवन दुःखमय है।

धर्म-परिवर्तन

जाति और सम्प्रदाय-भेद तथा छोटी-छोटी जागीरों के अधिपति राजपूतों की पारस्परिक कलह और प्रतिद्वन्द्विता के इस युग में जब भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ तो ब्राह्मणों द्वारा बहिष्कृत यहां की पीड़ित जनता को बड़ी शान्त्वना मिली। इस्लाम के सिद्धान्त हिन्दू धर्म की तरह गम्भीर और पेचीदा न होकर सीधे-सादे और सरल थे। अनेक देवी-देवता न मानकर इस्लाम एकेश्वरवाद में विश्वास करता था। हिन्दू समाज जाति को प्रमुख न मानकर व्यक्तिगत धर्म-साधनों पर ज़ोर देता था, जब कि इस्लाम जाति को प्रमुख न मानकर सामूहिक धर्म-साधना का प्रचार करता था। इस्लाम के अनुसार व्यक्ति मात्र मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ सकता था, कुरान का पाठ कर सकता था, रोजे रख सकता था, सब के साथ पंगत में भोजन कर सकता था और किसी भी जाति की कन्या के साथ विवाह कर सकता था, परन्तु राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों ने इस दीर्घकाल तक हिन्दू तथा मुस्लिम समाजों को मिलने न दिया था। डा० मजूमदार तथा राय चौधरी के अनुसार प्रथम सम्पर्क में ही दोनों के बीच जो गहरी खाई बन चुकी थी[1], वह कतिपय प्रयत्नों के होते हुए भी पट न सकी, किन्तु कला एवं संस्कृति के क्षेत्रों में वैसा न हो पाया। हमारे आलोच्य युग के भारत में जो सांस्कृतिक समन्वय दिखाई पड़ता है, वह भारत की नहीं, अपितु विश्व-इतिहास की महत्वपूर्ण एवं शिक्षाप्रद घटना है।

हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य

दोनों वर्ग-- हिन्दू और मुसलमान के शिक्षित एवं सुसंस्कृत व्यक्ति कुछ-न-कुछ पारस्परिक सामंजस्य और समन्वय की इच्छा करने लगे।

---

१ डा०आर०सी० मजूमदार और डा० एच०सी० राय चौधरी : 'एन एडवांस हिस्ट्री

सर्वप्रथम जो तुर्क आदि भारत में आए, उन्होंने हिन्दुओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए, अतः सन्तान के स्वभाव और भावनाओं में तुर्कीपन कम और भारतीयता की भावना अधिक आ गई । इसके अतिरिक्त भारतीय स्त्रियों ने तुर्की घरानाओं पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और उनके आचरण तथा चरित्र को बहुत अंशों में प्रभावित किया ।

इस प्रकार मीरांयुगीन भारत में हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों में समन्वय हुआ और वे पारस्परिक कटुता का व्यवहार त्याग करके एक-दूसरे के निकट आने लगे, अतः मीरां का अभ्युदय हिन्दू और मुसलमानों के राजनैतिक संघर्ष और धार्मिक समन्वय की पृष्ठभूमि में हुआ ।

-o-

अध्याय — २

अक्क महादेवी तथा मीरां बाई युगीन साहित्यिक परिस्थिति

(क) अक्क महादेवी युगीन साहित्यिक परिस्थिति

(ख) मीरां युगीन साहित्यिक परिस्थिति

-०-

रचना-काल ६ वीं शताब्दी माना गया है[1]। शिला लेखों के माध्यम से 'कविराज-मार्ग' के रचनाकाल से पूर्व की साहित्यिक गतिविधियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कुछ शिला-लेखों में गंगराज वंशीय 'शिवमार' नामक राजा द्वारा रचित गज शास्त्र विषयक ८ पद्यों से युक्त ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। यदि प्रस्तुत ग्रन्थ को साहित्यिक न भी माना जाय तो भी 'कवि राज मार्ग' में प्राप्त ग्रन्थों के उदाहरणों के आधार पर यह अनुमान तो किया ही जा सकता है कि कन्नड का साहित्य इस ग्रन्थ के पूर्व भी विद्यमान था। 'गजाष्टक' के रचना-काल से भी पूर्व ७ वीं शताब्दी में पद्य-शासनों की परम्परा का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी सम्बन्ध में संस्कृत और कन्नड के कुशल ग्रन्थकार तथा 'गजाष्टक' के रचयिता शिवमार के पूर्वज गंग वंश के राजा दुर्विनीत द्वारा भी कन्नड भाषा में साहित्य-सृजन करने की सूचना प्राप्त होती है। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि कन्नड भाषा में लिखित प्राचीनतम शिलालेख 'हल्मिडी' का उत्थान काल ४५० ई० है, और इसके आधार पर यह अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है कि कन्नड भाषा का साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त करने का समय पांचवीं से आठवीं शती के मध्य रहा होगा। इस प्रकार आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्यिक रूप में व्यवहृत होने का श्रेय तमिल के पश्चात् कन्नड को ही दिया जा सकता है। साहित्यिक वैभव की दृष्टि से भी कन्नड साहित्य अत्यन्त समृद्ध रहा है। जिस समय आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएं[2] अपना[3] स्वरूप निर्धारित कर रही थीं, उसी समय महाकवि क्रान्तिकारी पम्प (९४०ई०), पोन्न

---

१ रं० श्री मुगलि, [illegible] : 'कन्नड साहित्य चरित्रे' (१९५८), पृ० ११

२ वही, पृ० १२

३ वही, पृ० १२

(९५०ई०), रन्न[1] (९९०ई०) जैसे ख्याति प्राप्त कवि अपनी रचनाओं के माध्यम से कन्नड साहित्य के भण्डार को समृद्ध कर रहे थे । जैन,वीरशैव,वैष्णव आदि लगभग एक हजार से अधिक कवियों की चम्पू,नाटक,षटपदी,त्रिपदी, सांगत्य, रगळे आदि काव्य-विधाओं से सम्पन्न कन्नड भाषा किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य से कम वैभवशाली नहीं कही जा सकती । कन्नड साहित्य के इस क्षेत्र में अक्क महादेवी का स्थान निर्धारित करने के लिए हमें तत्कालीन साहित्यिक पृष्ठभूमि का आकलन करना आवश्यक हो जाता है ।

<u>प्रेरणा स्रोत</u>

१२ वीं शताब्दी में कन्नड साहित्य के इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात होता है । कन्नड साहित्य का वह स्वर्णकाल था । तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का अमिट प्रभाव उस समय के कवियों की रचनाओं में भी स्पष्टत: परिलक्षित होता है । साहित्य जन-जीवन का प्रतिबिम्ब होता है । तत्कालीन धार्मिक उत्कटता, सामाजिक परिवर्तन एवं राजकीय आन्दोलन हमारे साहित्य को नया मोड़ प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुए, फलस्वरूप हमारे साहित्य का नया रूप निर्मित हुआ एवं उसमें नई विचारधारा की अभिव्यक्ति हुई । परम्परागत काव्य-शृंखलाओं को इस युग के कवियों ने तोड़ दिया । इस काल में विभिन्न प्रकार के विचारों,भावनाओं एवं अभिव्यक्तियों में अपूर्व सामर्थ्य,स्वातन्त्र्य,सम्पन्नता, गुण-वैविध्य एवं अद्वितीय विशिष्टता समाहित है । विश्व साहित्य में विशिष्ट कहे जाने वाले 'वचन' साहित्य का निर्माण इसी युग की देन है[2] । तत्कालीन साहित्य की इस नवीन विचारधारा का आगे आने वाले साहित्य पर भी प्रबल प्रभाव पड़ा है । इस शताब्दी में कन्नड साहित्य का नवोदित

---

१ "कन्नड साहित्य चरित्रे", पृ० [illegible]

२ एस० एस० भूसनूरमठ : "साहित्य संगम (१९७०ई०)", पृ० [illegible]

रूप सामने आया । देशी साहित्य का प्रचार एवं साहित्य में जन-हित की दृष्टि प्रथमत: इसी शताब्दी में प्रस्फुटित हुई । उस युग की राजनैतिक,सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों से तत्कालीन कवियों को एक नवीन जीवन-दृष्टि प्राप्त हुई ।

राजनैतिक दृष्टि से कल्याण-चालुक्य वंश का वैभव छठें विक्रमादित्य के समय में पराकाष्ठा को पहुंच चुका था । १२ वीं शताब्दी के मध्य में वह विघटित हुआ । उस वंश के असहाय एवं दुर्बल राजा को पराजित कर बिज्जल,जो पहले मांडलिक था, स्वतन्त्र राजा बना और उसका प्रभाव बढ़ा । उसके ऊपर साम्प्रदायिक संस्थाओं का प्रभाव भी पड़ा । फलस्वरूप समाज में वैमनस्य बढ़ने लगा । यज्ञादि में बलि का बाहुल्य हुआ । देवताओं के नाम पर हिंसा को बढ़ावा मिला । वैदिक एवं जैन परम्परा के मध्य संघर्ष चला । सामान्य जनता अनेक देवताओं की उपासना के मोह में पड़कर सामान्य जीवन को भूल-सी गई थी । ऐसे समय में वचनकारों ने जन्म लेकर नूतन सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्ति के बीज देश भर में बिखेर दिए । अत: कहा जा सकता है कि वचन - साहित्य का निर्माण एक विशिष्ट राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक वातावरण में हुआ । इस साहित्य-निर्माण में प्रभुदेव और बसवेश्वर आदि [illegible] महात्माओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिससे परवर्ती कवि-मण्डल भी आलोकित हुआ ।

महात्मा बसवेश्वर ने धार्मिक सुधारक के रूप में वीरशैव धर्म को जनप्रिय एवं शक्तिसम्पन्न बनाया । उनका भक्ति-पंथ कन्नड प्रदेश के धार्मिक प्रवाह के साथ प्रवाहित हुआ । बसवेश्वर के महान् एवं आकर्षक व्यक्तित्व ने जनता को अपनी ओर आकर्षित किया । समानता एवं सरलता के आधार पर

उनके उपदेशों ने जनता में विद्युत संचार का काम किया[१]।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तत्कालीन राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों ने सामाजिक जीवन को भी प्रभावित किया । समाज में हुए अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तनों से तत्कालीन साहित्य भी अछूता न रह सका। परिणामस्वरूप कन्नड साहित्य के के इतिहास में १२ वीं शताब्दी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है,क्योंकि इस युग में साहित्य ने अपनी पूर्व परम्परा का परिष्कार करके दूसरे सशक्त एवं उपादेय मार्ग का अनुसरण किया[२]।

स्वान्तः सुखाय काव्य-रचना तथा जनभाषा

वीरशैव कवियों ने पराश्रित बनकर काव्य-रचना करने की अपेक्षा स्वतंत्र,'स्वान्तः सुखाय' रूप में इष्टदेव एवं सन्तों की भक्ति विषयक काव्य-रचना करने की प्रथा का सूत्रारम्भ किया तथा काव्य में जन-प्रचलित भाषा का उपयोग करके इस दिशा में एक अनुकरणीय क्रान्ति की नींव डाली । वीरशैव कवियों के बताए हुए मार्ग का ही जैन कवियों ने भी अनुगमन किया, अतएव साहित्य धर्म प्रचार के लिए एक प्रभावशाली साधन बना[३]।

वचन साहित्य का परिचय एवं विशेषताओं का मूल्यांकन

बसवेश्वर के युग में निर्मित वचन-साहित्य शरणों (संतों) का अनुभव साहित्य है[४]। धर्म, तत्व,ज्ञान,काव्य-रचना आदि विषयों से सम्बन्धित अपने अनुभवों को इन वचनकारों ने सरल कन्नड भाषा में ही

---

१ एल०बसवराजु : 'बसव साहित्य संपद' (१९७० ई.),भूमिका,पृ०१२ ।

२ डा० बी०एस० कुलकर्णी : 'नेमिचन्द्र',पृ०८ ।

३ वही,पृ०[illegible] ।

४ डा० एस०बी० शीलवंत : 'कन्नडिग' संपुट३५,(१९६५ ई.),पृ०३५ ।

मुखरित किया । साथ ही उन्होंने अपनी वाणी को अपने जीवन में भी चरितार्थ किया । फलस्वरूप कथनी और करनी के मणि-कांचन संयोग से उनके वचन अमर हो गए[1] । इस वचन साहित्य का प्रभाव परवर्ती कन्नड साहित्य पर हम आज भी स्पष्टत: देख सकते हैं[2] । उस युग में वचनकारों की वचन लिखने की शैली भी अनूठी थी । यह शैली अन्य किसी भी भाषा की रचनाओं में दिखाई नहीं देती[3] । प्रत्येक वचनकारों ने भगवान के रूप को वचनों के अन्त में अंकित किया है । वे दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त विविध प्रकार के उदाहरणों का प्रयोग करते थे । गहनतम विचारों को भी अत्यन्त रोचक एवं सजीव शैली में प्रस्तुत करते थे । वे प्राय: सरल भाषा का ही उपयोग करते थे तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए संस्कृत शब्दों के क्लिष्ट प्रयोगों से भी सदैव वंचित रहे[4] । एक ही भाव को, एक ही वचन में, वे अलग-अलग ढंग से दो-तीन बार कहते थे । इसीलिए यह वचन-साहित्य इतना प्रभावशाली हो सका है[5] । इसकी महत्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि इन वचनों में संतों ने अपने दैनिक जीवन के अनुभवों को ही निरूपित किया है । इनका उद्देश्य जनता के मन को शुद्ध करना था[6] । इन वचनकारों की जनता को समझाने की प्रणाली भी विशेष ढंग की थी[7] । इसीलिए प्रत्येक वचन का अपना अलग महत्व है । उनके वचनों के भाव आपस में टकराते नहीं । अनेक वचनकारों ने भक्ति, ज्ञान,वैराग्य,नीति आदि विषयों को लेकर अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार उनका

---

१ डा०एस०सी० नंदिमठ : 'ए कर्नाटिक' संपुट ३५,(१९५८ई०),पृ०३५ ।

२ प्रो०कु० वकोडि : 'कल्याणिक'(१९२२-२३ई०),संपुट १ - वचनगुच्छ स्मरण - शीर्षक,पृ०३६ ।

३ वही,पृ०३१

४ वही,पृ०३०

५ वही,पृ०३०

६ वही,पृ०३०

७ वही,पृ०३०

निरूपण किया है । पुरुषों की ही भांति स्त्रियों ने भी इस क्रान्ति में हाथ बटाया । स्त्रियां भी पुरुषों के समान ही अध्यात्म-चर्चा तथा साहित्य-सृजन करती थीं । अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को वचनों के माध्यम से जन-साधारण तक पहुंचाने में इन शिव-शरणियों का भी उल्लेखनीय स्थान है । इन्होंने अपने मधुर वचनामृतों से जनसाधारण के हृदय को आन्दोलित किया । जन-जन के हृदय-तन्तुओं में अध्यात्म भाव का[1] संचार करने वाली इन कवयित्रियों में अक्क महादेवी का गौरवपूर्ण स्थान है ।

प्रत्येक युग के काव्य में उस युग के मौलिक एवं प्रभावशाली तत्वों का प्रवेश होना अनिवार्य है । कवि अपने युग में प्रचलित मतों से विशेष प्रेरणा ग्रहण करते हैं । प्रत्येक कवि अपनी स्वेच्छा से कोई-न-कोई मत ग्रहण करता है । सन्त[2] बसवेश्वर ने भी शरण मार्ग(भक्ति) को अपनाया एवं उसको आगे बढ़ाया ।

वचन साहित्य का प्रभाव

कन्नड-कवियों ने धर्म-प्रचार के लिए नीति के उपदेश पर अधिक बल दिया है । इस प्रकार संतों ने अपने वचनों में भक्ति एवं[3] नीति तत्व का समावेश कर साहित्य-सेवा के साथ-साथ समाज-सेवा भी की । इन सन्तों ने अपने वचनों के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों का भण्डाफोड़ किया एवं समाज में प्रचलित तत्कालीन अनाचार का समूल उन्मूलन करने का प्रयास किया । इन

---

१ दी क्वार्टर्ली जर्नल आफ आल इण्डिया वीरशैव महासभा, धारवाड़(१९६१),पृ०२१

२ डा० विनायक गोकाक : `अभिनंदने(१९६१),पृ०४०, लेख-`साहित्य संजीवने काजु कन्नड साहित्य`दीपिक ।

३ जय कर्नाटक, संपुट१(१९२८-२९),पृ०१२१

सन्तों के वचनों में हमें केवल सामाजिक पक्ष का ही दर्शन नहीं होता, अपितु शास्त्र, पुराण, धर्म, कर्म, नीति, भक्ति आदि सभी पक्षों पर समुचित प्रकाश दृष्टिगोचर होता है[1]। अभी तक यह भ्रम सर्वत्र व्याप्त था कि भक्ति, ज्ञान, भगवदनुभूति एवं आध्यात्मिक उन्नति के साधन केवल उच्च वर्णों के लिए ही हैं। निम्न वर्णों में जन्म लेने के परिणामस्वरूप मन्दिर तथा राज-दरबार में प्रवेश निषिद्ध था, परन्तु इस युग में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन दृष्टि गोचर होते हैं। इस युग में निम्न वर्ग के लोगों ने भी साधक, सन्त एवं सिद्ध पुरुष बनकर परम पद प्राप्त किया। साथ ही सामान्य जनता को इस सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित किया[2]।

कन्नड साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् एवं कवि श्री सिद्धय्या पुराणिक ने तत्कालीन क्रान्ति के विषय में लिखा है -- "वह जन वाणी को ही देव वाणी में परिवर्तित कर देने वाली क्रान्ति थी। निम्न वृत्ति को कर्म प्रधान बनाकर एवं कर्म ह को ही स्वर्ग में परिवर्तित करने की क्रान्ति थी। बहुदेववाद, पशु-बलि, अन्ध-श्रद्धा, बाह्याडम्बर, जातिभिन्नता आदि कुप्रवृत्तियों से मानव को मुक्त करने की क्रान्ति थी, पत्थर के देवता के स्थान पर वस्तुतः ईश्वर के प्रति मनुष्य के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करने की क्रान्ति थी। नारी, धन एवं भूमि को माया मानने के स्थान पर मन के मोह को ही माया समझने की क्रान्ति थी।"[3]

---

१ "शिव संस्कृति काणिके" पृ० १०

[सिद्धय्या पुराणिक : शरणचरितामृत के प्रस्तावना से। व० कुवेंपु]

२ कुवेंपु (भारतीय ज्ञानपीठ के पुरस्कार विजेता) शरण परिचयामृत, प्रस्तावना पृ०६।

३ शरण परिचयामृत, प्रस्तावना, पृ०७

तत्कालीन प्रमुख सन्त एवं उनकी देन

हम पहले कह आए हैं कि १२वीं शती की इस क्रान्ति में अनेक सन्तों का सराहनीय योगदान रहा है, जिनमें से बसवेश्वर, चेन्न बसवेश्वर, प्रभु देव, सिद्ध रामय्या, मोळिगय्या और अक्क महादेवी आदि प्रमुख हैं। इनमें से प्रभु देव, तथा चेन्न बसवेश्वर ने ज्ञान के महत्व पर प्रकाश डाला, सिद्ध रामय्या ने योग का महत्व बताया, तथा मोळिगय्या, माचय्या, केशिरामय्या आदि संतों ने कर्म का महत्ता को प्रधानता दी। उल्लेखनीय है कि अक्क महादेवी में, ज्ञान योग, भक्ति योग तथा कर्म योग तीनों का सुन्दर समन्वय हुआ है।[1] ये सम्पूर्ण वचन साहित्य शरण-शरणियों द्वारा शिवानुभव नामक ऐतिहासिक मंडप की सभाओं में भक्ति एवं आध्यात्मिक चर्चा के माध्यम से रचे गये।[2] इन वचनकारों के ओजस्वी एवं प्रभावोत्पादक उपदेशों से तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में नूतन विचारों की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार मानव कल्याण का महान उद्देश्य सामने रखकर साहित्य-सर्जना करने एवं उसके माध्यम से अपने विचारों के प्रचार का श्रेय वीरशैव कवियों को प्राप्त है। इन कवियों का ध्यान भाषा की ओर भी गया। इन्होंने कन्नड़ भाषा को संस्कृत की शृंखला जंजीरों से मुक्त करा कर कन्नड़ छंदों, रगळे, त्रिपदी, चौपदी, सांगत्य, षटपदी आदि के प्रयोग पर बल दिया। जनवाणी में प्रचलित कहावतों, मुहावरों, गीतियों एवं कहानियों का सम्मिश्रण इनकी शैली की प्रमुख विशेषता है।[3]

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि श्री बसवेश्वर,

---

१ कम० कृष्ण राव : 'वीरशैव साहित्य मत्तु संस्कृति', पृ० ६

२ 'शून्य तत्व मत्तु शून्य सम्पादने', पृ० २२६

३ कम०कृष्णराव : 'वीरशैव साहित्य मत्तु संस्कृति', पृ०११।

विषय सामग्री इन वचनों में भी प्राप्त होती है। सत्यान्वेषी ऋषियों के अन्तर्मन से निकली सुरवाणी ही उपनिषद कहलाई। शिवशरणों (संतों) के हृदय से समयानुसार निकली वाणी ने ही वचन का रूप धारण किया। ऋषि शब्द संस्कृत में जिस प्रकार गम्भीर अर्थ धारण किए हुए है ठीक उसी प्रकार 'शरण' शब्द का अर्थ भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नाम अलग-अलग होने पर भी दोनों का मार्ग एक ही है। संस्कृत वाङ्मय में उपनिषदों ने जो श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया है, शरणों (संतों) के वचन साहित्य ने भी वही स्थान कन्नड़ साहित्य में प्राप्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १२वीं शताब्दी में वचन साहित्य का विकास सम्पूर्ण दक्षिण भारत में हुआ। तत्कालीन साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप यह ज्ञात होता है कि वचन साहित्य ही तत्कालीन वाङ्मय का प्रमुख अंग था। इन वचनों का महत्व उपनिषद मंत्रों के समकक्ष समझा जाता रहा है। साथ ही जनता की भाषा में ज्ञान एवं व्यवहार की बातें कहने के कारण ये वचन सर्वसामान्य जनता के आकर्षण की वस्तु रहे हैं। इन वचनों की साहित्यिक गरिमा भी अक्षुण्ण रही है।

अब हम तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियों का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिये तत्कालीन साहित्य की कुछ प्रमुख विशेषताओं का भी संक्षेप में उल्लेख यहां करेंगे।

तत्कालीन साहित्य की प्रमुख विशेषताएं

अंतरंग एवं बहिरंग शुद्धि

तत्कालीन साहित्य में अंतरंग एवं बहिरंग दोनों प्रकार की शुद्धियों पर समान बल दिया गया। महात्मा बसवेश्वर ने कहा है:—

कळ बेड, कोल बेड, हुसिय नुडियलु बेड,
तन्न बण्णिसल बेड, इदिर हळियलु बेड,
मुनिय बेड, अन्यरिगे असह्य पड बेड ,

इदे अंत रंग शुद्धि इदे बहि रंग शुद्धि इदे
कूडल संगम ज्योति शुभ पदि ।[1]

अर्थात्— चोरी न करना, हत्या न करना, झूठ न बोलना, आत्म प्रशंसा न करना आलोचना न करना, क्रोध न करना, दूसरों के साथ बुरा व्यवहार न करना, यही अंतरंग शुद्धि है, यही बहि रंग शुद्धि है । यही कूडल संगम देव को प्राप्त करने का मार्ग है ।

मनुष्य अपनी अंतरंग एवं बहिरंग दोनों प्रकार की शुद्धियों के द्वारा ही भगवान का साक्षात्कार कर सकता है अर्थात् आचार एवं धारणा दोनों का शुद्ध होना आवश्यक है ।

ज्ञान और क्रिया का महत्व

ज्ञान तथा क्रिया दोनों वीरशैव धर्म के सार हैं । इनके विषय में वचन वाङ्मय में वर्णित है कि ज्ञान ही क्रिया है और क्रिया ही ज्ञान है । ज्ञान का अर्थ है समझना और क्रिया का अर्थ है अपनी समझ को कार्य रूप में परिणत करना । उदाहरणार्थ एक वृक्ष में फल होने की समझ ही ज्ञान है और उस वृक्ष पर चढ़कर फल को ग्रहण करना ही क्रिया है । परस्त्रियों का स्पर्श नहीं करना चाहिए, यह ज्ञान है और उसका आचरण करना ही क्रिया है । ज्ञान एवं क्रिया के विषय में भी प्रभुदेव जी ने कहा है —

(१) "भूमि भिन्न बल्ल हेम भिन्न बल्ल कामिनि
भिन्न बहुळ अहुळ किविकद चिंते भिन्नोळगे
दे हेतु ज्ञानरत्न अंतः दिव्य रत्नव बेडु गुरुवे
आरत्नव माणिक्यरासियदु मन्न गुहेश्वर लिंग
दलि निर्लिंग विहळु भोगभक्तारल काणार अवेनळें ।।[2]"

---

१ श्री चन्द्रशेखर शास्त्री : "वचनतत्व रत्नाकर", पृ० १४३, वचन २२५
२ ,, ,, पृ० २५२ ,, ४९२

अर्थात् — भूमि तुम्हारी नहीं है । सोना तुम्हारा नहीं है । स्त्री तुम्हारे लिए नहीं है । ये सभी विधि के अनुसार सांसारिक वस्तुएं हैं । ऐसो है मानव । मात्र ज्ञान ही तुम्हारी सम्पत्ति है । यदि इस प्रकार ज्ञान को तुम आत्मसात् कर लो तो गुहेश्वर लिंग में तुम्हारे जैसा सम्पत्तिशाली कोई नहीं है ।

— प्रभु देव ।

(२) "कुलदल्लि शूद्र नादरेनु ?
मनदल्लि महादेव नेलेगोंडमने वीरशैव नोडा"[१]
— सिद्धरामय्या

अर्थात् — वंश में यदि शूद्र हुए तो क्या ? यदि मन में शिव का निवास रहे तो वही वीरशैव है ।

इस प्रकार १२ वीं शताब्दी में वचन साहित्य ने ज्ञान और क्रिया दोनों का प्रचार किया ।

<u>विश्व-धर्म का आधार</u>

तत्कालीन वचन साहित्य में ऐसे सार्वजनीन गुण विद्यमान हैं कि उन्हें विश्व-धर्म का आधार माना जा सकता है[२] । ये गुण इस प्रकार हैं—

१- "देव नोब्ब नाम हलव"
अर्थात्— भगवान एक है, नाम अनेक हैं ।

— एक देव उपासना

---

१ श्री व्याकरण तीर्थ चन्द्रशेखर शास्त्री : "वचन तत्व रत्नाकर" (१९५५ई०) पृ०सं०, पृ०३२५ ।

२ डॉ०एल० मल्लप्पा : वीरशैव धर्म मधु प्राप्ति, पृ० २४४ ।

अर्थात् छायाहीन पेड़ से क्या लाभ?, दयाहीन होने पर सम्पत्ति से क्या लाभ?, दूध न देने वाली गाय से क्या लाभ ?, गुणहीन रूप से क्या लाभ ?, यौवन-रहित नारी से क्या लाभ? हे चेन्न मल्लिकार्जुन । आपके ज्ञान के बिना मेरे जीवित रहने से क्या लाभ ?

इस प्रकार के अनेक नीति-परक वचन-साहित्य में भरे पड़े हैं।

<u>जनवाणी देववाणी बन गई</u>

'वीरशैव दर्शन'[1] ग्रन्थ में सन्त वाणी की महत्ता इस प्रकार बताई गई है -- "देव वाणियु जन वाणि यागुवदु असंभव वाणियाग जन वाणि यन्ने देव वाणिय माडि तोरिसिदरु ।"

अर्थात् देववाणी का जनवाणी बनाना असम्भव होता है, परन्तु सन्तों की वाणी ने जनवाणी को ही देववाणी बना दिया ।

उस काल में देव वाणी एक विशिष्ट समुदाय की भावाभिव्यक्ति का माध्यम बन गई थी और सामान्य जन से दूर हो गई थी, अतः तत्कालीन सन्त कवियों ने लोक-भाषा को अपनी अभिव्यंजना का आधार बनाया और लोकवाणी की प्रतिष्ठा प्रदान कर उसका गौरव देववाणी के समकक्ष स्थापित कर दिया । इस तथ्य का उद्घाटन 'वीरशैव दर्शन' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार किया गया है। इस साहित्य-क्षेत्र में सभी वर्गों के लोगों को निःसंकोच रूप से प्रवेश की अनुमति थी । इसीलिए इस युग का जनता के लिए जनता द्वारा रचित जन-साहित्य जनता के समीप आकर्षक और लोकप्रिय बन गया । लोक-जीवन से निकले हुए हृदयग्राही शब्द और सुगम शैली से सम्पन्न वाणी

---

१ [illegible]

ध्यान देना आवश्यक है, न कि जाति के आधार व्यक्ति का आकलन करना ।

<u>मृत्यु की महत्ता</u>

संतों का आध्यात्मिक जीवन मानवीय विकास-कार्यों के लिए सदैव तत्पर रहा । उन्होंने कर्म को ही अपने जीवन का आधार बनाया और यदि इस क्षेत्र में मृत्यु का भी आलिंगन करना पड़ा[1] तो उसे 'महानवमी का पर्व' समझ कर पूर्ण श्रद्धा के साथ उन्होंने स्वीकार किया । उनका जीवन सदा दृढ़ संकल्प और निर्भीकता की भावना से परिपूर्ण रहा । उन्हें कोई भी बाह्य शक्ति डिगाने में समर्थ नहीं हो सकती थी ।

<u>वीरशैव संतों की साधना</u>

संतों के जीवन की यह महत्वपूर्ण विशिष्टता रही है कि उन्होंने आदर्श तत्वों को अपने दैनिक जीवन के आचरण में कार्यान्वित किया । वे संत जीवन की विविध स्थितियों से गुजर रहे थे । ~~उन्हें जीवन-निर्वाह के लिए विविध स्थितियों से गुजर रहे थे~~ । उन्हें जीवन-निर्वाह के लिए विविध प्रकार के उद्योगों की शरण में जाना पड़ा,[2] परन्तु यह लौकिक जीवन उनको साधना-पथ से विचलित नहीं कर सका । उन्होंने अपने लौकिक मार्ग को ही अपनी दृढ़ संकल्प शक्ति से आध्यात्मिक साधना पथ में परिवर्तित कर लिया। अपने प्रखर व्यक्तित्व के कारण उन्होंने अपने साधना मार्ग को सदैव परिष्कृत किया और समयानुसार उसमें परिवर्तन भी करते रहे । उनकी कथनी और करनी में सदैव साम्य रहा ।

<u>वीरशैव संतों की दार्शनिक भावना</u>

[illegible] ही जीवन का परम लक्ष्य है । इस तत्व को वीरशैव संतों ने अपने साहित्य में सुस्पष्ट रूप से व्यक्त किया है

---

१. डा० [illegible] स्वामी : 'कन्नड़ अनुभाव साहित्य', पृ०२१

२. वही, पृ०२१

उनके साहित्य में विश्व की दार्शनिक मान्यताएं एवं तात्विक विचारधारा विद्यमान है । सन्तों ने अपनी तत्व-जिज्ञासा के कारण ही अपने प्रखर नैतिक आचरण एवं तत्वानुभव और सफलता प्राप्त की है ।

वीरशैव सन्तों की साहित्य-साधना में हमें प्राचीन संस्कृति के उदात्त तत्वों एवं आधुनिक जीवन के व्यापक दृष्टिकोणों का अद्भुत सामंजस्य परिलक्षित होता है । उनके साहित्य में मानवता को प्राप्त करने के उच्च लक्ष्य-समाविष्ट हैं । संतों ने सृष्टि,सृष्टि कर्ता के स्वरूप तथा जीव-शिव के पारस्परिक संबंधों की स्पष्ट व्याख्या की है ।उनके दृढ़ आत्म-विश्वास और आत्म निर्भरता का प्रमाण बसवेश्वर की निम्न पंक्तियों से मिल जाता है । `कायकष्ट बन्दडे कांचि कायकवा एन्नेनु । जिवनो पायकागिइंबुम एन्नेनु` । --महात्मा बसवेश्वर । अर्थात् शरीर की बाधा से डर कर , [illegible] के लिए नहीं कहूंगा । जीवनोपार्जन के भय से मैं याचना नहीं करूंगा ।

वचनकारों ने भगवान का स्वरूप वेदोपनिषद् के अभिमतानुसार ही स्वीकार किया है ।

वचनकार स्वतंत्र विचारक थे । वेदोपनिषद् के तत्वों के आधार पर उन्होंने अपना एक अलग सिद्धान्त बना लिया । इसे षट्स्थल सिद्धांत कहा जाता है । उन्होंने हिन्दू धर्म के सार तत्वों को अपने सिद्धान्त में समेट लिया । इस प्रकार प्रवृत्ति-निवृत्ति,भक्ति,ज्ञान,वैराग्य एवं योगाभ्यास के नैतिक तत्वों को संघटित रूप प्रदान कर इन सन्तों ने एक नए दार्शनिक सिद्धान्त को जन्म दिया[2] । षट्स्थल सिद्धान्त से सम्बन्धित यह ज्ञान सभी जिज्ञासुओं के लिए सुलभ है । इन वचनकारों में द्वैताद्वैत आदि किसी प्रकार का संघर्ष नहीं

---

१ [illegible] 'वचनसाहित्य',भाग २([illegible]),पृ०[illegible]

२ वही,पृ० [illegible]

दीख पड़ता । मानव की धार्मिक एवं मानसिक उन्नति के प्रति वे विशेष सचेष्ट परिलक्षित होते हैं[1] ।

तत्कालीन वचन-साहित्य में मुख्य रूप से शिव-धर्म का ही निरूपण हुआ है, परन्तु अष्टावरण, पंचाचार तथा षट्स्थल सिद्धान्तों का भी निरूपण भली भाँति किया गया है । इन वचनों में अष्टावरण, क्रियाप्रधान होकर, पंचाचार नीति प्रधान होकर एवं षट्स्थल सिद्धान्त ज्ञान-प्रधान होकर प्रयुक्त हुआ है[2] ।

सारांशत: यह कहा जा सकता है कि १२ वीं शताब्दी का काल साहित्यिक दृष्टि से वैचारिक क्रान्ति का काल रहा है । इस युग में राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, एवं धार्मिक क्रान्ति के साथ ही साहित्यिक क्रान्ति का भी उदय हुआ और महात्मा बसवेश्वर, सिद्धरामय्या, अक्क महादेवी आदि अनेक शरण-शरणियों ने इस क्रान्ति को पूर्ण विस्तार प्रदान किया । युगों-युगों से चली आ रही अनंत मान्यताओं का खण्डन किया गया एवं नई चेतना और नई विचार-धारा को प्रोत्साहन किया गया । अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियों, बाह्याडम्बरों एवं ऊंच-नीच के भेद-भाव का साहित्य के माध्यम से खण्डन किया गया । साथ ही जन-मानस में नवीन भावना का संचार किया गया भाषा की कि- क्लिष्टता का विरोध किया गया । सरल एवं सहज-सरल कन्नड़ भाषा को जनता की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया । साहित्य में मुख्य रूप से वचन साहित्य का विकास हुआ, जिसमें धर्म-कर्म और ज्ञान की त्रिवेणी के दर्शन होते हैं । सत्य एवं अहिंसा को महत्व दिया गया । ईश्वर और जीव का स्वरूप स्पष्ट किया गया । वीरशैव दर्शन की प्रतिष्ठा की गई । इस प्रकार इस काल

---

१ शिवमूर्ति शास्त्री : वीरशैव साहित्य मत्तु इतिहास, भाग १, पृ०५५

२ वही, पृ०६२

का साहित्य धर्म और दर्शन से परिपूर्ण है । साथ ही काव्यात्मक पक्ष की प्रतिष्ठा भी इस साहित्य में हुई है । यत्र-तत्र प्रकृति-वर्णन के दर्शन भी हो जाते हैं । मुख्यतया कविता की वस्तु भक्ति ही रही है ।

इस प्रकार जब कन्नड साहित्य-रूढ़ियों के घेरे को तोड़कर विशुद्ध मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित होने का प्रयत्न कर रहा था, जब बाह्याडम्बरों की निरर्थकता को प्रतिपादित करके आन्तरिक शुद्धता को अधिक महत्व दिया जा रहा था, कृत्रिम वातावरण की मनमोहक कल्पना करके शून्य में उड़ाने भरने की जगह जीवन की यथार्थता को स्वीकार किया जा रहा था, उसी समय अक्क महादेवी का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने भी वचनकारों की परम्परा की महत्ता को स्वीकार करते हुए उसे आगे बढ़ाने का भरसक सतत् प्रयत्न किया । यद्यपि धर्म,भक्ति,वैराग्य आदि के घेरों में बांधकर उन्हें साम्प्रदायिक तत्व के रूप में भी देखा जा सकता है,परन्तु ऐसा करते समय यह विस्मरण न करना चाहिए कि उपर्युक्त तत्व उन्हें किन्हीं धार्मिक घेरों में नहीं बांध सके । उनके वचन सार्वजनीन,सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं । उनमें संकीर्णता की गंध नहीं है । यह उस युग की ही प्रमुखता रही है,जिसमें न केवल अक्क महादेवी,अपितु मुक्तायक्का,लिंगम्मा एवं अक्क नागम्मा जैसी शरणियों ने विश्व संस्कृति के मूलभूत तत्वों का प्रचार एवं प्रसार किया और अपने हृदय के उद्गारों को शुद्ध,सरल और निश्छल शब्दों में अभिव्यक्त किया । कन्नड साहित्य अपनी गरिमा के लिए १२ वीं शताब्दी के इन शरण-शरणियों के प्रति सदैव कृतज्ञ होगा ।

(ख) मीरांयुगीन साहित्यिक परिस्थिति

मीरांयुगीन साहित्य विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं से ओतप्रोत था । द्वैतवाद,अद्वैतवाद,विशिष्टाद्वैतवाद, सगुण, ब्रह्म तथा निराकार ब्रह्म आदि विषयों को लेकर तत्कालीन साहित्यकारों में विचार-वैषम्य उत्पन्न हो गया था । क्रान्ति और द्वन्द्व के इस युग में कवियों तथा मनीषियों ने पद्य को ही आत्माभिव्यंजना का आधार बनाया । कवियों की कृतित्व की पृष्ठभूमि में प्रेरक तत्व के रूप में भक्ति-भावना को जगाना ही मुख्य उद्देश्य था । तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए सन्त कवियों ने जनता को आध्यात्मिक शान्ति का महान सन्देश देकर उनकी चिर अतृप्त आत्मा को तृप्त किया । कबीर, जायसी, सूर और तुलसी आदि प्रतिनिधि कवियों की अभिव्यक्ति से हम इसी मनोवृत्ति के दर्शन कर सकते हैं । मुगल दरबार की राजभाषा फारसी थी । इस समय फारसी में अनेक इतिहास एवं काव्य-ग्रन्थ रचे गए । संस्कृत के अनेक विषयों पर मौलिक रचनाएं लिखी गईं । प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों पर भी टीकाएं प्रस्तुत की गईं । हिन्दू-नरेशों और सामंतों तथा मुगलों ने भी ब्रजभाषा को आश्रय दिया । इन मुगलों के महलों में हिन्दू- रानियों के होने से उनकी सन्तति का सम्बन्ध ब्रजभाषा से और भी घनिष्ठ हुआ । इस प्रकार यहाँ कई प्रभावक मुगलों तक में काव्य-

रचना कर रहे थे, वहीं सूफ़ी और मुग़ल सरदार और उनके दरबारी हिन्दू सरदार ही नहीं, मुसलमान कवि भी ब्रजभाषा में रचना करते थे। राजस्थानी में बात, वचनिकाओं तथा ब्रज में वार्ताओं तथा टीकाओं के रूप में किंचित् गद्य का भी विकास हुआ। भाव-प्रकाशन का प्रमुख माध्यम पद्य ही रहा। राज्याश्रित कवियों ने शृंगार, राजनीति आदि विषयों पर प्रशंसा की दृष्टि से रचनाएं कीं। वीररस का भी आनुषंगिक प्रयोग यत्र-तत्र द्रष्टव्य है। भक्त-कवियों में अवश्य भारतीय संस्कृति और सभ्यता को सुरक्षित रखने के लिए एक ओर तो धर्म के उज्ज्वल आदर्शों का प्रतिपादन मिलता है और दूसरी ओर चरम कोटि के काव्य-कौशल का उपयोग भी किया गया है। इस काल का साहित्य एक ही समय में हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करने की सामर्थ्य रखता है, साथ ही लोक तथा परलोक का एकसाथ स्पर्श भी करता है।

यहां हम भक्ति-युग के मुख्य स्रोतों का दिग्दर्शन कराते हुए तत्कालीन परिस्थिति और साहित्य का परिचय प्रस्तुत करेंगे।

<u>सगुण तथा निर्गुण विचारधारा</u>

हिन्दी साहित्य के भक्ति काल (सं. १३७५-१७००) में भक्ति की सगुण तथा निर्गुण दो धाराएं प्रवाहित हुईं। सगुण के अन्तर्गत राम और कृष्ण-भक्ति शाखाएं तथा निर्गुण में सन्त और सूफियों के काव्य आते हैं। अब यहां हम काव्य-धाराओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

सर्वसाधारण की मानसिक तुष्टि भी हो सके । इस प्रयत्न को लेकर कबीर पंथ और सूफी सम्प्रदाय कार्य-क्षेत्र में उतरे । दोनों ईश्वर के निराकार स्वरूप का समर्थन तथा गुरु की महत्ता पर ज़ोर देते थे ।

सन्तों ने ईश्वर प्राप्ति के लिए ज्ञान और भक्ति दोनों का सहयोग आवश्यक माना है । कुछ आलोचकों का मत है कि यदि सन्त लोग सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद (प्रेम की पीर) को न अपनाते तो उनका मत भी नाथ मत की भाँति शुष्क और नीरस रह जाता । प्रेम-भावना को ग्रहण करने से ही सन्तमत में रमणीयता आई और उसके प्रति आकर्षण बढ़ा । सन्तकाव्य में सूफी प्रेम-भावना का ही प्रभाव नहीं, बल्कि महाराष्ट्र के विट्ठल सम्प्रदाय की प्रेमासक्ति-भावना का भी प्रभाव स्पष्ट है । विट्ठल सम्प्रदाय वैष्णव भक्ति भावना से प्रभावित था । नारद भक्ति-सूत्र में चार प्रकार की आसक्तियाँ बताई गई हैं, जिनमें एक प्रेमासक्ति भी है । सन्तों ने प्रेम भावना के निरूपण में इसी वैष्णवी प्रभाव को स्वीकार किया है । वैष्णव भक्ति भावना में ईश्वर को प्रियतम रूप में स्वीकार करते हैं । कबीर आदि में हम यही रूप पाते हैं, जब कि सूफियों ने ईश्वर को नारी रूप में स्वीकार किया है ।

<u>तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति तथा नैतिक मूल्यों के प्रति उनका दृष्टिकोण</u>

कबीर के युग का समाज विशृंखलित था[1] । आडम्बरकारी स्वार्थी एवं लोभी मनमाने ढंग से पीर, पैगम्बर बनकर समाज को पतन की ओर ले जा रहे थे । सामाजिक अंधविश्वासी विकृत परम्पराओं पर आधारित रीति-रिवाजों को बिना बुद्धि की कसौटी पर कसे मानने के कारण समाज पूर्णतया

---

१ पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव : 'कबीर और जायसी का मूल्यांकन', पृ०८६

आत्म-गौरव का भाव जगाकर उस समय भक्ति-आन्दोलन को पूर्णता प्रदान की, अन्यथा देश का बहुत बड़ा समाज भारतीय चिन्ता धारा से कटकर दूर जा पड़ता ।

सन्त मत में भारतीय ब्रह्मवाद, इस्लामी एकेश्वरवाद तथा भावात्मक रहस्य साधना तथा साधनात्मक रहस्यवाद, तीनों धाराओं का संगम दृष्टिगोचर होता है । साधना-क्षेत्र में सन्तों ने सिद्धों, नाथपंथियों तथा कुछ हठयोगियों के प्रभाव को स्वीकार कर साधनात्मक रहस्यवाद को अपनाया है । सन्त काव्य मौलिकता, सार ग्रहणशीलता, अपूर्व दृष्टि, निर्भीकता, तीखी सामाजिक चेतना और अद्भुत कल्पना के कारण ऐसा काव्य बन गया है जो अपने समस्त पूर्ववर्ती चिन्तन को समेट कर जन सामान्य के लिए उपादेय और कल्याणकारी सिद्ध हुआ । कबीर आदि ने प्राचीन परम्पराओं को यथावत् न स्वीकार कर उनका युगानुरूप संस्कार किया । इन्हें महापुरुष, आगम द्रष्टा, साधक, युगप्रवर्तक आदि किसी भी महत्वाधिक शब्दाभूषणों से अलंकृत किया जा सकता है । यदि इनमें मौलिक उद्भावना की शक्ति न होती, यदि विभिन्न साधना-पद्धतियों और विचारधाराओं को आत्मसात् कर इन्हें सहज जन-कल्याणकारी रूप प्रदान करने की योग्यता न होती तो आज इन्हें ऐसा स्थान मिलता । सन्त मत में भक्ति और साधना की चरम अभिव्यक्ति है[1] । सन्त साहित्य में उच्च कोटि के साधक और उच्च कोटि के कवि का सम्मिलन है ।

---

१ डा० रामकुमार वर्मा : 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (द्वि०सं०), पृष्ठ सं०, ३०६ ।

सन्तों की वाणियों का तथा उनके लोकहितकारी व्यक्तित्व का ऐतिहासिक एवं धार्मिक महत्व विस्मृत नहीं किया जा सकता । सन्त साहित्य में भक्ति और साधना की चरम अभिव्यक्ति हुई तो अवश्य है, किन्तु काव्य की दृष्टि से वह अधिक उच्चकोटि का नहीं है ।

सन्त कवियों में भक्त-कवियों की-सी सरलता, काव्य-कुशलता एवं तल्लीनता न आ सकी, फिर भी सदाचरण, आत्म-सम्मान आदि भावों को जन साधारण में उत्पन्न कर बाह्याडम्बर, अकर्मण्यता आदि कम कर उन्हें उठने का अवसर दिया । सन्तों की साधना वैयक्तिक या एकांतिक न होकर समाज को दृष्टि में रखकर चलती थी । सन्तों ने समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों की उदार मानवतावादी व्याख्या प्रस्तुत की । समदृष्टि, एकता का प्रचार आदि सब साधना के मुख्य अंग थे । सांस्कृतिक दृष्टि से इसका बहुत बड़ा महत्व है । साहित्य में रहस्यवाद सन्तों के माध्यम से आया । धार्मिक क्षेत्र में पड़ने वाले कूड़ा करकट को साफ कर उन्होंने भावी समाज के लिए भक्ति का राजमार्ग प्रशस्त कर दिया था । सन्त काव्य की आधार-शिला अनुभव ज्ञान की है ।

सन्तों के निम्नलिखित कुछ अन्य नैतिक आदर्श भी थे ।(१) काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान का त्याग आदि आत्म संयम के अन्तर्गत आते हैं । (२) अपरिग्रह की भावना संयम त्याग में से मानते हैं । (३) कामिनी, मादक वस्तु मांसाहार, निद्रा, स्वादिष्ट आहार का त्याग आदि इन्द्रिय-संयम के अन्तर्गत माने जाते हैं । (४) कपट, मिथ्या, आशा, तृष्णा आदि का त्याग मानसिक संयम

कहलाते हैं (५) कुछ संत त्याग को आचार-व्यवहार सम्बन्धी संयम के अन्तर्गत रख सकते हैं तथा (6) बाह्याडम्बर का त्याग एवं आन्तरिक शुद्धि पर अधिक बल देते हैं । आत्मनिग्रह के अतिरिक्त उनके कुछ विधेयात्मक कर्म भी निर्धारित थे --निराकार ईश्वर में आस्था, नाम स्मरण, प्रेम,विश्वास,सत्संग,भक्ति,साधना,दीनता,धीरज, उपदेश,विचार,विवेक, तथा गुरु-सेवा । इनमें कुछ नैतिक, कुछ आध्यात्मिक तथा कुछ आचार-विचार सम्बन्धी हैं ।

सन्त साहित्य में ईश्वर का स्वरूप

कबीर वैष्णव न होते हुए भी वैष्णवी भावना से भली भाँति परिचित थे,क्योंकि वे रामानन्द के शिष्य थे और रामानन्द परम वैष्णव थे । यद्यपि उन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति , तीर्थ-सेवन, माला,तिलक आदि वेश-भूषा का खण्डन किया है तथापि उसकी अनेक बातों को ग्रहण भी किया है । उन्होंने राम,कृष्ण,केशव,गोविन्द,सारंगपाणि आदि नामों को प्रयुक्त किया है, पर न तो दशरथ-सुत राम के लिए, न वासुदेव और विष्णु के लिए ही । उन्होंने ब्रह्म के लिए इनका प्रयोग किया है ।

सभी सन्त मानते हैं-- ब्रह्म एक है, अरूपा है, निराकार है, पुष्प की सुगंध से भी सूक्ष्म है, घट-घट व्यापी है, जन्म-मरण से परे है ।

प्रतीक,शून्य एवं भाषा-योजना

सन्त साहित्य में पुनरावृत्ति अधिक और मौलिकता कम है किन्तु तब भी वह बहुत कुछ एक महत्वपूर्ण विचारधारा को प्रतिबिम्बित करती है । सन्त साहित्य में, शून्य, काया, तीर्थ, सहज समाधि, योग,इंगला,पिंगला,सुषुम्ना

सन्त साहित्य का परवर्ती प्रभाव

यद्यपि सन्त काव्य ने अपने परवर्ती हिन्दी साहित्य को प्रभावित नहीं किया, वह अपने युग तक ही सीमित होकर रह गया, किन्तु आज भी उसका सामाजिक प्रभाव दर्शनीय है । यह कहना अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है कि रामानन्द ने रामानुजाचार्य के भक्ति-सिद्धांत को उत्तर भारत में अनेक प्रयोगों के साथ प्रस्तुत किया । यह भक्ति-मार्ग उत्तर भारत में ऐसी ढाल बना, जिसपर विदेशियों के धर्म-प्रचार की तलवार कुंठित हो गई ।

सूफी काव्य

सूफी कवियों का उद्देश्य सूफी धर्म-प्रचार करना बताया जाता है, किन्तु वस्तुतः यह साहित्यिक भ्रममात्र है, क्योंकि इस परम्परा के पर्याप्त कवि हिन्दू थे, जिन्होंने अपनी रचना के मध्य व आरम्भ में हिन्दू देवी-देवताओं की वन्दना करके हिन्दू धर्म में पूर्ण विश्वास प्रकट किया है । अतः उनके द्वारा सूफी मत के प्रचार की कल्पना नहीं की जा सकती । अपनी बहुज्ञता प्रदर्शन के लिए वेदांत,दर्शन,योग मार्ग, इस्लाम, नीति शास्त्र, काम शास्त्र, काव्यशास्त्र, संगीतशास्त्र ज्योतिष शास्त्र तथा भूगोल की सामान्य बातों का भी समन्वय उन्होंने किया जो तत्कालीन युग के कवियों की सामान्य प्रवृत्ति रही है ।

प्रेम-भावना

मुसलमानों के हिन्दू धर्म के प्रति अश्रद्धा होते हुए भी सूफी कवियों के हृदय में हिन्दू-प्रेम कथा के स्निग्ध भाव उपस्थित थे । वे हिन्दुओं के

धार्मिक आदर्शों को सौजन्य की दृष्टि से देखते थे । साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम-एकता का यह प्रथम प्रयास था[1] ।

सूफी कवि सम्प्रदाय प्रेमपंथ को लेकर चला था । उनका प्रेम लौकिक नहीं, प्रत्युत परोक्ष के प्रति था । समस्त प्रेमाख्यानक साहित्य को धार्मिक सूफी साहित्य के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता । `छिताई वार्ता` शुद्ध प्रेमाख्यानक काव्य है, जिसमें नर-नारी के लौकिक प्रेम का चित्रण किया गया है। दूसरे प्रकार के प्रेमाख्यानक काव्य में रहस्यवाद है, जिसमें नर-नारी के प्रेम के माध्यम से आत्मा और परमात्मा की चर्चा की गई है । जायसी का पद्मावत इसी श्रेणी में आता है ।

कथानक

इन कवियों ने सर्वप्रथम ऐसे ही कथानक लिए हैं, जो भारतीय परम्परा से सम्बन्ध रखते हैं और उनके अनुकूल घटना-विकास के क्रम को भी निभाया है । पात्रों के स्वाभाविक चित्रण पर भी ध्यान दिया है । हिन्दू पात्रों के विषय में लिखते समय उनकी पौराणिक मनोवृत्ति के प्रदर्शन पर भी ध्यान रखने का प्रयत्न किया है तथा उनकी प्रचलित प्रथाओं, शास्त्रीय मर्यादाओं तथा सामाजिक जीवन के सूक्ष्म अंगों को भी अंकित करने तक से विरत नहीं हुए हैं[2] । प्रेम गाथाओं की कहानियां लोक कहानियां हैं--भारत की अपनी कहानियां हैं । इस धारा का प्राण था प्रेम ।

सिद्धान्त

सूफी मत का मुख्य सिद्धांत है जीव, ब्रह्म तथा जगत की एकता । जीव तथा ब्रह्म की एकता वेदान्त का विषय है । जगत तथा ब्रह्म की

---

१ डा० दिनेशचन्द्र गुप्त : `भक्तिकालीन काव्य में राग और रस`, पृ०३

२ परशुराम चतुर्वेदी : `भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा`, पृ०६

इसका विशिष्टाद्वैत वेदान्त का ही एक अंग है।[1]

सूफी कवियों ने तत्कालीन प्रचलित प्रबन्ध परम्परा को अपनाया। काव्य-रचना दोहों और चौपाइयों में की तथा अवधी भाषा का प्रयोग किया।

रामकाव्य

राम-भक्ति का स्वरूप

राम-भक्ति शाखा के मुख्य प्रवर्तक रामानन्द हैं। इस धारा के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास हैं। राम-भक्ति शाखा में ईश्वर को निराकार एवं साकार मानते हुए भी सगुण भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। वैष्णव धर्म के आदर्शों को सामने रखकर सेवक-सेव्य भाव का प्रतिपादन किया गया है। भक्ति का स्थान ज्ञान से श्रेष्ठ बताया गया है। राम विष्णु के अवतार, ब्रह्म-स्वरूप, शक्ति, शील और सौन्दर्य के निधान माने गए हैं। राम के लोक-पालक एवं लोक-रंजक दोनों ही रूपों का चित्रण किया गया है। राम की उपासना के साथ ही शिव, गणेश, हनुमान आदि अनेक देवी, देवताओं की भी वन्दना की गई है। ज्ञान, भक्ति एवं कर्म में समन्वय स्थापित किया गया है।

ज्ञानमार्गी तथा प्रेममार्गी निर्गुण कवियों की रहस्यभावना और अटपटी वाणी को स्थान न देकर वेद शास्त्र द्वारा निर्धारित साधना मार्ग को श्रेयस्कर समझा गया है। अपने कर्मों और गुणों की अपेक्षा ईश्वर कृपा को अधिक महत्व दिया गया है।

---

1 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : "हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि", पृ० ३६१

मानसिक नीति के क्षेत्रों में राम काव्य का दृष्टिकोण सन्त काव्य से सर्वथा विपरीत है । रामकाव्य में वेदशास्त्र,पुराण आदि धर्म-ग्रन्थों के प्रति पग-पग पर श्रद्धा के दर्शन होते हैं । तुलसी वेदवादी हैं। वेदों को सारी विद्याओं का आदि स्रोत मानते हैं । वेद विरुद्ध सिद्धान्तों को वे स्वीकार नहीं करते । स्थान-स्थान पर वे वेद की दुहाई देते हैं । पुराण,आगम की बात भी वेद के नाम पर कह जाते हैं,क्योंकि वे पुराण,आगम आदि को वेद विरुद्ध नहीं मानते[1] ।

सूर वेद मार्ग को,ज्ञान और तप को, मर्यादा और योग को महत्व नहीं देते । उनके लिए मर्यादा मार्ग मध्यम मार्ग है, पर तुलसी अपनी भक्ति-पंथ पर सर्व प्रथम वेद को मुहर लगाते हैं और वैराग्य तथा विवेक की आवश्यकता पर जोर देते हैं[2] । उनके काव्य में लोक-मर्यादा का विशेष ध्यान रखा गया है ।

तुलसी वेद-सम्मत वर्णाश्रम धर्म के समर्थक तथा सच्चे लोक धर्म के संस्थापक थे । उन्होंने सामाजिक व्यवस्था स्मृतियों पर ही स्थापित की है । वे लौकिक व्यवहार में ब्राह्मणों को अधिक अधिकार देते हैं[3] और शूद्रों आदि को कम, परन्तु भक्ति के क्षेत्र में वे साम्यवादी हैं ।

रामकाव्य का स्वरूप एवं स्रोत

उनका काव्य लोक मंगलकारी था । वे सच्चे अर्थों में जन-कवि थे । उन्होंने लोक-सम्मान एवं सम्पत्ति की परवाह न करके स्वान्तः सुखाय

---

१ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय :"हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि",पृ०२२०

२ वही,पृ०२२२

३ वही,पृ०२२३

काव्य-रचना की थी । मूलत: वे साम्यवादी थे तथा तत्कालीन मतभेदों को हृदय-परिवर्तन द्वारा सुलझाने के पक्षपाती थे । रामायण, अध्यात्म रामायण, पुराण, रघुवंश, हनुमन्नाटक आदि संस्कृत ग्रन्थों से उन्होंने प्रेरणा ली थी ।

काव्य-सौन्दर्य

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, व्यतिरेक आदि उनके प्रिय अलंकार थे, किन्तु स्वाभाविक रूप से प्राय: सभी अलंकारों का प्रयोग हुआ है । उनका मुख्य रस शान्त था, परन्तु वीर, अद्भुत तथा करुण आदि रसों का भी निर्वाह उत्तम ढंग से हुआ है । दोहा, सोरठा, चौपाई, कवित्त, सवैया, छप्पय, एवं पद आदि सभी प्रचलित छन्दों का प्रयोग मिलता है । मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों ही शैलियां अपनाई गई हैं । अवधी तथा ब्रजभाषा के अतिरिक्त बुन्देलखंडी एवं भोजपुरी का भी प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है । समय तथा शासन के प्रभाव से अरबी तथा फारसी शब्दों के भी यत्र-तत्र स्फुट प्रयोग हुए हैं ।

कृष्ण काव्य

कृष्ण भक्ति-धारा में अनेक परम्पराएं विकसित हुईं, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण वल्लभाचार्य की है, जिसमें अप्रतिम भावुक कवि सूरदास का आविर्भाव हुआ । सूरदास की ही कविता ने ब्रजभाषा की गणना विश्व साहित्य में कराई है ।[1] सूर के कविता-काल को सौर काल कहा जाता है । सूरदास ने निर्गुण पंथ के प्रतिनिधि उद्धव के प्रतिपक्ष में गोपियों को खड़ा कर उनसे दो बातें कहलवाई हैं— एक तो निर्गुण पंथ सामाजिक दृष्टि से घातक है, दूसरे वह कठिन भी है । यह भी कहा जा सकता है कि कबीर की भांति कृष्ण

---

१ आचार्य चतुरसेन शास्त्री : "हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास", पृ० ६८३

काव्य में सभी सुधारों और समन्वय के लिए स्थान कहां ? किन्तु भक्ति-सम्प्रदाय में जाति-भेद नहीं माना जाता । कृष्ण काव्य में भी रसखान, ताज आदि थे । वस्तुत: कबीर का निर्गुण मत सूफियों के मत को पचाने तथा मुसलमानी पैगम्बरी कट्टरता को दूर करने में असमर्थ था, पर सगुण भक्ति ने तो भक्तों में कन्हैया के वात्सल्य पूरित रूप-लावण्य की लालसा उत्पन्न कर दी था । कबीर ने एकता की पृष्ठभूमि तो बनाई थी, पर उससे अभेद का प्रसाद न बन सका । कबीर की डाट-फटकार से लोगों का मन न मिल सका । कृष्ण भक्त-कवियों में अन्त:करण को रस-मग्न करने की अपूर्व क्षमता थी । समकालीन लोक-जीवन एवं सांस्कृतिक तत्वों की अभिव्यक्ति इस युग की काव्य-धारा में अत्यन्त विशद् रूप में मिलती है ।

<u>बृज एवं वृन्दावन:कृष्ण-भक्ति के केन्द्र</u>

कृष्णभक्त-कवियों का सम्माज्ञ केन्द्र बृज था, जहां से इनकी सुधा-धारा सम्पूर्ण उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश में प्रवाहित हुई । कृष्ण-भक्ति के विकास के साथ बृज-भूमि का भी महत्व बढ़ने लगा । यहां के वन, उपवन, नदी, पर्वत, पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष, प्रेम-भाव के उद्रेक करने वाले हैं । भक्तिकालीन कवियों के समय में कृष्ण-भक्त एवं कृष्ण-भक्ति के प्रचारक आचार्यों का मुख्य स्थान वृन्दावन ही था । वैष्णव धर्म के पुनर्जागरण का महान् कार्य जिन वैष्णवों द्वारा सम्पन्न हुआ, उनमें प्राय: सभी के प्रधान केन्द्र वृन्दावन में ही थे । बृज-भूमि का उस समय इतना महत्व था कि राजपूताना, जोधपुर तथा अवध भी उसकी साहित्यिक धारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके । मीरां के कारण जोधपुर और मेवाड़ भी साहित्य-केन्द्र बन चुके थे ।

वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी धारणा

कृष्ण-भक्त-कवियों ने कबीरादि सन्तों के समान वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-पाँति का उग्र खण्डन तो नहीं किया, तथापि कृष्ण के शरण में आ जाने वाले अंत्यजों तक से प्रेम करने में संकोच भी नहीं किया ।

भक्ति का स्वरूप

कृष्ण-भक्त-कवियों के आराध्य रूप लावण्य युक्त भगवान श्रीकृष्ण हैं । भगवान के शक्ति, शील, सौन्दर्य में से इन कवियों ने सौन्दर्य को ही मुख्य रूप से लिया है । अतः भगवान का लोकरंजनकारी रूप तथा सौन्दर्य-वर्णन ही उनका वर्ण्य है । प्रायः सभी बालकृष्ण के उपासक हैं, अतः वात्सल्य के उभयपक्ष उनके विषय हैं । साथ ही राधा-कृष्ण के शृंगारिक वर्णन संयोग-वियोग तक ही इन कवियों की दृष्टि गई है । कहीं-कहीं आत्म-निवेदन स्वरूप विनय भी की है, अतः इनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो गया है ।

कृष्ण-भक्ति-साहित्य एक बंधे-बंधाए एवं सधे-सधाए मार्ग पर चल रहा था, अतः इस शाखा के कवियों में एकरूपता पाई जाती है । कहीं-कहीं भाव-साम्य के साथ शैली-साम्य भी मिल जाता है । भावों एवं शैलियों की यह पुनरावृत्ति संतों तथा अन्य भक्त-कवियों में भी पाई जाती है पर वह इतनी बंधी-बंधाई नहीं है ।

कृष्ण-भक्त-कवियों के पदों में किसी सिद्धांत के प्रचार की भावना नहीं है साथ ही किसी साहित्य सृजन का अर्थ भी प्रमुख नहीं है, वरन् ये पद स्वतः स्फूर्त भावों की अभिव्यक्ति मात्र हैं। भौतिक भावों का रसात्मीकरण करके पूर्ण तन्मयता की स्थिति पर पहुंचकर अलौकिक आनन्द की अनुभूति की अभिव्यक्ति कृष्ण काव्य में हुई है। बंगाल में कृष्ण के साथ राधा को भी प्रमुख स्थान प्राप्त है, चैतन्य महाप्रभु ने और उत्तरप्रदेश में महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा महात्मा हित हरिवंश जी ने कृष्ण भक्ति का अनुपम स्रोत प्रवाहित किया, जिसकी तरंगों ने समस्त देश को भक्ति रस से प्लावित कर दिया।

वल्लभाचार्य और पुष्टि सम्प्रदाय

वल्लभाचार्य इस शाखा के प्रमुख आचार्य हैं।[1] उनके दार्शनिक सिद्धांत पर विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क दोनों का ही प्रभाव है।[2] उनके अनुसार ज्ञान की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञान से तो ब्रह्म केवल जाना जा सकता है। भक्ति से ब्रह्म की अनुभूति होती है जो स्वयं कृष्ण के अनुग्रह स्वरूप है। उस अनुग्रह का नाम वल्लभाचार्य के अनुसार 'पुष्टि' है। इसी कारण से उनके सिद्धान्त को पुष्टिवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। पुष्टिमार्ग का प्रभाव उत्तर भारत पर बहुत पड़ा। कृष्ण-भक्ति का उपदेश इस सम्प्रदाय की प्रसिद्धि का मुख्य कारण बना। कृष्ण-भक्ति-परम्परा का हिन्दी में आरम्भ वल्लभाचार्य के समय से ही होता है।[3] उन्होंने शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया है।

---

१ डा० कौन्ध : 'भारतीय वाङ्मय', पृ० ५४८

२ वही

३ आचार्य चतुरसेन शास्त्री : 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास', पृ० १८१

वे ब्रह्म में दो अचिन्त्य शक्तियाँ मानते हैं-- एक आविर्भाव की दूसरी तिरोभाव की । वह अपनी शक्तियों द्वारा जगत के रूप में परिणत भी हो जाता है और परे भी रहता है । वह अपने रूप का कहीं आविर्भाव और कहीं तिरोभाव भी किए रहता है[1] । वल्लभाचार्य ने 'पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद' नामक ग्रन्थ में भगवद् प्राप्ति के तीन मार्ग बताए हैं-- मर्यादा मार्ग, प्रवाह मार्ग और पुष्टि मार्ग । सूर ने केवल पुष्टिमार्ग को ग्रहण किया है[2] ।

सभी कृष्ण-भक्त-कवियों को हम मधुरोपासना की ओर आकृष्ट हुआ पाते हैं । पूर्ववर्ती कवियों में आध्यात्मिक भाव की प्रधानता मिलती है, किन्तु परवर्ती कवियों में लौकिकता की गन्ध आने लगती है । विरह-भाव की व्यापकता में अवश्य समानता है । यही कारण है कि गोपियों के आत्म-निवेदन के सर्वाधिक अवसर भ्रमर गीत की ओर इस शाखा के अधिकांश कवि आकृष्ट हुए । भ्रमर गीत काव्य में, उद्धव-गोपी संवाद में दार्शनिकता के भी दर्शन होते हैं । सख्य भाव से प्राय: सबने कृष्ण की आराधना की है । कृष्ण का बाल चित्रण भी उनका प्रिय विषय रहा है ।

कवि -स्वभाव एवं तत्कालीन स्थिति

राम-भक्त-कवियों की भाँति इस धारा के कवि भी सांसारिक माया-मोह से विरत थे और न उन्हें किसी राज्याश्रय की आवश्यकता ही थी, धन सम्प्राप्ति से भी उनका विशेष प्रयोजन नहीं था । अधिकांश कवि साधु थे या साधु संगति में रहते थे । इस युग में परम्परागत ज्ञान एक ओर संस्कृत,प्राकृत रचनाओं में आबद्ध हो गया था, दूसरी ओर नये ज्ञान कोश मुस्लिम

---

१ आचार्य चतुरसेन शास्त्री : 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' पृ० ९८१
२ डा० विमलकुमार जैन : 'हिन्दी साहित्य रत्नाकर',पृ०७५

राज्य के प्रभाव के कारण फारसी में तैयार हो रहे थे । जनता की पहुंच संस्कृत तथा फारसी दोनों तक नहीं थी । उनकी ज्ञान-पिपासा की शान्ति का दायित्व इस युग के साहित्यकारों पर ही था । यही कारण है कि समस्त कृष्ण भक्ति-काव्य साधारण काव्य की अपेक्षा सहृदय पाठकों और श्रोताओं में तदनुरूप भाव उद्दीप्त करने में सफल हो जाता है, क्योंकि इस काव्य के आलम्बन कृष्ण जैसे लोकप्रिय नायक हैं, जिन्होंने शताब्दियों से भाव-जगत पर अधिकार रखा है ।

कृष्ण काव्य के प्रतिनिधि कवि सूर

कृष्ण भक्ति-साहित्य ब्रजभाषा में लिखा गया है । माधुर्य गुण युक्त ब्रजभाषा मधुर भावों के प्रकाशन में सहायक सिद्ध हुई । गीतात्मकता की प्रवृत्ति प्रायः सभी कवियों में पाई जाती है । जयदेव तथा विद्यापति के ही पथ का अनुसरण प्रायः सभी ने किया है । कृष्ण-भक्ति की विशेषता है कि वह सम्प्रदायों के बाहर भक्तों की स्वतन्त्र साधना में भी पल्लवित होती है ।

कृष्ण-भक्ति-शाखा के प्रतिनिधि कवि सूर हैं । उनका व्यक्तित्व साम्प्रदायिकता से बहुत ऊपर उठा हुआ था । वे न तो धर्म-प्रवर्तक थे न धर्म प्रचारक । पुष्टिमार्गीय कर्मकाण्ड एवं दार्शनिक सिद्धान्त उनकी साम्प्रदायिकता के द्योतक अवश्य हैं, पर ऐसे अंश बहुत ही कम हैं[1] । सूर केवल कृष्ण-भक्त थे । भक्ति की दृष्टि से सूर के पदों में केवल उद्धव-गोपी-संवाद को छोड़कर सर्वत्र मण्डनात्मक दृष्टिकोण अधिक है । सूरदास अष्टछाप के सर्वश्रेष्ठ कवि थे।

---

१ डा० शशि अग्रवाल : "हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य पर पुराणों का प्रभाव" प्रथम संस्करण, पृ० ५३ ।

अष्ट छाप आठ कृष्ण-भक्त-कवियों का समूह था । विट्ठलदास इसके संस्थापक थे ।

कृष्ण-काव्य में काव्य-सौन्दर्य

समस्त कृष्ण-भक्त-कवियों में प्रयुक्त अलंकारों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव पक्ष की प्रधानता होते हुए भी उनके काव्य में अलंकारों का वह परम्परागत रूप भी प्राप्त होता है, जो परवर्ती रीतिकालीन कवियों का प्राणाधार बना था।[1] कृष्ण-भक्त-कवियों में अपने इष्ट एवं उपास्य के नख-शिख वर्णन, सौकुमार्य आदि में उन्हीं ऊहात्मक अलंकारों का वर्णन मिलता है जो रीतिकाल की कला के प्रसाधन के रूप में प्रयुक्त किए गए हैं । यही कारण है कि सूर आदि कृष्ण-भक्त-कवियों ने कहीं-कहीं अलंकारों की ऐसी झड़ी लगा दी है कि भावके पक्ष दब-सा गया है[2] । सूर का काव्य भावों का उमड़ता सागर है, जिसमें इस की थाह नहीं पाई जाती ।

इन्होंने केवल मुक्तक रचनाएं ही की हैं । इनका मूल स्रोत श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध था । इन कवियों ने प्रेम के आगे नियमों की अवहेलना की है । व्यंग्यात्मक काव्य, प्रेम उपालम्भों की प्रधानता है । लोक-जीवन के प्रति उपासना की भावना मिलती है । वे केवल ईश्वर के लोक-रंजक रूप ~~[illegible]~~ के उपासक थे ।

कृष्ण-भक्ति के कुछ स्वतन्त्र कवि : मीरा, रसखान नरोत्तमदास

कुछ स्वतन्त्र कवियों में श्रीकृष्ण प्रेम की अद्वितीय छटा देखने को मिलती है । ऐसे स्वतन्त्र कवियों की प्रवृत्ति स्वतंत्र निरूपण की ओर

---

१ डा०चन्द्रभूषण : 'सूर तुलसी का काव्य-सौन्दर्य', पृ०४१

२ वही, पृ० ४५

न आकर विशुद्ध कृष्ण तथा राधा कृष्ण की ओर रहा है । मीरां,रसखान, नरोत्तम इसी श्रेणी में आते हैं जिन्होंने बिना किसी साम्प्रदायिक बन्धन के कृष्ण के स्वरूप को देखा है । मीरांबाई के पदों में मध्यकालीन धर्म साधना के प्रत्येक सम्प्रदाय का थोड़ा-बहुत आभास मिलता है[1] । निर्गुण मत के सिद्धान्तों पर आधारित अनेक पद उनके लिखे हुए हैं । वे रहस्यानुभूतियों के विह्वल क्षणों में चैतन्य के निकट आती हैं[2] । कृष्ण-भक्ति-काव्य में आत्म-निवेदन का तत्व विशेष रूप से पाया जाता है, किन्तु उसका रूप सदैव व्यक्तिगत नहीं होता । मीरां का आत्म-निवेदन व्यक्तिगत रूप से प्रकट हुआ है । मीरां को छोड़कर कृष्ण-कवियों में अधिक भावात्मक तल्लीनता केवल सूर में पाई जाती है ।

इस प्रकार जब हम तत्कालीन साहित्यिक वातावरण के निकष पर मीरां की साहित्यिक कृतियों का आकलन करने की बात सोचते हैं तो लगता है, जैसे मीरां ने तत्कालीन समस्त परिस्थितियों के चक्रव्यूह का भेदन बड़े ही मनोहारी ढंग से किया है । उन्होंने किसी भी सम्प्रदाय या साहित्यिक गुटबन्दी में न पड़कर सब के मूल तत्व को ग्रहण किया है । यही कारण है कि मध्यकालीन उच्च सामंत वर्ग में पोषित राजकुमारी होती हुई भी चर्मकार रैदास की शिष्या बनने में उन्हें संकोच नहीं होता । राजभवन त्यागकर संतों की कुटिया में जाने में उन्हें किसी प्रकार की झिझक नहीं । वस्तुतः उनका शूद्र-वर्ण के संतों के साथ मिलना-जुलना एक नूतन विकास एवं नूतन संगम का सूचक है । इतना ही नहीं, संतों के निर्गुण की शुष्कता के साथ सगुण की मधुरता का मेल, खण्डन-मण्डन की तार्किकता के स्थान पर हृदय के माधुर्य की प्रतिष्ठा एवं दुरूह तथा अस्पष्ट प्रतीकों एवं शब्दावलियों के स्थान पर सहज स्वाभाविक शैली का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि मीरां ने अपने काव्य में पूर्ववर्ती सन्तों की उपलब्धियों एवं परवर्ती भक्तों की सम्भावनाओं को प्रस्तुत किया है । उनका

---

१ डा० नगेन्द्र : 'भारतीय वाङ्मय',पृ०५५४

२ ,, ,, ,,

युग-बोध सीमित न होकर अतीत और भविष्य से संपुष्ट है ।

अस्तु इसमें सन्देह नहीं कि मीरां के अद्भुत व्यक्तित्व की सफलता, शक्तिमत्ता एवं स्पष्टवादिता ने उनकी वाणी को पर्याप्त शक्ति एवं सफलता प्रदान की है, इसी के बल पर वे अपनी अनुभूतियों को यथार्थ रूप में व्यक्त कर सकी हैं और यह यथार्थता उनकी अभिव्यक्ति का परम सौन्दर्य भी है । अन्त में हम अत्यन्त निःसंकोचरूप से निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि मीरां का काव्य-परम्परा से पुष्ट होते हुए भी रूढ़ियों से जकड़ा नहीं है, युगीन वातावरण पर आधारित होते हुए भी उसकी सीमाओं से आबद्ध नहीं है और उनका व्यक्तित्व राजमहलों में पला होने पर भी उनकी औपचारिकताओं एवं कृत्रिमताओं से मुक्त है । मीरां अमर हैं, उनका काव्य अमर है और उनका प्रेम अमर रहेगा । उनके मार्ग दर्शन से लोग सदैव प्रेरणा ग्रहण करते रहेंगे ।

-०-

अध्याय --3

अक्क महादेवी तथा मीरांबाई का जीवन-परिचय

(क) अक्क महादेवी का जीवन-परिचय

(ख) मीरांबाई का जीवन-परिचय

(ग) तुलनात्मक विवेचन

--०--

अध्याय--3

अक्क महादेवी तथा मीराबाई का जीवन-परिचय

प्रस्तुत अध्याय में अक्क महादेवी तथा मीराबाई के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। विभिन्न आलोचकों ने अक्क महादेवी तथा मीराबाई के जीवन-वृत्त के विषय में जो विचार प्रस्तुत किए हैं, उनके आधार पर हम इन कवयित्रियों के जीवन-वृत्त की रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे।

(क) अक्क महादेवी का जीवन-परिचय

जन्म तिथि

अक्क महादेवी के जन्म का समय विवादास्पद है, परन्तु समय का अन्तराल अधिक नहीं है। रावेश्वरय्या[1] के अनुसार इनका जन्म ११६५ई० में हुआ था, परन्तु गवेषणाओं से उसकी पुष्टि नहीं हो पाती। डा० वेंकटि[2] के अनुसार जब वे महात्मा बसवेश्वर का दर्शन करने गई थीं, उस समय उनकी उम्र १६ वर्ष की थी। श्रीकुमार स्वामी के अनुसार महात्मा बसवेश्वर का मंत्रित्वकाल ११५६-११६६ई० तक था। इस प्रकार रावेश्वरय्या के अनुसार महात्मा बसवेश्वर और अक्क महादेवी के मिलन का समय ११८०ई० के लगभग पड़ता है, जो असंगत है। यदि

---

१ वरलु बाडु रचनोत्सव संचिके : "अक्क महादेवीयवर वचन विश्लेषणे", पृ०११२

२ शिवशरणियर चरित्रे मत्तु", पृ०१८०।

११६५ई० में अक्क महादेवी जी का जन्म-काल मान भी लिया जाय तो बसवेश्वर से मिलने के समय उनकी आयु अधिक-से-अधिक ३ वर्ष की रही होगी, क्योंकि ११६८ई० के बाद बसवेश्वर के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता । रा० ब०म०ए० आर० नरसिंहाचार्य[1] ने अक्क महादेवी के जन्म का उल्लेख करते हुए उनकी जन्म-तिथि ११६०ई० मानी है । यह मत इसलिए असंगत है, क्योंकि हळकट्टि[2] के साक्ष्य के आधार पर अक्क महादेवी की आयु अनुभव-मण्डप में पहुंचने के समय लगभग १६ वर्ष की थी । इस प्रकार उनके अनुभव-मण्डप में प्रवेश का समय ११७६ई० पड़ता है । अनुभव-मण्डप की स्थापना श्री कुमार स्वामी[3] के अनुसार ११६०ई० में हुई थी । अतः अक्क महादेवी और बसवेश्वर के मिलने की पुष्टि नहीं हो पाती ।

डा० रंगनाथ मुगळि[4] ने उनका जन्म-काल ११५० ई० माना है, परन्तु डा० हळकट्टि[5] ने विस्तृत विवेचन के बाद उनकी मृत्यु के समय की आयु २२ वर्ष निरूपित की है और अपने विस्तृत विवेचन के उपरान्त उनकी मृत्यु तिथि ११६८ ई० मानी है । उनके प्रमाण तर्क संगत हैं और इसीलिए अन्य मतों की अपेक्षा उनमें औचित्य अधिक है । डा० हळकट्टि[6] के अनुसार बसवेश्वर अक्क महादेवी से उम्र में १४ वर्ष अधिक थे और बसवेश्वर की जन्म-तिथि ११३२ है, इस प्रकार अक्क महादेवी का जन्म-काल ११४६ ई० पड़ता है । इसके अनुसार वे ११६२ ई० में

---

१ 'कर्नाटक कविचरिते', पृ० १८८

२ 'शिवशरणियर चरित्रे गळु', पृ० १००

३ डा० राधाकृष्णन : 'तत्वशास्त्र : प्राच्य मत्तु पाश्चात्य, प्रथम संपुटे (१९७०) वीरशैव धर्म- कुमार स्वामी, पृ० २४६ ।

४ कवि चरित्रे, पृ० ४२६ ।

५ विशेष विवरण के लिए देखिए — डा० फ०गु० हळकट्टि : शिवशरणीयर - चरित्रे गळु, पृ० १०१

६ वही, पृ० १०२

महात्मा बसवेश्वर से मिलीं और इस समय तक अनुभव मण्डप का अस्तित्व भी प्रकाश में आ चुका था । इस आधार पर मुगाड़ि के तर्क को भी असंगत नहीं कहा जा सकता और ११५०ई० में उनके जन्म होने की सम्भावना से सर्वथा इन्कार नहीं किया जा सकता । कम-से-कम इतना तो सत्य है कि उनका जन्म-समय ११४६ई० से ११५० ई० के मध्य माना जा सकता है ।

जन्म-स्थान

अक्क महादेवी के जन्म-स्थान के विषय में दो अभिमत[1] व्यक्त किए हैं । प्राचीन ग्रन्थों का पूर्णरूप से अध्ययन करने पर मैसूर राज्य के `शिव मोगा` जिले के शिकारीपुर तहसील का उडुतड़ि ग्राम ही अक्क महादेवी का जन्म-स्थान सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त मैसूर राज्य के गुलबर्गा जिले में स्थित `महागांव`[2] ग्राम में अक्क महादेवी का जन्म-स्थान होने का कुछ ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है, किन्तु उडुतड़ि का उल्लेख अधिक होने के कारण अधिकांश विद्वान् महादेवी का जन्म-स्थान उडुतड़ि ही मानने के पक्ष में हैं ।

---

१ (अ) महाकवि हरिहर -- महादेवी रगळे स्थल १ पद्य २

(आ) पाल्कुरिके सोमनाथ --पण्डिता राध्य चरित

द्रष्टव्य -- टी०एन०एम० सदाशिवय्या

अक्कन हेज्जे (उडुतडिय महादेवी यक्कन नाटक

प्रस्तावना, पृ०१३ ।

(इ) चन मठ शिवयोगी : `भक्ति सुधा सार`, पृ०१३६, पद्य १३८ ।

(ई) विरूपाक्ष पण्डित -- `चेन्नबसव पुराण`, संधि ५७, पद्य ६३ ।

२ टी०एन०एम० सदा शिवय्या, एम०ए० बि०एड -- अक्कन हेज्जे (आदि)

पृ०१३ ।

सुप्रसिद्ध ग्रन्थ `गण सहस्र नामावड़ि` में `उडुतड़ि`[1] महादेवी तथैव कमलव्वा ईंवा एक उल्लेख मिलता है । उडुगणि तडुगणि अब दोनों ग्राम अलग-अलग हैं । उस काल में दोनों मिलकर उडुतडि नाम से प्रख्यात थे[2]। इस `उडुतडि` के निकट (२-३ मील) `बल्लिगावि` ग्राम है । इस ग्राम में प्रख्यात `केदारेश्वर देवालय` के समक्ष एक नग्न स्त्री की प्रतिमा विराजमान है, जिसकी आराधना प्रगाढ़ भक्ति-भाव से आज भी लोग कर रहे हैं । इस प्रतिमा को आज भी उच्चारण की सुविधा की दृष्टि से `कमलव्वा` के नाम से सम्बोधित करते हैं[3] । जनश्रुति के अनुसार यह प्रतिमा महादेवी की ही है । शून्य संपादने ग्रन्थों का कन्नड साहित्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है । इन ग्रन्थों में भी व अक्क महादेवी का जन्मस्थान उडुतड़ि होने का ही सबल प्रमाण मिलता है[4] ।

---

१ द्रष्टव्य--

(अ) वि० शिवमूर्ति शास्त्री : श्री मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य मदु पाल्कुरिकी सोमनाथ कवि विरचित गणसहस्र नामावड़ि (१९५५ ई०), पृ० ३३ ।

(आ) डा० आर० सी० हिरेमठ : `महादेवी यक्कन वचन गड़ु`, प्रस्तावना, पृ० ७

२ वही डा० आर० सी० हिरेमठ: महादेवी यक्कन वचनगड़ु, पृ० ८

३ वही " " "

४ (अ) प्रो० स० शि० भूसनूर मठ, एम०ए० : `गूळूर सिद्ध वीरण्णोडेयर द्वारा संकलित प्रभु देवर शून्य संपादने, पृ० ३२० ।

(आ) प्रो० स० शि० भूसनूर मठ : शून्य संपादने परामर्श, प्रथम सं० (१९५८ ई०), पृ० ७७८ ।

(इ) डा० एल० बसवराजु: शिवगण प्रसादि महादेवय्यन प्रभुदेवर शून्य संपादने संपुट १, पृ० १५९ ।

(ई) डा० आर० सी० हिरेमठ : `शिवगण प्रसादि महादेवय्यनवर शून्य संपादने` पृ० २४६

(उ) एम० चिदानंद मूर्ति — शून्य संपादने कुरितु (१९६२ ई०), पृ० ८८

महाकवि चामरस रचित 'प्रभु लिंग लीले' ग्रन्थ से भी इसी मत की पुष्टि होती है।[1] आन्ध्र की कवयित्री 'बाल पापांब' ने अपने 'अक्क महादेवी बोधोल्लास' काव्य में अक्क महादेवी का जन्मस्थान 'उडुतडि' बताया है।[2] इस ग्रन्थ में अक्क महादेवी द्वारा अल्लम प्रभु के दर्शन के लिए जाते समय अनेक भयानक काननों, पर्वत-शृंखलाओं तथा नदियों को पार करके कल्याण नगर पहुंचने का वर्णन हुआ है।[3] 'पिडुपर्ति बसव' कवि ने भी अपने 'चेन्न प्रभु लिंग लीले' में अक्क महादेवी के सुदीर्घ कष्टकर यात्रा का वर्णन किया है। इस प्रकार[4] अक्क महादेवी के 'उडुतडि' का कल्याण से काफी दूर होना प्रतीत होता है। कन्नड विश्वकोश में भी अक्क महादेवी का जन्मस्थान उडुतडि होने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[5] बल्लिगावि 'बेळुवल प्रदेश' की राजधानी थी और इस बेळुवल प्रदेश में ही प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर उडुतडि का स्थित होना ज्ञात होता है। कुंतल देश में बल्लिगावि था, ऐसा ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। इस बल्लिगावि से ७-८ मील दूर अब सोरब ताल्लुका से मिला हुआ बूद्दूर का कुंतल प्रदेश के अन्तर्गत होने का उल्लेख है।

---

१ बसवनाळ शिवलिंगप्पा — 'चामरस कृत प्रभु लिंग लीले', प्रस्तावना, पृ० २६ ।

२ द्रष्टव्य— टी०एस०ए० सदा शिवय्या— अनकन दंड —(उडुतडिय महादेवी यक्षगान नाटक), प्रस्तावना, पृ० १३ ।

३ वही, पृ० १४ ।

४ वही "

५ (अ) कन्नड विश्वकोश संपुट १(१९६९), पृ० १५४ ।
कन्नड अध्ययन संस्थे मैसूर विश्वविद्यालय ।
(आ) कन्नड विश्व कोश संपुट २, पृ० ९७०

उससे कुंतल प्रदेश का उडुतडि इस अद्रिगापि के निकट ही है, ऐसा निर्विवादरूप से स्पष्ट होता है[1]। प्राचीन अवशेषों के आधार पर यह मान्यता है कि `उडुतडि` के दुर्ग में एक कुआं है,जिसके निकट एक भवन होने का भी संकेत मिला है। इसी स्थल को अक्क महादेवी का पुण्य स्थल समझकर `सद्धर्म दीपि के' पत्रिका के एक लेख में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है[2]। कन्नड़ भाषा के शरण साहित्य पत्रिका` में[3] भी अक्क महादेवी का जन्म स्थान उडुतड़ी होने का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। शिवानुभव[4], सावधान[5] जैसे कन्नड़ शरण साहित्य की प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं में भी अक्क महादेवी का जन्म स्थान उडुतडि होने का ही प्रमाण मिलता है। क्वार्टरली कर्नाटक पत्रिका[6] से भी इसी मत की पुष्टि होती है। बहुसंख्यक आधुनिक विद्वानों ने उडुतड़ि को ही अक्क महादेवी का जन्मस्थान

---

१ `सद्धर्म दीपिके (कन्नड साहित्य पत्रिका)

२ वही

३ (अ) शरण साहित्य, संपुट ५,ले०-मृत्युंजय देवरु`वेदांताचार्य`मुधोळ शीर्षक— `अक्कन अक्करते`,पृ०२६।

(आ) वही संपुट १०, संचिके-६,पृ०२८५।

डॉ० एस०आर० श्री निवास मूर्ति, शीर्षक—`महादेवी यक्कन पुराण`

(इ) वही,संपुट १६, पृ०४७७

(ई) वही,संपुट १७,पृ०२७८,

ले०-प्रो०के०चिक्कवेणगार, एम०ए०

शीर्षक—`कवयित्री -अक्क महादेवी`

(उ) वही,संपुट २३, संचिके-१(१९६०ई.)

(ऊ)वही,संपुट २५, (१९६२ई.)

(ए) वही,संपुट-३३(१९७०-७१ई.)

४ शिवानुभव, संपुट -२१(१९४६ई.),पृ०२८६

५ <u>सावधान</u> — अखिल भारत शिवानुभव संस्थेय सावधान पत्रिका संपुट २०(१९६७ई.) पृ०८।

माना है, जिनमें प्रमुख विद्वानों का नाम निम्नलिखित है— डा० फ० गु हळकट्टि,[1] श्री बसवनाळ,[2] डा० आर०सी० हिरेमठ,[3] वि० शिवमूर्ति शास्त्री,[4] प्रो० वि०सि० उत्तंगि,[5] ई० स्म० वीरप्पय्या आदि हैं।[6]

अतएव निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्राचीन ग्रन्थों, शिलालेखों, प्राचीन अवशेषों, साहित्यिक पत्रिकाओं तथा आधुनिक विद्वानों के उल्लेखों आदि सम्बद्ध समस्त प्रयत्नों से स्पष्ट है कि अक्क महादेवी की जन्म-भूमि उडुतडि ही थी, अतः महागांव को उनकी जन्म-भूमि नहीं माना जा सकता, क्योंकि दो-एक विद्वानों को छोड़कर शेष प्रायः सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों ने एक मत से उडुतडि को ही उनका जन्म स्थान होना स्वीकार किया है।

माता-पिता

अक्क महादेवी के माता-पिता के नाम के बारे में विद्वान् एकमत नहीं हैं। इस विषय में स्थूलरूप से आलोचकों के छः वर्ग हैं। यहां हम विभिन्न मत के आलोचकों के मत का अनुशीलन करने की चेष्टा करेंगे।

---

१ (अ) ८८० अमर गणाधीश्वरर चरित्रे गळु, पृ०६६।
   (आ) बसवशास्त्र, भाग २, पृ० ५०
   (इ) शिवशरणेयर चरित्रे गळु, पृ० १०१
२ "वीरशैव तत्व प्रकाश" (१९५१), पृ० २५४
३ महादेवी यक्कन वचन गळु — प्रस्तावना, पृ०६।
४ "कर्नाटक देवर वचन", पृ० २।
५ "उडुतडिय महादेवी यक्कनवर साहित्य", प्रस्तावना, पृ० २।
६ "अक्क महादेवी", पृ० १

पहले वर्ग के आलोचक हैं -- महाकवि हरिहर[1] (१२ वीं शताब्दी ई०),जिन्होंने अपने ग्रन्थ `महादेवी रगळे` में अक्क महादेवी के माता-पिता का नाम क्रमशः शिव भक्ते शिव भक्त प्रयुक्त किया है । महाकवि हरिहर ने प्रायः ऐसे कवियों के माता-पिता के लिए भी शिव भक्ते--शिवभक्त नाम का प्रयोग किया है, जिनका वास्तविक नाम निर्विवाद रूप से उन्हें ज्ञात था । उदाहरणार्थ उन्होंने अपनी कृति `बसवराज देवर रगळे` में संत बसवेश्वर के माता-पिता का नाम क्रमशः `मादलाम्बे तथा मादरस ज्ञात होने पर भी उनके लिए शिव भक्ते शिव भक्त का प्रयोग किया है[2] । इस मत के समर्थक एम०आर० श्री निवासमूर्ति हैं[3] । शिवभक्ति में प्रगाढ़ आस्था के कारण ही महाकवि हरिहर ने अक्क महादेवी के माता-पिता को शिवभक्ते -शिव भक्त नाम से सम्बोधित किया है, अतएव यह उनका वास्तविक नाम नहीं थाँ ।

दूसरे वर्ग के आलोचक हैं -- राज-कवि[4] (१६ वीं शताब्दी ई०) जिन्होंने `महादेवी यक्कन सांगत्य` में महादेवी के माता-पिता का नाम क्रमशः लिंगम्मा एवं ओंकार शेट्टी माना है । डा० एच०तिप्पेरुद्र स्वामी[5] ने `कदळी कर्पूर` में राज कवि के मत का ही समर्थन किया है । राजकवि का मत कुछ सामंजस्य पूर्ण होने पर भी आधुनिक है । इस मत को प्रामाणिक नहीं माना जाता है ।

---

१ महादेवी रगळे - स्थल १,चरण २४६।

२ द्रष्टव्य--डा० आर०सी० हिरेमठ--`महादेवी यक्कन वचन गळु`, प्रस्तावना,पृ०६-७

३ `वचन भंडार`,पृ०११४

४ `महादेवी यक्कन सांगत्य`,द्रष्टव्य--डा०आर०सी० हिरेमठ --`महादेवी यक्कन वचन गळु`,प्रस्तावना,पृ०६-७

५ `कदळी कर्पूर`,पृ०८

शिवपूजन में लिंग को अत्यधिक गौरव प्रदान किया गया है,अतएव राजकवि ने उपर्युक्त नामकरण किया है, जो वस्तुत: वास्तविक नाम परिलक्षित नहीं होता ।

तीसरे वर्ग के आलोचकों में पिडुपर्ति बसव[1] एवं बाल पापांब[2] हैं । पिडु पर्ति बसव कवि ने तेलुगु प्रभु लिंग लीले और बाल पापांब ने अक्क महादेवी वीरोल्लास में उनके माता का नाम कुटिलाल एवं पिता का नाम विमल बताया है । अन्य किसी भी विद्वान ने इसका समर्थन नहीं किया है ।वीरशैवों में स्त्रियों का नाम कुटिलाल जनश्रुति में कहीं भी सुनने में नहीं आता ।इसलिए इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है ।

चौथे मत के आलोचक डा० फ०गु०हलकट्टि[3] तथा डा० सरोजनी महिषी[4] हैं । इस मत के आलोचकों ने माता का नाम सुमति स्वीकार करते हुए पिता का नाम निर्मल के स्थान पर विमल माना है । विमल नाम के सम्बन्ध में ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है । अतएव इस मत को पूर्णत: स्वीकृति नहीं मिल सकती है । सम्भवत: विमल और निर्मल में अर्थ-साम्य होने के कारण उपर्युक्त विद्वानों ने निर्मल के स्थान पर विमल नाम प्रयुक्त किया है ।

पाँचवें मत के आलोचक हैं शांतलिंग देशिक[5] जिन्होंने शिवदेव--निर्मल शेट्टी को अक्क महादेवी का माता-पिता बताया है । यह मत एकांगी है । इस मत का अन्यत्र कहीं भी समर्थन नहीं हुआ है । अत: इस मत को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

---

१ तेलुगु प्रभु लिंग लीले,द्रष्टव्य- डा०आर०सि०हिरेमठ महादेवी यक्कन वचन गलु प्रस्तावना,पृ०६ ।

२ अक्क महादेवी वीरोल्लास,द्रष्टव्य- वही , प्रस्तावना,पृ०६

३ महादेवी यक्कन वचन गलु, प्रस्तावना,पृ०१

४ कर्नाटक कवयित्रियरु, पृ०७०

५

छठां मत महादेवी के माता-पिता के नाम के सम्बन्ध में अत्यधिक प्रचलित है, जिसे प्रामाणिक मानने में कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए। इस मत के अनुसार अक्क महादेवी के माता-पिता का नाम सुमति तथा निर्मल था। इस मत के प्रमुख प्रतिपादक महाकवि चामरस हैं[1]। चामरस के मत का समर्थन करते हुए अनेक आलोचकों ने उनके माता-पिता का नाम सुमति तथा निर्मल ही बताया है[2]। ऐसे कवि एवं विद्वानों में कवि चेन्न बसवांक[3], प्रो० बसवनाल[4], डा० एस०सी०नंदिमठ, डा०आर०सी० हिरेमठ[5], बी०पी०राजरत्नं[6], ल०बु० शामराय[7], बो०सी० कवडि[8], पुट्टराज[9], बी०एन० लिंगण्णय्या[10] आदि प्रमुख हैं। एतदर्थ प्राचीन महान् कवियों एवं आधुनिक प्रख्यात विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत ठोस-प्रमाणों एवं अनुश्रुतियों के आधार पर अक्क महादेवी के माता-पिता का नाम सुमति तथा निर्मल ही प्रामाणिक सिद्ध होता है। अन्य पांचों मतों के अनुसार प्रदत्त नाम अक्क महादेवी के गुणों के आधार पर निर्धारित कर लिए गए होंगे-- ऐसा कहा जा सकता है।

बाल्यावस्था

अक्क महादेवी की शैशवावस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनकी बाल-सुलभ प्रतिभा अनुकूल वातावरण पाकर मुखरित हो उठी। वस्तुतः साहित्यकार

---

१ "प्रभु लिंग लीले", गति ८, पद्य २।
२ "महादेवी यक्कन पुराण स्थल" १५, पद्य २० ।
३ "चामरस कृत प्रभु लिंग लीले", पृ०६ ।
४ "अक्कन ऐतिहासिक जीवन दर्शन", प्रस्तावना, पृ० २।
५ "महादेवी यक्कन वचन गळु", प्रस्तावना, पृ०७ ।
६ "अल्लम प्रभु", पृ०२२ ।
७ "वीरशैव कन्नड साहित्य चरित्रे", पृ० १५२ ।
८ "प्रभु लिंग लीले", पृ० २५६ ।
९ "उडुतडि अक्क महादेवी पुराण संपुट २, पृ०६ ।
१० "वैराग्य निधि" अक्क महादेवी, पृ० ४

की साहित्यिक-प्रतिभा का दिग्दर्शन बाल्यावस्था से होने लगता है । इस कथन की पुष्टि अक्क महादेवी की शैशव कालीन परिस्थितियों के अध्ययन से ही सम्भाव्य है । शैशवावस्था में वह अपनी बाल-लीला से माता को सन्तुष्ट करती थीं[1] । बचपन के आचरण एवं व्यवहार में दिखाई देने वाली देव-भक्ति तथा इहलोक की वस्तुओं के प्रति उपेक्षा उनके भावी वैराग्य को परिलक्षित करती थी[2] । माता एवं पिता दोनों शिवोपासक थे । फलस्वरूप संस्कार एवं सहवास से महादेवी में भक्ति-भाव बाल्यावस्था से ही भरा हुआ था । वंशानुक्रमण एवं वातावरण के मणि-कांचन सहयोग से उनका स्वभाव सद्गुण एवं सदाचार के मार्ग में विकसित होने लगा । बाल्यावस्था से ही चेन्न मल्लिकार्जुन की महत्ता को जानने की उत्कट अभिलाषा उनमें समाहित हुई[3] । अल्प वय में ही श्री गिरि(श्री शैल) मल्लिकार्जुन ही मेरा पति है,ऐसा कहकर उनकी उपासना करती थीं[4] । उन्होंने बचपन से ही इष्टदेव चेन्नमल्लिकार्जुन को अपना पति मान लिया था ।

शिक्षा

मक्तिरस से ओत-प्रोत मधुर काव्य का सृजन करने वाली अक्क महादेवी ने कन्नड भाषा में प्रभावोत्पादक `वचन` लिखे हैं,किन्तु उनकी प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में अभी तक लोगों को ज्ञात नहीं है । उनके वचनों में भावों को अभिव्यक्ति करने वाली गम्भीर एवं प्रवाहपूर्ण भाषा स्वाभाविकता

---

१ एस०आर० श्री निवास मूर्ति :`शरण साहित्य`,संपुट १०,संचिका-६ `चेन्न बसवांकन महादेवी यक्कन पुराण`शीर्षक ।

२`शिवानुभव`संपुट २१,१९४६, पृ०२४६

३ श्री शिवमूर्ति पुराणिक--`बसवेश्वर समकालीनरु`शीर्षक--`अक्क महादेवी`पृ०२०३

४ प्रो० एच श्री गुरुलिंग `शरण साहित्य`संपुट १(१९३८) शीर्षक--`महादेवी यक्कन - दांपत्य`,पृ०३५१

से ओत-प्रोत है । अतएव यह मानना पड़ेगा कि उन्होंने भाषा एवं साहित्य का गहन अध्ययन किया था । उनके युग में 'अंकलगी मठ' संस्कृत अध्ययन के लिए प्रख्यात था । मठ में संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त अन्य विविध विषयों के अध्ययन की समुचित व्यवस्था भी थी । अंकलगी मठ मैलंगी ग्राम के अन्तर्गत था, जो बल्लिगावि से एक मील दूर है । महादेवी का जन्म स्थान उडुतडि बल्लि-गावि से दो मील दूर है । अतएव यह कहना उचित होगा कि अंकलगी मठ के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिवेश का उन पर प्रभाव पड़ा होगा । उनके वचनों का अनुशीलन करने पर संस्कृत के कुछ महत्वपूर्ण श्लोक उपलब्ध होते हैं । एतदर्थ यह तथ्य निरूपित होता है कि उन्होंने संस्कृत तथा कन्नड साहित्य की उच्च शिक्षा इसी मठ के सहयोग से प्राप्त की थी[1] ।

गुरु

विभिन्न आलोचकों के द्वारा अक्क महादेवी के निम्नलिखित चार गुरुओं का उल्लेख मिलता है --

(१) मरुळु सिद्धेश्वर,

(२) पण्डिताराध्य,

(३) गुरु लिंगदेव,

(४) चेन्न मल्लिकार्जुन ।

कौतुक में प्राप्त 'अक्क महादेवी'[2] के चरित्र में 'मरुळु सिद्धेश्वर' के दीक्षा गुरु होने का वर्णन है । ए० शिवानंद मूर्ति[3] ने अक्क महादेवी को पण्डिताराध्य द्वारा दीक्षा लेने का अभिमत व्यक्त किया है । कन्नड साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् 'श्री सिद्दय्या पुराणिक'[4] ने 'शरण चरितामृत' में गुरु लिंगदेव

---

१ 'अनुभव दीपिके,' संचिके १३८,पृ०७

२ वही, पृ०८

३ 'शून्य संपादने',पृ०८८

को अक्क महादेवी का दीक्षा गुरु बताया है । डा० `सरोजिनी महिषि`[1] ने भी गुरु लिंग देव को अक्क महादेवी का दीक्षा गुरु माना है । `शिवदास गीतांजलि` में `चेन्न मल्लिकार्जुन के अक्क महादेवी के गुरु होने का विवरण मिलता है । यह तथ्य इस पद से स्पष्ट होता है--` निरन्तर सुखि गुरु चेन्न मल्लिकार्जुन` (सदा सुखी गुरु चेन्न मल्लिकार्जुन)[2] । `सद्धर्म दीपिके कन्नड साहित्यिक पत्रिका में भी यही उल्लेख है[3] ।

अक्क महादेवी के वचनों से भी चेन्न मल्लिकार्जुन के गुरु होने के संकेत मिलते हैं --

(१) श्री गुरु चेन्न मल्लन[4] ......

(२) गुरु चेन्न महेश[5] ......

(३) गुरु चेन्न मल्लिकार्जुन[6] .....

इत्यादि अनेक उल्लेख उनके वचनों में मिलते हैं ।

अक्क महादेवी के गुरु के विषय में विभिन्न चार मतों का विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भिक तीनों मतों की अपेक्षा चौथा मत ही अधिक प्रामाणिक तथा युक्तिसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि

---

१ `कर्नाटक कवयित्रियर` ,पृ०७०

२ एल०बसवराजु--`शिवदास गीतांजलि`, पृ०७८ ।

३ `सद्धर्म दीपिके संचिके`, १३६,पृ०४ ।

४ डा०आर०सी० हिरेमठ --`महादेवी यक्कन` वचनगळु- शीर्षक -अक्क मड्डीगागं त्रिविध पद ६७,पृ०१६०

५ वही --`अक्कनडु बीमानं त्रिविध पद ६४,पृ०१६०

६ वही, पद ५,पृ० १७८ ।

प्रथम मत के अनुसार 'मरुड़ सिद्धेश्वर' तथा दूसरे मत के अनुसार पण्डिताराध्य अक्क महादेवी के गुरु माने गए हैं, किन्तु वचनों में कहीं भी उनके गुरु होने का उल्लेख नहीं मिलता है। तीसरे मत के अनुसार गुरु लिंगदेव का उल्लेख अवश्य ही एक-दो वचनों में हुआ है, किन्तु इससे स्पष्ट संकेत नहीं मिल पाता। जहां तक मैं समझता हूं अक्क महादेवी ने 'गुरु लिंगदेव' शब्द का प्रयोग गुरु के आदरपूर्वक सम्बोधन के लिए प्रयुक्त किया है न कि वह स्वतंत्र रूप से किसी व्यक्ति-विशेष का नाम है। अतः गुरु लिंगदेव कहकर उन्होंने गुरु के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की है न कि अपने गुरु का नाम स्मरण किया है।

प्रसिद्ध विद्वान् एवं आलोचक चौथे मत की पुष्टि प्रो० मुसनुर मठ[1] के मतानुसार हो जाती है। उन्होंने चेन्न मल्लेश या चेन्नमल्लिकार्जुन को उनका आध्यात्मिक गुरु माना है। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इसी मत की पुष्टि होती है, क्योंकि अपने वचनों में यत्र-तत्र अनेक स्थानों पर अक्क महादेवी ने चेन्न मल्लिकार्जुन नामक गुरु का बड़े भक्ति-भाव से स्मरण किया है।

चौथा मत अधिक सबल है तथा उस पक्ष को प्रतिपादित करने के लिए अनेक अन्तःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य सम्बन्धी प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किए गए हैं। अतः उनके गुरु चेन्न मल्लिकार्जुन ही सिद्ध होते हैं। अपने साहित्य में श्रद्धापूर्वक यथास्थान उनका स्मरण भी अक्क महादेवी ने किया है।

<u>प्रेरणा-स्रोत</u>

बाल्यकाल में अक्क महादेवी को अत्यन्त सुसंस्कृत वातावरण मिला। इसी कारण सहज रूप में उनके जीवन में अनेक सद्गुणों का समावेश हो

---

१ 'वन कैन इन्फर दैट दस चेन्न मल्लैश आर चेन्न मल्लिकार्जुन वाज हर स्पिरिचुअल टीचर'।

—'शून्य संपादने' संपुट ४, पृ० २४१ (१९७० ई०)

गया और उनका भावी जीवन सद्प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत हो गया । उनके माता-पिता सदाचार सम्पन्न एवं सुसंस्कृत थे । उनके कुल गुरु परम ज्ञानी थे । उनमें पूर्व जन्म की भक्ति भावना निहित थी । उडुतडि में अवस्थित सुप्रसिद्ध "चैन्न-मल्लिकार्जुन" मंदिर में लोग भक्तिपूर्वक दर्शन कर जीवनोपयोगी विचारों का श्रवण करते थे । भक्त सदैव सन्तों के सत्संग में रहते थे । महादेवी जी का जन्म स्थान "उडुतडि" है[1] जो "बल्लिगावि" के समीप है । बल्लिगावि बनवासी प्रदेश की राजधानी थी । बल्लिगावि प्रथम कल्याण के नाम से भी प्रख्यात था । इस क्षेत्र में अनेक शिवशरणों (संतों) का साधना-स्थल था ।

इस बल्लिगावि से दो मील दूर तालगुंद में सुप्रसिद्ध वीरशैव सन्त एकांत रामय्या का मन्दिर है[2] । रामय्या जी ने जैनियों के साथ शास्त्रार्थ करके सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया था । रामय्या ने बल्लिगावि प्रदेश में निवास कर धर्म का पर्याप्त प्रचार किया था । उनकी महत्ता उस समय घर-घर वर्णित थी । उस समय कल्याण में बसवेश्वर प्रसिद्ध थे । अनेक सन्त वहां से बल्लिगावि प्रान्त को जाते थे । उडुतडि प्रदेश से लेकर कल्याण तक वीरशैव धर्म तथा भक्ति प्रभाव अखण्ड रूप से व्याप्त था ।

मानव जीवन को प्रभावित करने के दो साधन माने गए हैं-- वंशानुक्रमण और वातावरण । अक्क महादेवी के जीवन में सौभाग्यवश उक्त दोनों ही साधनों का मणिकांचन समन्वय हमें दृष्टिगोचर होता है । उनके माता-पिता की भक्ति-निष्ठा का उनपर पूरा प्रभाव पड़ा ही, इसके साथ ही तत्कालीन भक्ति-भाव-धारा से भी उन्होंने पूरा लाभ उठाया । यही कारण है कि वे संस्कार और वातावरण दोनों के प्रभाव से अन्तर्मुखी हो उठीं और

---

१ कर्नाटक दीपिके (कन्नड साहित्यिक पत्रिका), संचिके १३७, (१०-६-१९५७), पृ० २

२ वही, पृ० २

अल्पावस्था में ही ज्ञान पूर्ण वचन साहित्य का निर्माण करने में सफलीभूत भी हुईं । वस्तुत: उनके व्यक्तित्व का निर्माण ही मानव-जीवन के ऐसे मूलभूत तत्वों से हुआ था, जो बिना भगवत्प्रेरणा के सम्भव नहीं हो सकता ।

विवाह

कवयित्री अक्क महादेवी के जीवन के विविध पक्षों पर विद्वान् एक मत नहीं हैं । उनकी जन्म-तिथि, जन्म-स्थान, माता-पिता, तथा गुरु की भांति विवाह सम्बन्धी प्रसंग भी विवादग्रस्त है । उनके विवाह के सम्बन्ध में मुख्यतया दो प्रकार की विचारधाराएं मिलती हैं । प्रथम मत के अनुसार अक्क महादेवी का विवाह उडुतडि के राजा कौशिक के साथ हुआ था । इस मत के प्रवर्तक महाकवि हरिहर हैं[1] (१२ वीं शताब्दी ई०) हैं । द्वितीय विचारधारा के अनुसार अक्क महादेवी का कौशिक के राजमहल में रहना अवश्य स्वीकार किया जाता है, किन्तु उनके विवाह का कोई प्रमाण नहीं मिलता । इस मत के प्रमुख समर्थक महाकवि चामरस[2] (१५ वीं शताब्दी ई०) हैं ।

यहां हम कवयित्री के जीवन के अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष विवाह के सम्बन्ध में प्रचलित दो परस्पर विरोधी स्थापनाओं की पुष्टि के लिए दिए जाने वाले साक्ष्यों एवं तर्कों की क्रमिक समीक्षा करने की चेष्टा करेंगे ।

महाकवि हरिहर के अनुसार[3] आखेट से लौटा हुआ कौशिक रास्ते में अक्क महादेवी को देखकर मोहित हो गया । उसने उनके माता-पिता के पास विवाह का प्रस्ताव भेजा, किन्तु अक्क महादेवी ने स्वयं ही उसके प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया । इसपर कुपित होकर कौशिक ने `सुमति` तथा `निर्मल` को

---

१ `महादेवी रगळे` स्थल ४, चरण ८८-११०

२ `प्रभु लिंग लीले` गति १० पद्ये २४-२६

~~३ . . . मैं अभी इच्छानुसार शिवलिंग पूजन करती रहूंगी ।~~

३. महादेवी रगळे, स्थल ४, ८८-११०

प्राणदण्ड देने की धमकी दी । अब अक्क महादेवी के सामने माता-पिता के जीवन का प्रश्न था । उनकी[1] जीवन - रक्षा को अपना कर्तव्य समझकर अक्क महादेवी निम्नलिखित तीन प्रस्तावों को कौशिक द्वारा स्वीकार कर लेने के उपरान्त विवाह करने के लिए वचनबद्ध हुईं —

(१) मैं अपनी इच्छानुसार शिवलिंग पूजन करती रहूंगी ।

(२) मैं अपनी इच्छानुसार संतों की गोष्ठी में भाग लेती रहूंगी ।

(३) मैं अपनी इच्छानुसार `गुरु` की सेवा में लगी रहूंगी ।

कौशिक ने उनकी शर्तें स्वीकार कर लीं । अतएव महादेवी का विवाह हो गया और वे महल की विषम परिस्थितियों में रहने लगीं[2] । राजा ने शीघ्र ही उनकी शर्तों का उल्लंघन करके उनके भक्ति-कार्यों में अवरोध उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया । कौशिक द्वारा पूर्व स्वीकृत तीनों ही वचनों का उल्लंघन करने पर अक्क महादेवी राजमहल का परित्याग करके पर्वत (श्री शैल) की ओर चली गईं[3] ।

हरिहर के परवर्ती अनेक कवियों एवं समीक्षकों ने उनके मत का समर्थन किया है । ऐसे प्राचीन विद्वानों में महाकवि चेन्न बसवाक (१५००ई०) तथा कंच वीरण्णो डेयर (१५५०ई०) प्रमुख हैं ।

इस मत के आधुनिक समर्थकों में प्रो०के०जि० कुंदणगार, श्री मा०म० मलेप्पा, श्री एल०आर० निवासमूर्ति, श्री बसवराज कट्टिमनि

---

१ द्रष्टव्य — डा०आर०सी० हिरेमठ : `महादेवी यक्कन वचन गळु`, प्रस्तावना, पृष्ठ

२ ,, — ,, : ,, ,, ,, ,,

३ ,, — ,, : ,, ,, ,, ,,

तथा पण्डित एच०बी०मृत्युंजय्या आदि उल्लेखनीय हैं।

इसके विपरीत आलोचकों का एक वर्ग यह मानता है कि अक्क महादेवी का विवाह कौशिक के साथ सम्पन्न नहीं हो सका था। इस मत के प्रवर्तक महाकवि चामरस[1] हैं। उनका विचार है[2] कि अक्क महादेवी पर मोहित होकर कौशिक ने उनके माता-पिता के पास विवाह का प्रस्ताव भेजा था। उनके माता-पिता ने एक विधर्मी को अपनी कन्या देना स्वीकार नहीं किया। माता-पिता को मृत्यु-दण्ड की धमकी दिए जाने पर महादेवी ने राजा द्वारा अपनी शर्तों को स्वीकार करा लेने पर विवाह करना स्वीकार कर लिया। महादेवी परिचारिकाओं के साथ राजमहल में प्रविष्ट हुईं। इस स्थल पर विवाह का कोई उल्लेख नहीं है। महादेवी को एकान्त में पाकर कौशिक कामातुर हुआ तथा अपनी पिपासा शान्त करनी चाही। अक्क महादेवी कौशिक द्वारा दिए हुए तीनों वचनों का स्मरण दिलाती हैं। कौशिक द्वारा तीनों वचनों का उल्लंघन कर दिये जाने पर उसके वस्त्र आदि त्याग कर वे दिगम्बर बनकर चली जाती हैं।

प्राचीन आलोचकों में विरुपाक्ष पण्डित, सिंगिराज हरिश्वर, पालकुरिके सोमनाथ आदि अक्क महादेवी के विवाह को न मानने वालों में उल्लेखनीय हैं।

---

१ प्रभु लिंग लीले, गति १० पद्य २४-२६

२ विवरण के लिए द्रष्टव्य — डा०आर०सी० हिरेमठ : 'महादेवी यक्कन वचनगळु' प्रस्तावना, पृ०२६।

आधुनिक आलोचकों में डा० आर०सी० हिरेमठ ने प्रस्तुत समस्या पर अत्यन्त सूक्ष्म एवं समालोचनात्मक ढंग से अपने विचार व्यक्त किए हैं। डा० आर०सी० हिरेमठ के अनुसार अक्क महादेवी का कौशिक के राजमहल में कुछ दिन रहना तथा कौशिक द्वारा अपने दिए हुए वचनों के अनुसार न चलने पर उनका दिगम्बर होकर कल्याण की ओर प्रस्थान करना निर्विवाद तथ्य है। इसी भावना से प्रेरित होकर जनता में उनके विवाह होने की चर्चा फैली होगी[1]। जनता के इस कल्पनाश्रित विचार को आधार मानकर कुछ साहित्यकारों ने महादेवी के विवाह होने की पुष्टि करने की चेष्टा की है। यह बात तो सर्वथा स्पष्ट है कि अक्क महादेवी कौशिक के साथ विवाह करना नहीं चाहती थीं। उन्हें तो माता-पिता के जीवन की रक्षा के लिए बाध्य होकर विवाह की बात स्वीकार करनी पड़ी। वैराग्य की भावना प्रबल होने के कारण उन्होंने कौशिक के समक्ष तीन शर्तें रखीं। ये शर्तें महादेवी के भक्ति-भाव प्रवण हृदय की अभिव्यंजक हैं। कामान्ध कौशिक द्वारा दिए गए वचनों का पालन न किए जाने पर चैन्न मल्लिकार्जुन के प्रति भक्ति-भावना में व्यवधान आता हुआ देखकर उनका भक्त-हृदय क्रान्ति कर उठा। फलस्वरूप कौशिक के राज-वैभव का परित्याग कर चले जाने के अतिरिक्त उनके सम्मुख कोई विकल्प न रहा।

डा० हिरेमठ ने अपने कथन की पुष्टि में एक अन्य प्रमाण भी प्रस्तुत किया है। गुड़ूर सिद्ध वीरणोडेयर के 'शून्य संपादने' में आए हुए अक्क महादेवी और प्रभुदेव के मध्य हुए संवाद की उन्होंने समीक्षा की है। कुछ संवाद द्रष्टव्य हैं --

---

1 डा०आर०सी० हिरेमठ : 'महादेवी यक्कन वचनगळु', प्रस्तावना, पृ०३६।

प्रभुदेव — "आप एक नव तरुणी स्त्री होकर यहां क्यों आई हैं? यदि विवाहिता हों तो पति का नाम बताएं, वर्ना यहां बैठने की अनुमति नहीं है।"[1]

महादेवी — "चेन्न मल्लिकार्जुन ही मेरे पति हैं। अन्य कोई मेरा पति नहीं है।[2] मृत्यु को प्राप्त होने वाले पुरुषको चूल्हे में फेंक दो। वह मेरा पति नहीं हो सकता। चेन्न मल्लिकार्जुन के साथ लोगों ने मेरा विवाह कर दिया है।

संवाद में आई हुई बातें विचारणीय हैं। प्रभुदेव रचित "लिंग लीले" में अन्य भक्त स्त्रियों के विषय में ऐसे प्रश्न न होकर अक्क महादेवी के ही विषय में ही ऐसा क्यों पूछा गया है? उत्तर स्पष्ट है कि अक्क महादेवी एवं कौशिक के विवाह होने की बात तथा कौशिक के ऊपर दोषारोपण करके चली जाने की वार्ता जन-सामान्य में फैली एक भ्रान्ति मात्र रही होगी।[3] वास्तविकता को स्पष्ट करने के लिए ही प्रभुदेव ने इस प्रकार के प्रश्न उठाए होंगे। अक्क महादेवी के उत्तर से यह बात स्पष्ट होती है कि कौशिक के साथ उनका विवाह कदापि नहीं हुआ था।[4] वे चेन्न मल्लि को ही प्रारम्भ से अन्त तक अपना पति मानती रहीं। साहित्य के इतिहास में इस प्रकार के अनेक प्रमाण मिलते हैं, जहां विवाहिता होने पर भी भक्त कवयित्रियों ने अपने आराध्य देव को ही पति के रूपमें स्वीकृत किया है। अपने विवाहित पति का उन्होंने विविध प्रकार से निषेध किया है। हिन्दी की भक्त-कवयित्री मीरांबाई के भक्त-हृदय ने सांसारिक पति को मान्यता न देकर अपने आराध्यदेव को ही पति के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने बार-बार " मेरे तो गिरधर गोपाल.........

जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई"

---

१ डा०आर०सी० हिरेमठ : "महादेवी यक्कन वचन गळु", प्रस्तावना, पृ०३६।

२ वही

३ वही, प्रस्तावना, पृ०३०

४ वही

इत्यादि कथनों द्वारा एक ओर अपने लौकिक पति का निषेध किया है तो दूसरी ओर अपने आराध्य देव भगवान कृष्ण को पति के रूप में अपनाया भी है ।

अक्क महादेवी के विषय में कुछ भिन्न बातें भी प्राप्त होती हैं । प्रभुदेव द्वारा प्रश्न किए जाने पर उनका चेन्न मल्लिकार्जुन देव को पति मानना स्वाभाविक है, किन्तु जन सामान्य में प्रचलित धारणा के अनुसार लौकिक पति को झूले में आने के लिए कहना उनके लिए कदापि संभव नहीं प्रतीत होता । इस कथन का एक मात्र उद्देश्य उस लौकिक तथ्य के आधार का खण्डन करना है । इसीलिए उन्होंने अनेक बार "मेरा विवाह चेन्न मल्लिकार्जुन देव केवल चेन्न मल्लिकार्जुन देव के साथ लोगों ने करा दिया है", कहा है[1] ।

उपर्युक्त विवेचनात्मक समीक्षा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महादेवी कौशिक के यहाँ रही अवश्य थीं, किन्तु विवाह होने के पूर्व ही कौशिक द्वारा पूर्व प्रदत्त वचनों का उल्लंघन कर दिए जाने पर उन्हें बाध्य होकर जीवन के सहज भक्तिमार्ग की ओर उन्मुख होकर राजमहल छोड़कर चला जाना पड़ा ।

<u>वैराग्य और भ्रमण</u>

अक्क महादेवी कौशिक राजा को त्यागकर "उडुतडि से कहाँ गईं—इस सन्दर्भ में दो मत प्रस्तुत किए गए हैं । महाकवि हरिहर ने उडुतडि से श्री शैल की ओर जाने का उल्लेख किया है । अपने इस विवरण में उन्होंने महादेवी के श्री शैल जाने के पूर्व कल्याण जाने का कोई उल्लेख नहीं किया है[2] ।

दूसरे मत के अनुसार महादेवी जी का उडुतडि से कल्याण जाने का उल्लेख मिलता है । इस सम्बन्ध में निम्नलिखित ग्रन्थों को साक्षीरूप में

---

1 डा० आर० सी० हिरेमठ — "महादेवी यक्कन वचनगळु", प्रस्तावना, पृ० ३७

2 वही, शीर्षक— "उडुतडि चिन्नं मुदे" ।

प्रस्तुत किया जा सकता है--`बेन्न कलवांकन महादेवी यक्कन पुराण`[1], `प्रभु लिंग लीले`[2] तथा `अक्क महादेवी बोधोल्लास`[3] आदि ।

अतएव यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि महाकवि हरिहर को यह ऐतिहासिक तथ्य ज्ञात नहीं था अथवा विवरण प्रस्तुत करते समय यह तथ्य विस्मरण हो गया था । कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि अक्क महादेवी उडुतडी से आध्यात्मिक स्थल कल्याण गई थीं, अत: यही मानना न्यायसंगत भी होगा ।

कल्याण-यात्रा के समय बाधाएं

उडुतडि से कल्याण काफी दूर तथा दुर्गम स्थान था । अक्क महादेवी अत्यधिक रूपवती युवती थीं । दिगम्बर रूप धारण करके एकाकी कल्याण प्रवास करना उसयुग में कष्टप्रद था । आन्ध्र की सुप्रसिद्ध कवयित्री `बाल पापांब` ने `अक्क महादेवी बोधोल्लास` में उल्लेख किया है कि अल्लम प्रभु के दर्शन के लिए कल्याण जाते समय महादेवी ने भयानक काननों, पर्वत-शृंखलाओं तथा नदियों को पार करने में साहस के साथ कष्ट सहा था ।[4] `चिक्कपार्थी बसव` कवि ने भी अपने `मंजु प्रभुलिंगलीले` में अक्क महादेवी के सुदीर्घ कष्टप्रद यात्रा का वर्णन किया है[5] । मार्ग में लोगों ने पग-पग पर उनके समक्ष अनेक बाधाएं उपस्थित

सं.-

1 बि०एन० चन्द्रय्या : `बेन्न कलवांकन महादेवी यक्कन पुराण`, पृ० १३

2 चिक्कपार्थि बसव कवि : `प्रभुलिंग लीले` द्रष्टव्य- श्री टि० एन० एस० सदाशिवय्या अक्कन संचिके (उडुतडि महादेवी यक्कन), प्रस्तावना, पृ० १४

3 आंध्र कवयित्री बाल पापांब : अक्क महादेवी बोधोल्लास--द्रष्टव्य वही, प्रस्तावना, पृ० १३ ।

4 द्रष्टव्य-- टि० एन० एस० सदाशिवय्या एम०ए०, कि० एल० अक्कन संचिके (उडुतडिय महादेवी यक्कन) (वचन नाटक) [illegible], पृ० [illegible] । प्रस्तावना, पृ० १४ ।

5 वही

की। जिसका विवरण उनके वचनों से प्राप्त होता है । अपने एक वचन में भी वे कहती हैं:-

> "मुडि बिट्ट मोग बाडि तनु करगि ववडु एन्न-
> नेके मुडि बुविरि ?
> एले अण्ण गडिगरा, एन्न नेके मुडि बुविरि ?
> एले तंदे गडिगरा, कुलं छडिडु मदगेट्टु अलवडिडु
> मवले यागि चेन्न मल्लिकार्जुनन कूडि कुल बडि ववडु"[1]

अर्थात् बिखरे बाल, सूखा हुआ मुख,सूख हुए शरीर का उन्होंने वर्णन किया है । भाईयो ! मेरे साथ क्यों बात करते हो ? रे पिताओं ! क्यों कष्ट देते हो । कुल आदि को त्याग करके मदत बनकर चेन्न मल्लिकार्जुन के साथ रहकर मैंने कुल को त्याग किया है ।

उपर्युक्त विवरणों से यह निश्चित है कि महादेवी ने कल्याण की यात्रा की थी । उडुतडि से कल्याण लगभग ४०० मील दूरी पर स्थित है ।यह यात्रा निश्चितरूप से उस अवैज्ञानिक युग में अत्यन्त कष्टदायक रही होगी । मार्ग में पग-पग पर उनके समक्ष अनेक बाधाएं तथा शरीर कष्ट भी उपस्थित हुए रहे होंगे ।

किन्नरि ब्रह्मय्या का प्रसंग

पूर्व के विवरण से यह स्पष्ट है कि राजा कौशिक के निवासस्थान को त्याग कर अक्क महादेवी ने कल्याण के लिए प्रस्थान किया था । कल्याण के निकट ही किन्नरि ब्रह्मय्या का एक प्रसंग उद्धृत होता है । अक्क महादेवी के जीवन में इस्भावित महत्वपूर्ण घटना होने से इसका विवेचन करना

---

1 डा०आर०सि० हिरेमठ :"महादेवी यक्कन वचन गड़ु",पृ०३३,वचन ८८।

2

इस प्रकार उस स्वाभाविक घटना से अक्क महादेवी के वैराग्य का धारण करने और शिव भगवान के प्रति अपार निष्ठावान होने का तथ्य निरूपित होता है ।

कल्याण-प्रवेश एवं दर्शन

अक्क महादेवी ने ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक कल्याण नगर में प्रवेश करते समय सर्वप्रथम नगर का वैभव तथा संतों का आकर्षक निवास स्थान देखकर उसकी भक्ति-भाव से वन्दना की है । इसकी पुष्टि अनेक निम्न ग्रन्थों से भी होती है[1] । वह आध्यात्मिक -सौन्दर्य से परिपूर्ण अनुपम नगर कल्याण का दर्शन करके अत्यधिक हर्षित हुई । उनके काव्य में कल्याण की महिमा का अधिकाधिक मधुरता के साथ वर्णन हुआ है--

"अय्या निम्म शरणर बैट्टिद बरे पावनवय्या ।
अय्या, निम्म शरणरु इद्द पुरवे कैलास वय्या ।
अय्या निम्म शरणरु निद्दुदे निज निवास वय्या ।
चेन्न मल्लिकार्जुनय्या,
निम्म शरण बसवण्ण निद्द दौंद्र,
अदि मुक्त दौंद्र वागी
आनु बसवण्णन श्रीपादक्के
नमो नमो एनुतिर्देनु[2] ।

अर्थात् हे चेन्नमल्लिकार्जुन देव ! आपके भक्तों ने जिस स्थान से भ्रमण किया है, उस भूमि की पवित्रता सराहनीय है । जहां भक्तगण निवास करें वही कैलास है ।

१(अ) प्रो० क०शि०सुन्दर मठ: गुरुर सिद्ध वीरण्णोडेयर संकलित प्रभु देवर शून्य संपादने, पृ०३२४ ।
(आ) वही: शून्य संपादने परामर्श, पृ०७४३
(इ) डा०आर०सि०हिरेमठ : शिवगण प्रसादि महादेवय्यनवर शून्य संपादने, पृ० २५० ।
(ई) डा० बसवराजु: शिवगण प्रसादि महादेवय्यन प्रभुदेवर शून्यं संपादने, संपुट १पृ० १९५।

२ प्रो० क०शि०सुन्दर मठ : गुरुर सिद्धवीरण्णोडेयर संकलित प्रभुदेवर शून्य संपादने, संपुट १, पृ०३२४ ।

भक्त द्वारा प्रयुक्त भूमि ही शिव मन्दिर है। आपके भक्त संत बसवेश्वर का स्थान मोक्षधाम है। ऐसे उन बसवेश्वर के श्रीचरणों की मैं वंदना करती हूं।

बसवेश्वर आदि शरणों(संतों) के कार्यक्षेत्र कल्याण में,[1] वे पावन कैलाश क्षेत्र को देखती हैं। मुक्ति के लिए निवास कर रहे इस पावन भूमि में सभी शिव शरणों का निवास देखा। घर-घर निकलते हुए प्रवाहित रुद्रधारी,पंचाक्षरी मंत्र, घंटा-निनाद तथा शंख-ध्वनि को सुनकर अत्यधिक हर्षित होकर सभी संतों को सुख एवं शान्ति प्रदान करने वाले अनुभव मण्डप को उन्होंने देखा।[2]

अक्क महादेवी के कल्याण-दर्शन करने का प्रसंग सत्य एवं प्रामाणिक है, इसकी प्रामाणिकता की पुष्टि अनेक ग्रन्थों से होती है[3]:--

----

१ डा० वी० स०शि०भूसनूर मठ : 'शून्य संपादने परामर्श', पृ० ७४३

२ एं० वि०एन०चंद्रय्या : 'चेन्न बसवांक महादेवी पुराण', पृ०१३

३ (क) सं० बी०एन० चंद्रय्या : 'चेन्न बसवांक महादेवी यक्कन पुराण', पृ०१३

(ख) आन्ध्र कवयित्री माल्लपापांब : 'अक्क महादेवी बोधोत्सव'

द्रष्टव्य -- श्री टी०एच०एम० सदा शिवय्या एम०ए० : 'अक्कन संग(उडुतडि महादेवी यक्कन नाटक), प्रस्तावना, पृ०१३-१४।

(ग) पिडुपर्ति बसव कवि : 'प्रभु लिंगलीले', द्रष्टव्य -- वही

(घ) डा० एल०बसवराजु : 'शिवगण प्रसादि महादेवय्यन प्रभुदेवर शून्य संपादने, पृ०६९ १५६।

(ङ०)प्रो० स०शि० भूसनूर मठ : 'गुरु सिद्धवीरण्णोडेयर संग्रहिसिद प्रभुदेवर शून्य संपादने, संपुट १, पृ०३२३।

(च) वही : शून्य संपादने परामर्श, 'पृ०७४२

(छ) फ०गु० हळकट्टि : 'महादेवी अक्कन वचन मडु'

(ज) वही : शिवशरणीयर चरित्रे मडु', पृ०१०१

(झ) वही : ७०० अमरगणाधीश्वर चरित्रेगळु', पृ०६६

(ट) वही : 'वचनशास्त्र', भाग२, पृ० ५०

अनुभव मण्डप में प्रभुदेव द्वारा अक्क महादेवी की परीक्षा एवं प्रतिष्ठा

अक्क महादेवी आध्यात्मिक ज्ञान-मन्दिर 'अनुभव मण्डप' में प्रवेश करती हैं। वहां उन्होंने प्रभुदेव, चेन्न बसवेश्वर, सिद्धरामय्या आदि अनेक संतों के साथ शिवानुभव गोष्ठी(आध्यात्मिक गोष्ठी) में तन्मय हो रहे महात्मा बसवेश्वर की दिव्य मूर्ति को देखा[1]। उस दिव्य मूर्ति(बसवेश्वर) को देखकर वह प्रसन्नता की मुद्रा में भाव-विभोर होकर कहती हैं--

अरिवि तोड़िगदडिल्ल हरिवि नड़ल्लिद डिल्ल
बयसि होक्क डिल्ल तपस्सु माड़िद रिल्ल,
अदु तानाद कालक्कल्लदे साध्यवागदु।
शिव नी ति दल्ल दे के गुहदु
चेन्न मल्लिकार्जुन नैन गौलिद नागि
नानु संगन बसवण्णन श्री पादव कंडु बदुकिदेनु।[2]

-- अक्क महादेवी

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी)

(ड) र० श्री मुगलि : 'कन्नड साहित्यद इतिहास'(१९६३ई०),पृ०८४।

(ढ) एं० चिदानन्द मूर्ति : 'शून्य संपादने यन्नु कुरितु,' पृ० ६३।

(ण) चेन्न बसव देवि चेन्न शिवाचार्य : 'अक्कन वचन बाडु',पृ०३०।

(त) कुमारी निर्मलम्मा(१९६८ई०),पृ०६५२।

(थ) डा० एस०शिवमल्लय्य स्वामी : 'शून्य तत्व विकास मत्तु शून्य संपादने',पृ०१९९

(द) कन्नड विश्वकोश, संपुट १,पृ०१५४

(ध) ए०वि० कृष्णाराव, एम०ए०,डी०लिट्०,एफ०आर०ए०एस० : 'कर्नाटक इतिहास-दर्शन',पृ०८०३।

(न) एच०आर० श्री निवास मूर्ति : (१९५६ई०)

(प) 'वचन धर्मसार',पृ०१०८।

(फ) प्रकाशक -- मल्लिकार्जुन : 'पुरातन कवियर शिवकी',पृ०४।

(ब) डा०आर०सी०हिरेमठ : 'महादेवी अक्कन वचन गळु',प्रस्तावना,पृ०४७।

---

१ प्रो०एस०शिवलिंगय्या मठ,एम०ए० : 'शून्य संपादने परामर्श',पृ०७४३

अर्थात् व चाहे जितने प्रयास कीजिए, चाहे जिस उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कीजिए, चाहे जितना काम कीजिए अथवा तप एवं साधना कीजिए, जो कुछ होना है वह अपने समय पर ही होगा। भगवत्-कृपा के बिना सिद्धि प्राप्त करना, संभव नहीं। हे चेन्न मल्लिकार्जुनय्या। आपकी ही कृपा से मैं संत शिरोमणि बसवण्णा के चरणों को देखती एवं जीवित रही।

इस प्रकार अक्क महादेवी अनुभव मण्डप में उपस्थित सभी संतों को प्रणाम करके[1] अल्लमप्रभु[2] का दर्शन करती हैं। फिर विनम्रता के साथ हाथ जोड़ कर खड़ी हो जाती हैं।[3] उसी समय महात्मा बसवेश्वर अक्क महादेवी के विषय में प्रभुदेव जी से निवेदन करते हैं।[4] तत्पश्चात् प्रभुदेव अक्क महादेवी से कई प्रश्न पूछते हैं।[5] अक्क महादेवी सभी प्रश्नों का समुचित उत्तर देती हैं।[6] अनुभव मण्डप में प्रभुदेव तथा अक्क महादेवी में हुए प्रश्नोत्तर-प्रसंग अनेक ग्रन्थों में विस्तार से उल्लिखित हैं।[7]

---

१ प्रो० स०शि०मुसनूर मठ : "शून्य संपादने परामर्श", पृ०७४४।

२ वही

३ वही

४ डा०आर०सी० हिरेमठ : "शिवगण प्रसादि महादेवय्यनवर शून्य संपादने", पृ०२५१

५ वही

६ वही

७(क) प्रो० स०शि० मुसनूर मठ एम०ए०: गूळूर सिद्धवीरण्णोडेयर संगृहित प्रभुदेवर शून्य सम्पादने, सम्पुट१, हि०सं०, पृ०२८१, २८३, ३२२, ३२६, ३४३।

(ख) वही : शून्य संपादने परामर्श, प्रथम संस्करण, १९६५ई०, पृ०७४६, ७५०, ७५८

(ग) डा०आर०सी० हिरेमठ : "शिवगण प्रसादि महादेवय्य नवर शून्य संपादने", प्रथम संस्करण, ई० १९७१ई०, पृ०२५२।

(घ) डा० एस० तिप्पे रुद्र स्वामी : "शून्य तत्व विकास मत्तु शून्य संपादने", पृ०२०१-२

(ड०) सिद्धय्यापुराणिक : "बसवेश्वर समकालीनरु शीर्षक- अक्क महादेवी", पृ० २१३, २१५।

अक्क महादेवी के अन्तरंग ज्ञान भण्डार को देखकर प्रभुदेव पूर्ण रूप से उनकी बातों को मान लेते हैं[1] । तथा उनकी वन्दना करते हैं[2] । प्रभुदेव के इस अभूतपूर्व मान्यतापूर्ण शब्दों को सुनकर भाट थह बसवर्ती चेन्न बसवेश्वर तथा अन्य सन्तों ने भी उनकी महिमा का गुणगान किया । अक्क महादेवी की प्रगाढ़ भक्ति-भावना, आध्यात्मिक अनुभव, अपार तत्वज्ञान, अनुपम वैराग्य तथा विलक्षण साहित्यिक गरिमा की व्यंजना से सन्तगण उन्हें गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित करते हैं । अक्क महादेवी कल्याण में शरणों के सत्संग तथा अनुभव गोष्ठी (आध्यात्मिक गोष्ठी) में कुछ महीने, कुछ वर्ष रही होंगी-इसमें सन्देह नहीं[3] । प्रो० के०जी०कुंदणगार ने भी अपने लेख में उल्लेख किया है कि अक्क महादेवी वहां कुछ काल तक रहीं[4] । अनुभव-मण्डप में अक्क महादेवी ने सन्तों के सत्संग से भटस्थल के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त किया[5] । वहां उपस्थित सभी सन्तों में ज्ञान[6], भक्ति और वैराग्य का स्वरूप निरूपित करने में वह उन्होंने अपना आदर्श रखा ।

<u>प्रभुदेव द्वारा अक्क महादेवी को उपदेश</u>

अक्क महादेवी ने एकान्तवास तथा मुक्ति की[7] इच्छा से ऐक्य(मुक्ति) स्थल की जानकारी के लिए प्रभुदेव से इच्छा व्यक्त की । प्रभुदेव जी ने

---

१ डा० तिप्पेरुद्र स्वामी : 'शून्य तत्वविकास मत्तु शून्य संपादने, पृ० २०७

२ प्रो० भूसनूर मठ : गूळूरसिद्ध वीरणोडेयर शून्य संपादने, पृ०७४०

३ प्रो० भूसनूर मठ : शून्य संपादने परामर्श, पृ०७६२

४ प्रो० कुंदणगार : द क्वार्टरली जर्नल संपुट २३ आफ द कन्नड लिटरेरी सोसायटी, बैंगलोर, पृ० ५४

५ डा० एल०बसवराजु- शिवगण प्रसादि महादेवी यवरन प्रभु देवर शून्य संपादने संपुट पृ० १०४

६ एम०आर० श्री निवास मूर्ति : वचनधर्मसार :, पृ० १०६ (१९५६)

७ प्रो० भूसनूर मठ : शून्य संपादने परामर्श, पृ०७६५

सारांश रूप में उपदेश देकर[1] एक अनुपम दिशा प्रस्तुत की । "[5]श्री शैल पर्वत पर जाइए। उस पर्वत शिखर के ऊपर खड़ी होकर देखिए । वहां से एक मैदान प्रदेश दिखाई देगा । उस मैदान-प्रदेश तक जाने के लिए इसप्रकार कीजिए । उसी पर्वत के निकट एक केले का वन है । उस वन को लांघ कर अन्दर प्रवेश करके देखने पर वहां जग-मगाता हुआ प्रकाश है,[2] वहां जाकर तब तुम्हें (आप को) परम पद स्थिति[3] प्राप्त होगी, निर्वाण प्राप्त होगा ।" अक्क महादेवी इसे सुनकर हर्षित हुई[3] । तत्पश्चात् अक्क महादेवी महात्मा बसवेश्वर, चेन्न बसवेश्वर, प्रभुदेव तथा सभी सन्तों से शुभ आशीर्वाद लेकर कल्याण को[4] छोड़कर संतों के वियोग को सहन करते हुए श्री शैल की तरफ प्रस्थान करती हैं ।

<u>चेन्न मल्लिकार्जुन का साक्षात्कार एवं श्री शैल के कदलि-वन में मोक्षप्राप्ति</u>

अक्क महादेवी श्री शैल पर्वत की तरफ जाते समय वन में खग एवं मृगों को देखकर इस प्रकार पूछती हैं—

वन वेल्ल नीने वन दोळगण देव तरुवेल्ल नीने ।

तरुविनोळगाडुव खग मृग वेल्ल नीने ।

चेन्न मल्लिकार्जुना,

सर्व भरितनागि एन गेके मुख दोरे ?[5]

अर्थात् वन में आपही का स्वरूप व्याप्त है । हे देव ! वन के वृक्ष आप ही के रूप हैं, वन में विहार करने वाले खग एवं मृग आदि में भी आपही का स्वरूप परिलक्षित होता है । फिर भी हे चेन्न मल्लिकार्जुन ! आप सर्वव्यापी होते हुए भी मुझे दिखाई क्यों नहीं पड़ते ?

---

1 प्रो०भूसनूर मठ : शून्य संपादने परामर्श, पृ०७५

2 वही, पृ०७६

3 डा० एस०बसवराजु: शिवगण प्रसादि महादेवय्य प्रभु देवर शून्यसंपादने पृ०७६।

4 प्रो० एस०शि० भूसनूर मठ : गुळूर सिद्धवीरण्णोडेयर संपादित प्रभुदेवर शून्य संपादने सम्पुट १, पृ०३७३-३७४ ।

5 प्रो० एस०शि०भूसनूर मठ, एम०ए० : "शून्य संपादने परामर्श, प्रथम सं० (१९६६) पृ०७७

पुनः अक्क महादेवी कहती हैं:-

चिलि मिलि एंदु ओदुव गिळिगळिरा नीवु काणिरे नीवु काणिरे ।

सर वेत्ति पाडुव कोगिलेगळिरा, नीवु काणिरे, नीवु काणिरे ।

एरगि बंदाडुव तुंबिगळिरा, नीवु काणिरे, नीवु काणिरे ।

कोळन तडि योळाडुव हंसेगळिरा, नीवु काणिरे, नीवु काणिरे ।

गिरि गह्वर दोळाडुव नविलुगळिरा, नीवु काणिरे, नीवु काणिरे,

चेन्नमल्लिकार्जुन नेल्लिद्दह नेंदु हेळिरे ।[1]

अर्थात् चिलि मिली कहकर गाने वाले तोताओं ! तुमने देखा, तुमने देखा, ऊंची ध्वनि उच्चारित कर गाने वाले कोकिल ! तुमने देखा, तुमने देखा, उड़ते हुए आकर खेलने वाले भ्रमर ! तुमने देखा, तुमने देखा, सरोवर के तट पर क्रीडा मग्न हंसों ! तुमने देखा, तुमने देखा, गिरि-कन्दराओं में नाचने वाले मोर ! तुमने देखा, तुमने देखा, चेन्नमल्लिकार्जुन कहां है ? कहिए-कहिए ।

इस प्रकार अक्क महादेवी[2] चेन्नमल्लिकार्जुन के साक्षात्कार की उत्कट इच्छा करके कदली वन को देखकर कहती हैं--

वन वेल्ला कल्प तरु, गिडवेल्लामृत काणि,

शिले यल्ल परुष, नेलनेल्ल अविमुक्तक्षेत्र

जलवेल्ला निर्जरामृत, मृगवेल्ला पुरुषामृग,

एडहुव कल्लेल्ला चिंतामणि ।

चेन्न मल्लिकार्जुन रमण नलिदाडुव[3] गिरिय सुत्ति नोडुत बंदु

कदळिय कंडे ।

---

1 डा०आर०सी० हिरेमठ : महादेवी अक्कन वचनगळु, वचन २७८, पृ० ११६

2 प्रो० एस०एस० भूसनूर मठ : गूळूर सिद्धवीरणोडेयर संग्रहिसिद प्रभुदेवर शून्य संपादने, पृ० ३,२४ ।

3 डा० आर०सी० हिरेमठ : महादेवी अक्कन वचनगळु वचन ३३६, पृ० १४०

अर्थात् इस वन के सभी वृक्ष कल्पतरु हैं । सभी वृक्ष संजीवनी हैं । सभी पत्थर पारस हैं । समस्त भूमि मुक्ति-क्षेत्र है । सम्पूर्ण जल अमृत है । सभी मृग पुरुष रूप हैं । चलते समय चुभने वाले सभी पत्थर चिन्तामणि हैं । इस प्रकार मैंने चेन्न मल्लिकार्जुन के प्रिय पर्वत का चक्कर लगाकर कदली-वन को देखा ।

अक्क महादेवी भाव-विभोर होकर अपने इष्टदेव भगवान चेन्न मल्लिकार्जुन से अपने आपको समाहित कर लेने का निवेदन करती हैं[1] ।

भगवान चेन्न मल्लिकार्जुन ने अपने हृदय-कमल में अक्क महादेवी को समाहित कर लिया । उनकी आत्मा उस आराध्य देव में उसी प्रकार विलीन होकर एकाकार हो गई, जिस प्रकार शरीर में नीर समाहित है । अक्क महादेवी को[2] भगवान चेन्न मल्लिकार्जुन का साक्षात्कार हुआ तथा उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई । अक्क महादेवी के[3] कदली-वन में ही मुक्ति पाने का सभी विद्वानों ने एक स्वर से समर्थन किया है ।

---

१ प्रो० स०शि० मूलगुर मठ : गुरुसिद्धवीरणोडेयर संपादित प्रभुदेवर शून्य संपादने, पृ०३४४

२ वही, संपुट १, पृ०३४७

३ (क) प्रो० मूलगुर मठ : शून्य संपादनेय परामर्श, पृ०७०४

(ख) कन्नड विश्वकोश, संपुट १, पृ०१५५

(ग) फ०गु०हलकट्टि : वचन शास्त्र, भाग २, पृ० २

(घ) एस०चि० कृष्णराव : कर्नाटक इतिहास दर्शन, पृ०८०३

(ङ०) डा० फ०गु०हलकट्टि : ७७०अमरगणाधीश्वरर चरित्रे भाग, पृ०६६

(च) शिव पुराणिक—अक्केश्वरर [illegible], पृ०२१८

(छ) डा०फ०गु०हलकट्टि—महादेवी मुक्तक [illegible], पृ०३

(ज) श्री [illegible]शि०—श्री शैल पीठ दर्शन, पृ०७३

(झ) कन्नड साहित्य (कन्नड साहित्य पत्रिका) संपुट १६, पृ०४०८

(ट) वही, संपुट २२, पृ०२१८

(ठ) वही, संपुट ७, पृ०१०१

(ड) वही ,, १०, पृ० [illegible]

(ढ) डा०[illegible]—कन्नड साहित्य व इतिहास, पृ०८५ (१९६२)

अक्क महादेवी ने भारतीय सन्तों की श्रेणी में ही नहीं, वरन् समस्त विश्व के आध्यात्मिक श्रेणी में श्रेष्ठ एवं अमर स्थान प्राप्त कर लिया है और आदर्श जीवन व्यतीत कर संसार के लिए आदर्श बन गई।

(ख) मीरांबाई का जीवन-परिचय

जन्म-सम्वत्

मीरां के जन्म-काल के विषय को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है। मुंशी देवीप्रसाद ने कर्नल टाड और कार्तिकप्रसाद खत्री के मत का खण्डन तो किया, किन्तु किसी निश्चित तिथि का उल्लेख वे स्वयं नहीं कर सके। फिर भी यह निश्चित है कि वे मीरां की जन्म-तिथि सन् १४९३-९८ई० के बीच मानते थे[1]। प्रायः तत्कालीन विद्वान् इसी मत से प्रभावित भी हुए। इस प्रकार मीरांबाई का जन्म-काल सामान्यतया १४९८ई० में माना जाने लगा। हरविलास शारदा, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डा० रामकुमार वर्मा तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी आदि विद्वान् इसी मत को स्वीकार करते हैं, किन्तु इसको मानने में एक आपत्ति उपस्थित हो जाती है वह यह कि विवाह के समय मीरां की अवस्था १८वर्ष की हो जाती है, जो देश-काल के अनुसार असंगत मानी जाती है, क्योंकि मुसलमानों के अत्याचार के कारण मध्य - युग में एक बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित हो गई थी। इस प्रकार यदि मीरां का जन्म-काल १४९८ ई० मान भी लिया जाय तो उनके पति कुंवर भोजराज की जन्म-तिथि उससे कुछ पहले अर्थात् सन १४९५-९६ई० माननी होगी, क्योंकि महाराणा सांगा का जन्म १४८२ ई० ——————————

---

१ मुं० देवीप्रसाद : "मीरांबाई का जीवन चरित्र(लखनऊ सं०१९५४),पृ०२१

में हुआ था । डा० श्रीकृष्णलाल का मत है कि १४ वर्ष की ही अवस्था में वे एक सन्तान के पिता बन जाते हैं । उनका विवाह तो और भी छोटी अवस्था में हुआ होगा । ऐसी स्थिति में मीरां का १८ वर्ष की अवस्था तक अविवाहित रहना कुछ विद्वानों ने असम्भव माना है ।[1] अतः सन् १४९८ ई० के आस-पास मीरां का जन्म मानना संगत नहीं मालूम पड़ता ।

कन्हैयालाल मुंशी तथा वियोगीहरि सन् १५०० ई० के आस-पास मीरां का जन्म-काल मानते हैं । ललुराम मनसुखराम त्रिवेदी ने 'बृहत् काव्य दोहन' भाग ७ की भूमिका में मीरां का जन्म सन् १४९९ और १५०३ ई० के बीच माना है । वासुदेव शर्मा, नरोत्तम स्वामी, डा० रामसूर्ति त्रिपाठी, कुंवर कृष्ण, डा० कृष्णलाल, विष्णु कुमारी मंजु और डा० धीरेन्द्र वर्मा मीरां का जन्म-काल सन् १५०३ ई० मानते हैं ।[2] कुछ अन्य विद्वानों ने मीरां का जन्मकाल १५०४ ई० अनुमानित किया है ।[3] मिश्रबन्धु ने सन् १५१६ ई० को ही मीरां का जन्मकाल माना है, जब कि यह समय मीरां के विवाह का समय था और अन्य अनेक विद्वान् सुस्पष्ट प्रमाणों द्वारा स्वीकार भी कर चुके हैं ।[4] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसी गलती को अपने ग्रन्थ में दुहरा दिया है ।

---

१ डा० कृष्णलाल : 'मीरांबाई (जीवन और आलोचना)', पृ० ५६।

२ डा० प्रभात : 'मीरांबाई', पृ० ११८ ।

३ 'मिश्रबन्धु विनोद', पृ० २८५

४ रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० १८४ ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरां के जन्म-काल के विषय में विद्वान् एक मत नहीं हैं और सभी लोगों ने सन् १४९८ ई० से लेकर १५०४ ई० के बीच में मीरां का जन्म-काल स्वीकार किया है । सारे विवाद का केवल एक कारण है, मीरा का विवाह । श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डा० रामकुमार वर्मा, पं० परशुराम चतुर्वेदी आदि विद्वानों ने १४९८ई० में मीरा का जन्म होना माना है, किन्तु इसके पश्चात् साहित्य-शोधकों ने उनका जन्म-काल सन् १५०० और १५०३-४ई० तक खींचने का प्रयास किया है । डा० श्रीकृष्णलाल ने यद्यपि विद्वत्तापूर्वक अपने मत की पुष्टि में अनेक अकाट्य तर्क प्रस्तुत किए हैं, किन्तु मेरा अपना विचार है कि शोध के कार्यों में किसी विषय के प्रति विशेष आग्रह उचित नहीं प्रतीत होता । विद्वानों को सदैव तटस्थ तथ्यों और तर्कों का सहारा लेना अपेक्षित होता है । हम डा० श्रीकृष्ण लाल जी के ही मत पर पहले विचार करेंगे । वे १४९८ई० के आस पास मीरां का जन्म मानने में आपत्ति करते हैं । डा० श्रीकृष्ण-लाल जी का यह कहना है कि "राणा सांगा का जन्म सन् १४८२ ई० में हुआ था और १४ वर्ष की ही अवस्था में वे एक सन्तान के पिता बन जाते हैं..। फिर जब पुरुष होकर भी राणा सांगा का विवाह १४ वर्ष से भी कम अवस्था में हो गया था, तब यह कैसे सम्भव हो सकता है कि बालिका होकर भी मीरां १८वर्ष तक अविवाहिता रहतीं । वे भी तो एक बड़े वंश की बेटी थीं । अस्तु सं० १५५५ (१४९८ई०) के आस-पास मीरां का जन्म मानना संगत नहीं है ।"[1]

यह है डा० लाल का तर्कयुक्त कथन, किन्तु मुझे इसमें आपत्ति है । राणा सांगा और मीरां बाई के जीवन में विवाह सम्बन्धी तुलना उचित नहीं जंचती, क्योंकि समाज में सदैव ही उच्च एवं निम्न सभी वर्गों में कोई ऐसा विवाह सम्बन्धी नियम नहीं रहा । एक ही परिवार में कभी बाल-विवाह होते देखा जाता है, कभी वृद्ध-विवाह । ऐसी स्थिति में राणा सांगा और मीरां के वैवाहिक अवस्था की तुलना करना कैसे समीचीन कहा जा सकता है ।

---

१ डा० श्रीकृष्णलाल : 'मीरांबाई' : जीवन चरित और आलोचना, पृ० ५५

मीरां का कृष्ण के प्रति रूप में स्वीकार करना भी इस बात की पुष्टि करता है कि मीरां की अवस्था बचपन की अवस्था नहीं थी, बल्कि वे युवती के रूप में प्र ही हमारे समक्ष प्रस्तुत होती हैं। एक बात और है डा० श्रीकृष्णलाल जी ने यह भी उल्लेख किया है कि सं०१५४८ में गणगौर के मेले से मुसलमानों द्वारा १४० कुमारी राठौर कन्याओं का हरण किया गया था। जिनकी रक्षा के लिए जोधपुर के महाराव सातलदेव तथा मीरांबाई के पितामह राव दूदा जी ने मुसलमानों से घोर युद्ध किया था और उन्हें मुक्त भी करा दिया था। डा० श्रीकृष्णलाल के इस उदाहरण से जहां तत्कालीन विषम सामाजिक परिस्थिति का पता चलता है, वहीं राव दूदा जी के पराक्रम का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है[1] और जब अन्य बहु-बेटियों की लाज वे बचा सकते थे तो अपनी बहू-बेटियों की उन्हें क्योंकर चिन्ता होगी। अत: मीरांबाई के जन्म के सम्बन्ध में अंतिम निर्णय तब तक नहीं दिया जा सकता, जब तक कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत न किया जाय। अत: संवत् १५५५-६१ के बीच मीरां का जन्म-काल माना जा सकता है।

<u>जन्म-स्थान</u>

मीरां के जन्म-स्थान के विषय में प्राय: सभी विद्वान् एकमत हैं। मीरा जोधपुर राज्यान्तर्गत मेड़ता या मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की इकलौती[2] पुत्री थीं और उनका जन्म[3] कुड़की या चोकड़ी[4] ग्राम में हुआ था।[5] मुंशी देवीप्रसाद, भुवनेश्वर मिश्र 'माधव', रामचन्द्र शुक्ल, डा० गणपतिचन्द्र गुप्त,

---

१ डा०श्रीकृष्णलाल : 'मीरांबाई' : (जीवनी चरित और आलोचना), पृ० ५६

२ 'श्रीमती मीरांबाई का जीवन-चरित्र', प्रथम सं०, पृ०७।

३ 'मीरां की प्रेम साधना', पृ०[illegible]।

४ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० [illegible]।
हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, ३२०

५ [illegible]।

डा० किशोरीलाल गुप्त[1], प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव[2] आदि अनेक विद्वानों ने एक स्वर से मीरां का जन्मस्थान कुड़की या चौकड़ी ग्राम ही स्वीकार किया है। रत्नसिंह को राव दूदा जी ने राज्य की ओर से उनके जीवन-निर्वाह के लिए जागीर में बाजोली, कुड़की आदि १२ गांव प्रदान किए थे[3]।

माता-पिता

मीरांबाई मेड़ता के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदा[4] जी की पौत्री तथा जोधपुर के संस्थापक राव जोधा जी की प्रपौत्री थीं। मीरां के पिता रत्न सिंह थे, इस मत से हिन्दी एवं अंग्रेजी के समस्त विद्वान् सहमत हैं, किन्तु उनकी माता के नाम के सम्बन्ध में मतभेद है। प्रो० नारायण शर्मा ने उनकी माता का नाम कुंवरि बाई बताया है[5], किन्तु किस आधार पर यह नाम दिया है, इसका कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

अन्तर्साक्ष्य के अभाव में मीरां की माता के सम्बन्ध में एक निश्चित मत खोज निकालना कठिन प्रतीत होता है। हां, इतना अवश्य पता

---

१ 'सरोज सर्वेक्षण' (१९६७), पृ० ५८६

२ 'मीरां दर्शन', पृ० ११।

३ पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरांबाई की पदावली', पृ० १८।

४ पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', नवम सं०, पृ० १८४

५ 'मीरां की काव्य कला और जीवनी', पृ० १३।

चलता है कि मीरां को अत्यल्प वय में ही उनकी माता का निधन हो गया था तथा वे टांकनों की राजपूत वंश की थीं[1] ।

ग बाल्यावस्था

मीरां बाई की अल्प अवस्था में ही उनके माता-पिता का निधन हो गया था-- इस मत से प्राय: समस्त विद्वान् सहमत हैं । फलत: राव दूदा जी ने इन्हें अपने पास मेड़ते में बुला लिया था और वहीं इनका पालन-पोषण भी हुआ[2] । दूदा जी परम वैष्णव थे तथा चतुर्भुज भगवान के उपासक थे[3] । उनके निरन्तर साथ रहने के कारण मीरां के हृदय में भी उन धार्मिक तत्वों का स्वाभाविक गति से अंकुरण हुआ[4] । मीरां का संस्कार बचपन से ही कृष्ण-प्रेम में प्लावित था । मीरां बचपन में ठाकुर जी की पूजा के लिए पुष्प चुनकर माला बनातीं और बड़े प्रेम से ठाकुर जी को पहनाती थीं[5] । ये बचपन से ही कृष्ण-भक्ति में लीन रहा करतीं थीं[6] । उनका बचपन वीरम देव के एक मात्र पुत्र जयमाल के साथ बीता । जयमाल पक्के कृष्ण-भक्त थे[7], मीरां पर भी उनकी भक्ति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था । यद्यपि दूदा जी का उनपर सदैव लाड़-प्यार बना रहा, किन्तु फिर भी मीरां की बाल्यावस्था दु:खमय ही रही ।

---

१ 'मीरां स्मृति ग्रन्थ', पृ०५१

२ मोतीलाल मेनारिया : 'राजस्थान का पिंगल साहित्य', पृ०५६

३ नरोत्तम स्वामी : 'मीरां : मन्दाकिनी'-प्रस्तावना, पृ०३

४ डा० रामकुमार वर्मा : 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ०६२६

५ भुवनेश्वर मिश्र माधव : 'मीरा की प्रेम-साधना', पृ०१६८

६ डा० रामरतन भटनागर : 'हिन्दी साहित्य की रूप-रेखा', पृ०६०

७ डा० के० भास्करन : 'हिन्दी और मलयालम में कृष्ण-भक्ति काव्य', पृ०५६

शिक्षा

मीरां की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही प्रारम्भ हुई । राव दूदा ने ही उन्हें अध्ययन की ओर प्रेरित किया । नृत्य और संगीत की शिक्षा भी उन्होंने घर पर ही पाई थी । भाषा के रूप में मीरां की मातृभाषा मारवाड़ी थी । विवाह के उपरान्त उन्होंने मेवाड़ी भी सीख ली । जीवन की यात्राओं में उन्होंने ब्रजभाषा और गुजराती का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया था[1] । पितामह के साथ रहकर मीरां पर्याप्त शिक्षा ग्रहण कर सकीं[2] । संगीत कला में उनकी रुचि विशेष थी । मीरां विशेष पढ़ी-लिखी नहीं थी, परन्तु अपने पदों में उन्होंने हृदय निकाल कर रख दिया है[3] । शास्त्रीय शिक्षा का सुअवसर भी मीरां को प्राप्त हुआ हो[4], ऐसा अब तक प्राप्त सामग्री के आधार पर स्पष्ट नहीं होता ।

गुरु

मीरां के दीक्षा गुरु के सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं । रैदास-पंथी संत रैदास को उनका गुरु बताते हैं । वल्लभ सम्प्रदाय के मतावलम्बी गोसाईं विट्ठलनाथ से उनका दीक्षित होना सिद्ध करते हैं । बाबा वेणी माधवदास पत्र व्यवहार का आश्रय ग्रहण कर तुलसीदास को उनका गुरु स्वीकार करते हैं । श्री ब्रजरत्नदास ने रघुनाथ दास को मीरां का गुरु माना है । रूपगोस्वामी की भी शिष्या के रूप में कुछ लोग उन्हें मानते हैं[5] ।

पहले हम रैदास के विषय में विचार करेंगे, क्योंकि सबसे अधिक व्यापक यही मत है । अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी रैदास ही उनके गुरु

---

१ प्रो० नारायण शर्मा : 'मीरा की काव्यकला और जीवनी', पृ०१६

२ डा०के० भास्करन : 'हिन्दी और मलयालम में कृष्ण भक्ति काव्य', पृ०३६

३ रायबहादुर लाला सीताराम : 'हिन्दी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट', पृ०४०

४ पद्मावती 'शबनम' : 'मीरां वृहद् पद-संग्रह', पृ०१२

ठहरते हैं । रैदास रामानन्दी थे, मीरां कृष्ण की उपासिका थीं तथा इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे ठोस व ऐतिहासिक कारण हैं,जिनके आधार पर मीरां को उनकी शिष्या कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता । इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाणों का आधार लिए बिना कोई निर्णय नहीं किया जा सकता । नाभादास कृत भक्तमाल के अनुसार संत रैदास स्वामी रामानन्द के शिष्य थे । रामानन्द का जन्म सं० १३५६ में हुआ था[1] । रैदास अपने गुरु से आयु में कुछ छोटे ही रहे होंगे । किन्तु यदि इन दोनों गुरु शिष्य की आयु बराबर मान भी ली जाय और यह भी मान लिया जाय कि रैदास १२० वर्ष की अवस्था में स्वर्गवासी हुए थे, तो भी उनका और मीरांबाई का सम-सामयिक होना सिद्ध नहीं होता,क्योंकि इस प्रकार उनका निधन-काल सं० १४७६ के आस-पास निश्चित होता है,जो मीरां के जन्म-काल सं०१५५५ से ७९ वर्ष पहले का है । अतः मीरां को रैदास की शिष्या भक्ता कैसे माना जा सकता है? हां, यह बात अवश्य है कि मीरां ने अपने पदों में रैदास का स्मरण गुरु के ही रूप में किया है । रैदास उनके गुरु भले ही न रहे हों, किन्तु उनसे मीरां ने प्रेरणा अवश्य ग्रहण की थी, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा ।

बाबा वेणीमाधवदास का गोसाईं चरित अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है[2] । अतः गोस्वामी जी से मिलने की बात का उल्लेख भी

---

१ मोतीलाल मेनारिया : "राजस्थान का पिंगल साहित्य", पृ०५० ।

२ हिन्दी साहित्य कोश,भाग२,पृ०४२२ ।

प्रियादास की टीका में हुआ है, किन्तु उससे शिष्या होना प्रमाणित नहीं होता ।[1]
गौडीय वैष्णवों में मीरां के जीव गोस्वामी से मिलने की बात प्रचलित है । अतः
गोस्वामी से तो मीरां का मिलना ही संदिग्ध है, क्योंकि प्रमुख बात तो यह
है कि समय और भक्ति-सिद्धांत की दृष्टि से यह मत भी संगत नहीं प्रतीत होती ।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सन्त कबीर,
दादू आदि के समान ही मीरांबाई भी किसी पंथ-विशेष की प्रवर्तक नहीं थीं और
न उनका किसी सम्प्रदाय-विशेष से कोई विशेष लगाव ही था । वस्तुतः मीरां
एक सद् गृहस्थ महिला थीं, जो भगवद्भजन कीर्तन कर अपने वैधव्य के दिन व्यतीत
करती थीं और कृष्ण को ही जीवन का परम लक्ष्य, अथवा सत्य समझती थीं ।
कृष्ण को ही वे पति, देव आदि सब कुछ मान बैठी थीं । ऐसी स्थिति में
किसी व्यक्ति-विशेष को उन्होंने अपना गुरु बनाया हो, ऐसा अनुमान नहीं
होता ।

वास्तव में मीरां का सम्बन्ध किसी तत्कालीन सम्प्रदाय
विशेष से नहीं था । उनका न तो कोई विशिष्ट सम्प्रदाय ही था और न उन्होंने
किसी व्यक्ति-विशेष से दीक्षा ही ली थी । उनकी भक्ति-भावना स्वतंत्र रूप
से गतिशील थी, जो उनके जीवन के संस्कारों और तत्कालीन समस्त सम्प्रदायों से

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृ० ४२२ ।

सिद्धान्तों को दृष्टि-पथ में रखकर नियत की गई थी । उनकी भाव-धारा में सभी सम्प्रदायों की विचार-धारा का संगम है । अन्त में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस कथन से हम प्रस्तुत विषय समाप्त करते हैं-- "मीरां बाई अत्यन्त उदार मनोभावापन्न भक्त थीं । उन्हें किसी पंथ-विशेष पर आग्रह नहीं था । जहां कहीं भी उन्हें भक्ति या चारित्र्य मिला है, वहीं उन्होंने सिर माथे चढ़ाया है ।"[1]

प्रेरणा-स्रोत

मीरांबाई जिस युग में उत्पन्न हुई थीं, वह राजनीतिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण था ही, किन्तु धार्मिक एवं साहित्यिक दृष्टियों से उससे कहीं अधिक महत्वशाली भी था । पंजाब प्रान्त में गुरु नानक देव ने मीरांबाई के जीवन-काल में ही (सन् १४६८--१५३८ई०)[2] अपने मत का प्रचार किया था । उसी समय बंगाल में भी चैतन्य देव (सन् १४८५-१५३३)[3] ने अपनी भक्ति का आदर्श स्थापित किया था । ब्रज के आस-पास श्री वल्लभाचार्य (सन् १४७९-१५३०ई०)[4] ने अपने पुष्टि मार्ग को प्रवर्तित किया था । उसी युग में कृष्ण भक्ति एवं उसकी परम्पराओं के हिन्दी कवियों ने भी अपने अनेक अमूल्य ग्रन्थ-रत्न भी प्रस्तुत किए थे । ऐसे वातावरण में विचरण करने वाली मीरांबाई पर तत्कालीन धार्मिक विचार धारा का न्यूनाधिक मात्रा में प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है ।

किन्तु मीरां बाई के जीवन में घटित घटनाओं का उनके जीवन-निर्माण में विशिष्ट महत्व है । अपने अल्पवय में ही उन्हें माता-पिता

---

१ "हिन्दी साहित्य",पृ०३३ ११६

२ पं० परशुराम चतुर्वेदी : "मीरांबाई की पदावली",पृ०१७

३ वही

४ वही

का वियोगजन्य दुःख सहन करना पड़ा । उनके पितामह राव दूदा जी ने उनका पालन-पोषण किया । कृष्ण-भक्ति के बीज मीरां के हृदय में यहीं प्रस्फुटित हुए । वैवाहिक जीवन सुखमय न बीत सका, उनके पति का निधन शीघ्र हो ही जाता है । पितामह राव दूदा जी, श्वसुर राणा सांगा सभी अकस्मात् एक-एक करके मीरां के जीवन से दूर मृत्यु के मुख में प्रवेश करते गए । मीरां के हृदय पर इन दुःखद आघातों की चोट असह्य हो उठी और वे अविनाशी कृष्ण की प्रेम-साधना अपनी आंसुओं के जल से सींचकर पल्लवित करती रहीं । उनके इस प्रकार अव्यवस्थित एवं दुःखद जीवन में, उनके ही स्वजनों ने अनेक प्रकार के कष्ट दिए, विष, सर्प आदि द्वारा अनेक प्रकार की यातनाएं उन्हें दी गयीं, किन्तु सबका प्रभाव प्रतिकूल पड़ा और मीरां का हृदय अधिक कृष्ण भक्ति में लीन और दृढ़ होता गया ।

<u>विवाह</u>

मीरांबाई के जीवन के अन्य पक्षों की भांति विवाह सम्बन्धी विषय भी विवादग्रस्त है । इस सम्बन्ध में विद्वानों के दो मत प्राप्त होते हैं, पहले मत के विद्वान् राणा कुम्भा को मीरा का पति मानते हैं तथा दूसरे मत के विद्वान् भोजराज को मीरा का पति मानते हैं ।

पहले मत के प्रमुख समर्थक हैं--कर्नल टाड तथा दूसरे मत के प्रमुख समर्थक हैं-- मुंशी देवीप्रसाद । इनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी उक्त मतों का ही पुनः समर्थन किया है ।

राजस्थानी इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान् कर्नल टाड ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है कि "मारवाड़ के मेड़ता सामन्त मेड़ता निवासी राठौर दूदाजी[1] की मीराबाई नामक कन्या से महाराणा कुम्भा का विवाह हुआ था ।

---

१ (अ) "दि एनल्स एण्ड एंटिक्विटीज आफ राजस्थान", अनु-ज्वालाप्रसाद मिश्र,

कर्नल टाड् की इस उक्ति में सत्यता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि उसका ठोस प्रमाण उन्होंने अपने ग्रन्थ में नहीं दिया है ।

मीरांबाई के जीवन-सम्बन्धी प्रामाणिक तथ्यों के अभाव में टाड् जैसे विद्वान् इतिहासकार भी भ्रांति में पड़ गए और उन्होंने मीरां को मेवाड़ के महाराणा कुम्भा की रानी लिख दिया[1] । टाड् का अनुसरण करते हुए जार्ज ग्रियर्सन[2] तथा शिव सिंह सेंगर[3] ने भी इसी मत की पुष्टि कर दी । किन्तु यह मत अत्यन्त निर्मूल है । आगे चलकर पर्याप्त आलोचनाएं हुईं ।

सर्वप्रथम कर्नल टाड् के मत की आलोचना करते हुए मुंशी देवीप्रसाद ने अपनी पुस्तक 'मीरांबाई का जीवन-चरित्र' में लिखा है --'यह बिल्कुल गलत है, क्योंकि राणा कुम्भा तो मीरांबाई के पति कुंवर भोजराज के परदादा थे और मीरांबाई के पैदा होने से २५ या ३० बरस पहले मर चुके थे, मालूम नहीं कि यह भूल राजपूताने के ऐसे बड़े तवारीख लिखने वाले से क्योंकर हो गई.... राणा कुम्भा जी का जन्मकाल सं० १४७५ में हुआ था । उस तक मीराबाई के दादा दूदा जी को मेड़ता मिला ही नहीं था । इसलिए मीरा बाई राणा कुंभा की रानी नहीं हो सकती[4] ।' स्मरणीय है कि मीरां को मेड़ती भी कहा गया है । स्पष्ट है कि दूदा जी को मेड़ता मिलने के पूर्व ही मीरां को मेड़ती नहीं कहा जा सकता था ।

टाड् के इस मत को अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने --

---

१ दि एनाल्स एण्ड एन्टीक्विटीज आफ राजस्थान, कुक्स संस्करण, लन्दन, पृ० २८९।

२ दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान, पृ० १२

३ 'शिवसिंह सरोज', पृ० ४०१

४ 'मीरांबाई का जीवन चरित्र', पृ० ३१-३२

में किया है । उन्होंने ठोस तथा सबल प्रमाणों के आधार पर टाड् महोदय के मत को अप्रामाणिक सिद्ध किया है[1] । उनका तर्क इस प्रकार है—महाराणा कुम्भा के ६० शिला लेख प्राप्त हुए हैं । किन्तु किसी में भी मीरां का नाम नहीं है । कुम्भा की अनेक रानियां थीं[2] । इनमें से रानी कुम्भलदेवी का नाम चित्तौड़ के कीर्ति स्तम्भ की प्रशस्ति (सं० १५१७) में और अपूर्व देवी का नाम "गीतगोविन्द की महाराणा कुम्भा कृत "रसिक प्रिया टीका" में प्राप्त होता है[3] । राणा कुम्भा की रानियों के नाम ख्यातों में भी दिए हुए हैं, किन्तु इनमें कहीं मीरां का नाम नहीं है । यदि मीरां बाई महाराणा कुम्भा जैसे प्रसिद्ध महाराणा की रानी होती तो उक्त रचनाओं में अवश्य ही उसका उल्लेख किया जाता ।

मीरांबाई को राणा कुम्भा की पत्नी मानने का एक आधार कर्नल टाड् को तत्कालीन प्रचलित जनश्रुति से प्राप्त हुआ था । टाड् ने अपने ग्रन्थ के[4] तीसरे भाग में राणा कुम्भा के द्वारा बनवाए हुए मंदिर का उल्लेख किया है । उस मन्दिर के समीप एक छोटा-सा मन्दिर और है, जो मीरांबाई द्वारा बनवाया हुआ कहा जाता है । इस सम्बन्ध में रायबहादुर डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपने "राजपूताने का इतिहास" में लिखा है— "लोगों में यह प्रसिद्धि हो गई है कि 'बड़ा मन्दिर महाराणा कुम्भा ने और छोटा उसकी रानी मीरांबाई ने बनवायाथा, इसी जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड् ने मीरांबाई को महाराणा कुम्भा की रानी लिखा किया है, जो मानने योग्य नहीं है । मीरा बाई महाराणा संग्राम सिंह(सांगा) के ज्येष्ठ

---

१ उदयपुर राज्य का इतिहास ,पृ०३१८

२ [illegible] के कुम्भक [illegible] कुम्भल देवी प्रिया, श्लोक सं० ८८१

३ महारानी श्री अपूर्व देवी कृपाभिलाषिक महाराजाधिराज महाराज श्री कुम्भकर्ण [illegible]", निर्णय सागर प्रेस बम्बई का संस्करण ,पृ० [illegible]

४ "एनल्स एण्ड एंटिक्विटीज आफ राजस्थान" ,खंड ३,पृ० १८१८ ।

पुत्र भोजराज की स्त्री थीं[1] ।"

हो सकता है दोनों मन्दिरों का निर्माण राणा कुम्भा ने ही कराया हो और किसी कारणवश छोटे मन्दिर को मीरां द्वारा बनवाया हुआ कहा जाने लगा हो । इस सम्बन्ध में गौरीशंकर हीराचंद ओझा का मत दर्शनीय है--" जो मन्दिर मीरांबाई के द्वारा बनवाया गया कहा जाता है, वह वास्तव में राणा कुम्भा के द्वारा ही संवत् १५०७ में बनवाया गया था । इस प्रकार कुंभ स्वामी और आदि वराह के दोनों मन्दिर राणा कुंभा के द्वारा ही बनवाए गए थे । जिस समय इन मंदिरों का निर्माण हुआ, उस समय मीरां बाई का जन्म भी नहीं हुआ था । राणा कुम्भा से विवाह होने की बात तो बहुत दूर है[2] ।

इस मन्दिर की मीरां के नाम से प्रसिद्धि का कारण देते हुए डा० श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है कि जान पड़ता है कि मीरां बाई इस मन्दिर में पूजा-पाठ और भजन किया करती थीं । इसी कारण इस मंदिर को मीरां के द्वारा बनवाया हुआ कहा जाने लगा । डा० श्रीकृष्णलाल का यह मत है तो अनुमान-प्रमाण ही परन्तु यह कुछ अंश तक सत्य भी हो सकता है ।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कर्नल टाड का मत सर्वथा निराधार और भ्रामक है । अनेक प्रमाणों के आधार पर अब यह सिद्ध हो गया है कि मीरां राणा कुंभा की पत्नी नहीं बल्कि भोजराज की पत्नी थीं । इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के मत उल्लेखनीय हैं-- कर्नल टाड के मत की आलोचना करते हुए तथा मीरां बाई को भोजराज की पत्नी बताते हुए बाबू रामनारायण ने अपने 'राजस्थान रत्नाकर' में लिखा है--

---

१ "राजपूताने का इतिहास" (ओझा), दूसरा खण्ड, पृ०६७

२ महाराणा कुम्भा विक्रम संवत् १५२५ (सन् १४६८) में मारा गया, जिसके ३ वर्ष बाद मीरां के पिता के बड़े भाई वीरमदेव का जन्म हुआ था । ऐसी दशा में मीरां बाई का महाराणा कुम्भा की रानी होना सर्वथा असंभव है । --वही, पृ०६७१

'महाराणा कुम्भा कर्ण की पटरानी का नाम कुम्भल देवी था । कर्नल टाड् ने मारवाड़ के राव जोधा के बेटे दूदा मेड़तिये की पुत्री मीरां बाई को जो राजपूताने में ही में नहीं, किन्तु सारे भारतवर्ष में अपनी भक्ति व कविता के वास्ते प्रसिद्ध है महाराणा कुम्भकर्ण की रानी लिखा है, परन्तु यह सही नहीं है । मीरांबाई का विवाह महाराणा सांगा जी के पुत्र भोजराज के साथ हुआ था ।'[1]

इस सम्बन्ध में मुहणोत नैणसी ख्यात में भी इस प्रकार उल्लेख मिलता है— 'सुप्रसिद्ध मीरांबाई जिसने भक्तिभाव के कारण राजपूताने ही में नहीं, वरन् सारे भारतवर्ष में ख्याति प्राप्त की और जिसके पद एवं भजन आज तक देश भर में गाये जाते हैं, राणा सांगा के पुत्र भोजराज को ब्याही गई थी न कि राणा कुम्भा को जैसा कि कर्नल टाड् ने लिखा है'[2] ।

इस सम्बन्ध में रघुवीर सिंह अपनी पुस्तक 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' में लिखते हैं— 'राणा सांगा का ज्येष्ठ पुत्र भोजराज था, जिसके साथ ख्यात प्रसिद्ध भक्त-शिरोमणि मीरां का विवाह हुआ'[3] । डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने मीरां को भोजराज की पत्नी होने का उल्लेख एक स्थान पर और किया है । मीरां का विवाह महाराणा सांगा के पाटवी कुंवर भोजराज के साथ सं० १५७३ में सम्पन्न हुआ था[4] । इसके अतिरिक्त

---

१ बाबू रामनारायण : 'राजस्थान रत्नाकर', प्रथम भाग, पृ०८४

२ मुहणोत नैणसी की ख्यात प्रथम संस्करण, पृ०४७

३ पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ० २५

४ उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ३२२

रामचन्द्र शुक्ल[1], रामबहोरी शुक्ल[2],डा० गणपतिचन्द्र गुप्त[3], डा० त्रिभुवन सिंह[4] आदि अन्य अनेक विद्वानों ने भी मीरां का पति भोजराज को ही स्वीकार किया है । उक्त सभी विद्वानों ने मीरांबाई का वैवाहिक संस्कार सम्वत् १५७३ (सन १५१६ई०)स्वीकार किया है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मीरां का विवाह राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ ही हुआ था । इसकी पुष्टि में अनेक ठोस प्रमाण भी मिलते हैं । कर्नल टाड् ने मीरां को भ्रमवश राणा कुम्भा की पत्नी बताया है । दोष उनका भी नहीं है । वस्तुतः दोष मीरां के जीवन सम्बन्धी घटनाओं के प्रमाणों के अभाव का है । अब तो यह सिद्ध हो चुका है कि मीरां भोजराज की ही पत्नी थीं और इसी मत को मानना श्रेयस्कर है ।

अब तो यह सर्वमान्य मत हो गया कि मीरां भोजराज की पत्नी थीं और ऐतिहासिक कसौटी पर उनका विवाह-काल सं०१५७३ (सन् १५१६ई०) ही ठहरता है,किन्तु कुंवर भोजराज की अल्प वय में अपने पिता के जीवन-काल में ही सं० १५७५ और १५८० के बीच स्वर्गवास हो गया ।इसप्रकार

---

१ `हिन्दी साहित्य का इतिहास`,पृ०१८४

२ `हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास`,पृ०१८३

३ `हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास`;पृ०३२०

४ `हिन्दी साहित्य - एक परिचय`,पृ० ७२

५ परशुराम चतुर्वेदी : `मीरांबाई की पदावली`,पृ०३०

मीरांबाई अपने अल्पवय में ही पति के सुख से वंचित हो गई। युवावस्था के इस आकस्मिक घटना का उनके जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। पतिदेव का वियोग होते ही सांसारिक वस्तुओं से उन्होंने सर्वथा एवं सर्वदा के लिए दृष्टि फेर ली और कृष्ण की भक्ति में अनुरक्त हो गई।

विषपान-घटना

मीरांबाई का घर छोड़कर साधु-संतों में बैठना-उठना और उनके साथ भजन-कीर्तन आदि करना इनके देवर राणा विक्रमादित्य को अच्छा नहीं लगा और उन्होंने विष-प्रयोग द्वारा मीरां बाई की मृत्यु का षड्यन्त्र रचा, जिसमें वे सर्वथा असफल रहे, फलस्वरूप उन्होंने उपर्युक्त विष को चरणामृत अथवा ईश्वरका प्रसाद समझकर स्वीकार किया। भक्त-माल आदिग्रन्थों में इस बात का उल्लेख है[1]। स्वयं मीरां बाई ने भी अपने पदों में स्थान-स्थान पर इसका उल्लेख किया है--

(१) राणां विषरो प्यालो भेज्यां, पीय मगण हुयां।
मीरां री लग लग्यां होणा हो जी हुयां ॥[2]

(२) विष रो प्यालो राणा भेज्यां आरोग्यां णी जाचां।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, जनम जनम रौ सांचां ॥[3]

(३) विष को प्यालो राणो जी भेज्यो, जो मेड़तणी ने पाय।
कर चरणामृत पी गई रे, गुण गोविन्द रा गाय ॥[4]

---

१ नाभादास : भक्तमाल, पद ११५

२ परशुराम चतुर्वेदी : मीरांबाई की पदावली पद सं०८, पृ०१०४

३ ,, : ,, ,, ,, ३७, पृ०१११

४ ,, : ,, ,, ,, ४०, पृ०११२

इसके उत्तर में तुलसीदास जी ने निम्नलिखित पद भेजा था-

"जाके प्रिय न राम बैदेही ।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ।
तज्यो पिता प्रह्लाद ,विभीषण बंधु भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो,कंत ब्रज बनिता, भये सब मंगल कारी ।
नाती नेह राम सों मनियत,सुहृद सुसेव्य जहां लौं ।
अंजन कहा आंख जो फूटे, बहुतक कहों कहां लौं ।
तुलसी सो सब भांति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो ।
जासों बढ़े सनेह रामपद, एतो मतो हमारो ।"

कुछ लोगों का कहना है कि उक्त पद के साथ एक निम्नलिखित सवैया भी था,जिसे तुलसीदास ने मीरां के पास भेजा था —

"सो जननी सो पिता सोइ भ्रात, सो भामिनि सो सुत सो हित मेरो ।
सोइ सगो सखा सोइ सेवक सो गुरु सो सुर साहिब चेरो ।
सो तुलसी प्रान समान, कहां लौं बताई कहों बहुतेरो ।
जो तजि गेह को, देह को नेह, सनेह सब सो राम को होय सबेरो ।

पं० परशुराम चतुर्वेदी जी ने तुलसीदासकृत पद और सवैया कुछ हेर-फेर के साथ उन्हीं की रचना माना है, किन्तु पहले पद का प्रथम तथा द्वितीय कोई भी पाठ मीरांबाई के किसी संग्रह में नहीं मिलता । कुछ विद्वान् मूल गोसाईं चरित का दृष्टान्त देते हैं और तुलसी और मीरां का पत्र-व्यवहार निश्चित मानते हैं--

"सोरह से सोरह लगे, कामद गिरि ढिग वास ।
शुचि एकांत प्रदेश महं, आए सूर सुदास ।।"

है पाति गये सब सूर कवी । रूप में पधराय के स्याम छवी ।
तब आयो मेवाड़ ते, विप्र नाम सुखपाल ।
मीरांबाई पत्रिका, लायो प्रेम प्रवाह ।।
पढ़ि पाती, उत्तर लिखे, गीत कवित्त बनाय ।
सब तजि हरि भजबौ भलौ, कहि दिय विप्र पठाय ।"

अब तक मीरा-तुलसी के पत्र-व्यवहार को अनेक विद्वानों ने अकाट्य तर्कों द्वारा असत्य एवं असंभव घटना के रूप में स्वीकार किया है । अस्तु, उसका पिष्टपेषण करना मैं उचित नहीं समझता । डा० रामकुमार वर्मा[1] तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी[2] आदि ने इस प्रसंग को असत्य तथा निराधार प्रमाणित कर दिया है ।

अकबर से भेंट

मीरां बाई के सम्बन्ध में कुछ किंवदन्तियां भी प्रचलित हैं । ऐसी किंवदन्ती है कि मुगल सम्राट अकबर, अपने प्रसिद्ध गवैये तानसेन के साथ मीरांबाई का दर्शन करने आया था । परन्तु इसमें काल-दोष स्पष्ट है, क्योंकि मीरांबाई की मृत्यु के समय अकबर (जन्मसं० १५९९) केवल चार वर्ष का बालक था और गद्दी पर भी नहीं बैठा था । इस प्रकार सिद्ध अकबर द्वारा तानसेन के साथ मीरां के पास आना असत्य सिद्ध होता है ।[3]

मेवाड़-त्याग

भोजराज की मृत्यु के बाद मीरांबाई का मन संसार से उचट-सा गया और वह सत्संग से तथा भजन-कीर्तन में अपना अधिकांश समय व्यतीत करने लगीं । परन्तु राजकुल वालों ने उनके इस तरह के कार्यों को अपनी

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास , पृ०५६५

२ मीरांबाई की पदावली पृ०२३

३ मोतीलाल मेनारिया : "राजस्थान का पिंगल साहित्य", पृ०

वंश-मर्यादा के विरुद्ध समझा और उनमें अनेक प्रकार की बाधाएं डालने लगे । इसलिए मीरांबाई चित्तौड़ से अपने मायके मेड़ते चली गई[1] । मीरां चित्तौड़ छोड़कर मेड़ते में कब आई, इसका निर्णय दो-तीन बातों से हो जाता है । पहला तो यह कि मीरां को कष्ट देने वाले, मीरां के अपने शब्दों में राणा विक्रमादित्य थे, जिनका राज्य-काल वि०सं० १५८८ से सं०१५९३ तक था । इसी समय कभी मीरां ने मेड़ता के लिए प्रस्थान किया होगा । दूसरे संवत् १५९१ में बहादुरशाह ने दूसरी बार आक्रमण किया था । यह युद्ध चित्तौड़ का दूसरा साका नाम से प्रसिद्ध है । इस लड़ाई में कई हजार राजपूत मारे गए और बहुत-सी स्त्रियों ने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए रानी कर्मवती के साथ जौहर कर अपने प्राणों की आहुति दे दी थी[2] । ख्यातों आदि में ३२००० राजपूतों का लड़ाई में और १३००० स्त्रियों का जौहर में प्राण देना लिखा है[3] । यदि मीरां भी वहां रही होतीं तो अपनी सास कर्मवती के साथ जौहर में अवश्य ही समाप्त हो गई होतीं, क्योंकि उस समय चित्तौड़ दुर्ग में राज-परिवार की स्त्रियां बची ही नहीं थीं, जिनका तरुणी मीरां का बचना तो असंभव था । अतः उनका चित्तौड़ दुर्ग त्याग कर मेड़ता आने का समय संवत्१५९१ के पूर्व ही ठहरता है । इसके अतिरिक्त डा० ग्राहम बार्न ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ में

---

१ मोतीलाल मेनारिया : 'राजस्थान का पिंगल साहित्य का इतिहास', पृ०७५।

२ वीर-विनोद, भाग२, पृ०३१।

३ ओझा : 'उदयपुर राज्य का इतिहास', पृ०३९५ (फुटनोट)

४ हिन्दी साहित्य का प्रथम का इतिहास, पृ०७४

सं० १५८१[1] में मीरां के गृह-त्याग का उल्लेख किया है । इस मत का समर्थन किशोरीलाल गुप्त ने अपने ग्रन्थ में किया है ।

अतएव इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मीरांबाई के मेवाड़ से मेड़ता जाने की अनेक विद्वानों ने पुष्टि की है, किन्तु उनके मतों में काल का थोड़ा-सा अन्तर है । अतः इससे यह ध्वनित होता है कि मीरांबाई लगभग सम्वत् १५९०-९१ के मध्य गई होंगी । राजस्थान के प्रकांड विद्वान् श्री नरोत्तम स्वामी ने यह उल्लेख किया है कि मीरांबाई का मेवाड़ त्याग मेवाड़ के लिए अशुभ हुआ[2] ।

<u>मेड़ता-त्याग</u>

आपत्तियों ने जैसे मीरांबाई का घर देख लिया था । चित्तौड़(मेवाड़) से मेड़ता आने के पश्चात् मेड़ता पर भी आपत्तियां आईं और उन्हें विवश होकर मेड़ता भी छोड़ना पड़ा । वे तीर्थयात्रा को निकल पड़ीं । सं० १५९५ में जोधपुर-नरेश राव मालदेव ने अपने पुराने (सं०१५८८) द्वेष से वशीभूत होकर वीरमदेव पर आक्रमण कर मेड़ता राज्य अपने अधिकार में कर लिया[3] । इसकी पुष्टि डा० रामकुमार वर्मा जी ने भी अपने ग्रन्थ में की है[4] । इन विपत्तियों के आघातों ने मीरां को उदास कर दिया । उनके हृदय में वैराग्य का अंकुर फूट निकला । तत्पश्चात् मीरांबाई

---

१ 'सरोज सर्वेक्षण', पृ०५५५

२ 'मीरा मन्दाकिनी', पृ० ८

३ 'द हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ०५६८ ।

४ ,, ,, ,,

ने तीर्थ-यात्रा के लिए प्रस्थान किया । इसकी पुष्टि अनेक विद्वानों ने भी की है, जिनमें पं० परशुराम चतुर्वेदी, डा० रामकुमार वर्मा, रामशंकर शुक्ल "रसाल" आदि हैं ।

मीरां-स्मृति-ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है— "किन्तु दुर्भाग्य से वहां भी (मेड़ता) वातावरण शान्त न था । जब से जोधपुर के राजा मालदेव ने वीरमदेव से मेड़ता छीना तब से दोनों घरानों में वैमनस्य बढ़ता गया और मेड़ता, मारवाड़, मेवाड़ तथा देहली राजनैतिक षड्यन्त्र के केन्द्र बन गए । बाहरी वातावरण जितना ही प्रतिकूल होता गया, उतना ही भगवान की शरण का आकर्षण बढ़ता गया । अतएव वे तीर्थाटन का निश्चय कर के घर से निकल पड़ीं ।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि मीरां ने मेड़ता भी छोड़ दिया था । अनन्यनिष्ठ भक्ति को ही अपने सम्पूर्ण जीवन का उद्देश्य समझ कर वे तीर्थ-यात्रा करने निकल पड़ी थीं ।

<u>तीर्थ-यात्राएं</u>

मीरांबाई ने अपने जीवन-काल में अनेक तीर्थ यात्राएं भी कीं । इन तीर्थ-यात्राओं का उनपर बहुत प्रभाव पड़ा और कृष्ण-भक्ति से वहं सम्बन्धित अन्य अनेक प्रकार के लाभ भी उन्हें प्राप्त हुए ।

मीरांबाई ने तीर्थ-यात्राएं क्यों प्रारम्भ कीं, इस विषय में दो ही कथित प्राप्त होते हैं—[2]

(अ) मीरां ने प्रतिकूल राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर तीर्थ-यात्राएं आरम्भ कीं ।

(ब) मीरां ने तीर्थ-यात्रा करने के उद्देश्य से ही तीर्थ-यात्राएं प्रारम्भ कीं ।

पं० परशुराम चतुर्वेदी ने राजनैतिक परिस्थितियों पर अधिक बल दिया है[3]।

---

1 'मीरां स्मृति ग्रन्थ' (भूमिका)

2 प्रो० नारायण शर्मा : 'मीरां की प्रणय कथा और जीवनी', पृ० ११६

दूसरे मत के सम्बन्ध में पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' की यह धारणा है कि मीरांबाई ने अपना आचार-व्यवहार सर्वथा विरक्त साधुओं का-सा बना लिया था और कृष्ण-भक्ति में लीन होकर तीर्थ-यात्रा करने लगीं[1]।

यह तो प्रायः स्पष्ट ही है कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन की परिस्थितियों से प्रभावित होता है। मीरांबाई ने तीर्थ यात्राएं भगवद्-भक्ति की स्वाभाविक प्रेरणा से प्रेरित होकर प्रारम्भ कीं और उनका उद्देश्य राजनैतिक उथल-पुथल की चिन्ता न होकर मात्र तीर्थ यात्रा करना ही था, किन्तु राजनैतिक परिस्थितियों का इस प्रकार के वातावरण-निर्माण में अपेक्षित सहयोग भी कुछ हद तक स्वीकार करना ही पड़ेगा।

वृन्दावन-यात्रा

मेड़ता से[2] तीर्थ-पर्यटन, भजन-सत्संग आदि करती हुई मीरां वृन्दावनधाम में पहुंची। वहां कृष्ण-भक्ति साधना के अनेक सम्प्रदाय यथा गौड़ीय, वल्लभीय, हरिदासी आदि कृष्णोपासना में रत थे। सम्पूर्ण वातावरण ही कृष्ण-भक्ति भाव-धारा से अभिसिंचित था। व्रज-भूमि के दर्शन से उन्हें अपार आनन्द प्राप्त हुआ। मीरांबाई ने आतुरता के साथ समस्त

---

१ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ०३११

२ 'स्वामी आनन्द स्वरूप : 'मीरा सुधा सिन्धु', पृ०५३।

कृष्ण-भक्त आचार्यों का दर्शन किया और कृष्ण-भक्ति के साक्षात् स्वरूप को आत्मसात् कर लिया ।

वृन्दावन में मीरांबाई के साथ कुछ महत्वपूर्ण घटनाएं भी घटित हुई थीं, जो इस प्रकार हैं-- मीरांबाई ने सुना कि यहां श्री चैतन्य महा प्रभु के शिष्य श्री रूप और सनातन गोस्वामी जी के भतीजे श्री जीवगोस्वामी रहते हैं जो बड़े ही धुरन्धर पण्डित और ज्ञानी हैं । यह सुनकर मीरांबाई सर्वप्रथम कदाचित् उन्हीं के दर्शन को गईं, परन्तु गोस्वामी जी ने पहले उनसे मिलना स्वीकार नहीं किया । उनके शिष्य ने बाहर आकर कहा --"आपको गोस्वामी जी के दर्शन नहीं हो सकेंगे[1], क्योंकि स्वामी जी महाराज कभी प्रकृति रूप स्त्री मात्र का मुख नहीं देखते ।" यह सुनकर कुछ मुस्कराहट से मीरां ने निर्भीकता से उस शिष्य से कहा-- "मैं तो समझती थी कि व्रज में वासुदेव कृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं और शेष सब गोपिकाएं हैं । परन्तु आश्चर्य है कि आज दूसरे भी कोई उनके पट्टीदार पुरुष प्रकट हुए हैं, जो इस व्रज में स्त्री का मुंह नहीं देखना चाहते । ठीक है-- गोस्वामी जी पुरुष हैं तो मैं भी दूसरे पुरुष से मिलना नहीं चाहती... इत्यादि ।"[2]

मीरांबाई की इन बातों को सुनकर गोस्वामी जी अत्यंत प्रभावित हुए और स्वयं प्रेमावेश में नंगे पैर बाहर आकर उनसे मिले । गोस्वामी जी का सत्संग करने के पश्चात् मीरांबाई ने वृन्दावन के प्रसिद्ध कृष्णलीला संबंधी स्थानों के भी दर्शन किए[3] ।

---

१ मीरा-सुधा सिन्धु, पृ० [illegible]

२ वही

३ (अनुवादक-) डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० २१६

द्वारिका-यात्रा एवं मुक्ति

वृन्दावन-यात्रा के पश्चात् मीरांबाई सम्भवत: सं०१५९९ में द्वारिका चली गई[1] और वहां श्री भगवान कृष्ण की भक्ति में तल्लीन रहने लगीं[2]।

कुछ वर्षों बाद चित्तौड़ और मेड़ते में पुन: श्री वैभव की वृद्धि हो गई। वहां से मीरां को बुलाने के लिए अनेक दूत भेजे गए। चित्तौड़ से आए कुछ ब्राह्मणों ने मीरांबाई के सम्मुख सत्याग्रह भी कर दिया। उन्होंने कहा — "जब तक आप चित्तौड़ न लौट चलेंगी हम लोग अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगे।" मीरांबाई ने हार मानकर चलना स्वीकार कर लिया, परन्तु रणछोड़ जी से मिलने के लिए जब वे मन्दिर में आईं तो वहां विरह के आवेश में मीरां प्रभु में लीन हो गईं[3]। सभी विद्वान् इस घटना को सर्वसम्मति से स्वीकार करते हैं।

नरोत्तम स्वामी ने अपने ग्रन्थ में यह भी उल्लेख किया है कि जोधपुर के एक भाट के अनुसार उनका देहान्त सं०१६०३ में हुआ था। किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उदयपुर दरबार की सम्मति से इस घटना का काल सं० १६२० और १६३० के बीच निश्चित किया है। डा० रामपूर्ति त्रिपाठी ने भी मीरां का अवसान काल सं० १६३० माना है। किन्तु अधिकांश विद्वानों का मत यही है कि मीरांबाई सं०१६०३ में[4] द्वारिका में हो परलोक सिधारी[5] थीं। इस मत के[6] समर्थकों में [illegible] ग्रियर्सन, डा० किशोरीलाल गुप्त और रामचन्द्र शुक्ल आदि प्रमुख हैं। अतएव इसी मत को स्वीकार करना समीचीन होगा।

---

१ पं० परशुराम चतुर्वेदी : "मीरांबाई की पदावली", पृ०२४।

२ नरोत्तमस्वामी : "मीरा मन्दाकिनी", प्रस्तावना, पृ०८

३ डा० रामकुमार वर्मा : "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास", पृ०५८०

४ "हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास", पृ०४०४

५ "[illegible]", [illegible], पृ०[illegible]

६ "हिन्दी के साहित्य का इतिहास", पृ०[illegible]

(ग) तुलनात्मक विवेचन

दक्षिण भारत की सुप्रसिद्ध भक्त कवयित्री अक्क महादेवी तथा उत्तर भारत की महान कवयित्री मीरांबाई के जीवन में कुछ ऐसे अपूर्व सामंजस्य के दर्शन होते हैं, जो भारतीय संस्कृति की एकरूपता में सहायक सिद्ध होते हैं। वस्तुत: दोनों के जीवन-दर्शन में कुछ ऐसे भाव-तत्त्व सन्निहित हैं, जिनसे भारतीय जन-मानस को अजस्र प्रेरणा प्राप्त होती है। अब हम उनकी जीवन सम्बन्धी समानताओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

अक्क महादेवी पार्वती का सात्विक अंश मानी जाती हैं और मीरांबाई ललिता नामक गोपी की अवतार मानी जाती हैं। फलत: दोनों भक्त कवयित्रियों में आध्यात्मिक दिव्य ज्योति के दिग्दर्शन होते हैं। दोनों कवयित्रियों में पूर्व जन्म के सात्विक संस्कार की सजीव झांकी दृष्टिगोचर होती है।

दोनों कवयित्रियां अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान थीं। दोनों भक्त-कवियित्रियों का पारिवारिक जीवन भक्ति-भाव से ओत-प्रोत था। दोनों कवयित्रियां बालन के प्रभातकाल से ही पूर्व जन्म के संस्कार एवं पारिवारिक भक्ति-भावना के संयोग से ईश्वर-प्रेम में निमग्न दिखाई पड़ती हैं।

दोनों जन्मजात अत्यन्त रूपवती थीं। सदाचार एवं आचरण की पवित्रता के कारण उनका सौन्दर्य और भी दिव्य हो उठा था। दोनों का उद्देश्य भगवत्प्राप्ति था, अत: जीवन के अत्यन्त अल्प वय में ही भक्ति-साधना की ओर लीन होना स्वाभाविक था। दोनों ने अपने हृदय की भक्ति-भावना को काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

दोनों कवयित्रियों का उद्देश्य कवित्व-प्रदर्शन नहीं था, बल्कि हृदय की सात्विक एवं अनुभूतिजन्य भावनाओं को सीधे-सादे शब्दों के माध्यम से काव्य के सहारे व्यक्त कर जन-मानस को प्रभावित करना था।

दोनों कवयित्रियों की भक्ति-साधना में अनेक अवरोध उत्पन्न हुए एवं बाधाएं उपस्थित की गईं, किन्तु भक्ति-साधना के मार्ग से वे न तो विचलित

ही हुई और न उदासीन ही । दोनों में अपार धैर्य एवं अटल भक्ति-भावना विद्यमान है ।

दोनों कवयित्रियां प्रारम्भिक अवस्था से ही सांसारिक माया-जाल से विरक्त रहकर अलौकिक पति की आराधना में जीवनपर्यन्त साधना-रत रहती हैं । दोनों कवयित्रियां गुरु की महत्ता स्वीकार करती हैं । बिना गुरु-ज्ञान के जीवन-साधना सफल नहीं हो सकती, ऐसा दोनों भक्त-कवयित्रियों का विश्वास था ।

दोनों कवयित्रियों ने सत्संग-महिमा का व मुक्तकण्ठ से वर्णन किया है और स्वयं तीर्थस्थानों का भ्रमण करते समय अनेक साधु-संतों का सत्संग -लाभ किया था । उनके सत्संग का तत्कालीन सुप्रसिद्ध महात्माओं पर भी अमिट प्रभाव पड़ा था ।

दोनों भक्त-कवयित्रियों पर भारतीय संस्कृति की अमिट छाप है । जिस प्रकार दोनों भक्त-कवयित्रियों के पूर्व जन्म के संस्कार एक जैसे थे, उसी प्रकार एक जैसा अन्त भी हुआ है । अक्क महादेवी ने भी शैल के कदली-वन में अपने इष्टदेव का साक्षात्कार किया था और मीरांबाई ने द्वारिकापुरी में ।

यद्यपि अक्क महादेवी और मीरांबाई के जीवन में पर्याप्त समानताएं मिलती हैं तथापि कुछ विभिन्नताएं भी हैं,जिनपर विचार करना आवश्यक है । अक्क महादेवी एक साधारण भक्त-परिवार में उत्पन्न हुई थीं, जब कि मीरांबाई राज-परिवार में ।

अक्क महादेवी को अपने माता-पिता का लाड-प्यार मिला था, किन्तु मीरांबाई को अल्पवय में ही माता-पिता के प्यार से वंचित होना पड़ा था । मीरां का लालन-पालन उनके पितामह राव दूदा जी ने अपने घर पर किया था ।

अक्क महादेवी वीरशैव धर्मावलम्बिनी थीं, जब कि मीरांबाई वैष्णव धर्मावलम्बिनी । अक्क महादेवी अविवाहिता थीं, किन्तु मीरांबाई विवाहिता थीं ।

मीरां को जीवन में पारिवारिक कष्ट विशेषरूप से मिला । अक्क महादेवी के जीवन में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता । इसका मुख्य कारण यह था कि मीरां के परिवार वालों को लोक-लाज का भय था, किन्तु मीरां साधु-सत्संग तथा मंदिरों में तन्मय होकर नाच-गान सभी कुछ करती थीं । अक्क महादेवी जी का जीवन कुछ भिन्न प्रकार था । अक्क महादेवी मीरां की भांति तन्मय होकर नाचती तो नहीं थी, किन्तु उन्होंने दिगम्बर रूप धारण कर लिया था ।

अक्क महादेवी मात्र २२ वर्ष की अवस्था तक ही जीवित रहीं जब कि मीरांबाई का जीवन-काल अपेक्षाकृत द्विगुणित रहा ।

अक्क महादेवी के आराध्य देव चेन्नमल्लिकार्जुन थे, किन्तु मीरांबाई के आराध्य श्रीकृष्ण जी हैं ।

अक्क महादेवी ने अपने वचनामृत से दक्षिण भारत के ज्ञान-पिपासुओं को तृप्त किया और मीरांबाई ने अपनी प्रेम-धारा से विशेषतः भारत के उत्तरांचल को परिप्लावित किया है ।

अक्क महादेवी में ज्ञान की मात्रा अधिक है । ज्ञान होने से वे ईश्वर - प्रेम की ओर आकृष्ट हुईं, किन्तु मीरांबाई में प्रेम की मात्रा इतनी अधिक है और वे प्रेम में इतनी मग्न हो जाती हैं कि जगत की हर वस्तु उनके प्रेम के समक्ष गौण हो जाती है, किन्तु उन्हें प्रेम से ही ज्ञान प्राप्त होता है ।

मीरांबाई के जीवन से सम्बन्धित अनेक अलौकिक घटनाएं प्रसिद्ध हैं, किन्तु अक्क महादेवी के जीवन में इस प्रकार की घटनाओं का अभाव है । इसका यह मतलब नहीं कि अक्क महादेवी में वह अलौकिक शक्ति नहीं थी, जो मीरां में पाई जाती है बल्कि अक्क महादेवी का वैराग्य, ज्ञान तथा दर्शन मीरां की अपेक्षा अधिक कठोर भाव-भूमि पर स्थित था । अक्क महादेवी ज्ञानयुक्त थीं ।

अध्याय—४

अक्क महादेवी तथा मीरांबाई की रचनाएं

(क) अक्क महादेवी की रचनाएं

(ख) मीरां बाई की रचनाएं

अध्याय--५

अक्क महादेवी तथा मीराँबाई की रचनाएं

कृतित्व एवं व्यक्तित्व का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। कृतित्व में व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब स्पष्ट परिलक्षित होता है। अक्क महादेवी और मीराँबाई भारतीय भक्ति-परम्परा की सजीव प्रतिमा बनकर आज भी भारतीय जन-मानस में श्रद्धा भाव से प्रतिष्ठित हैं। यद्यपि उनकी रचनाएं बहुत कम प्राप्त हुई हैं, किन्तु उनके विचार इतने ऊंचे और सीधे हैं और उनमें इतना जीवन-रस भरा हुआ है कि उनके वचनों के समक्ष अन्य आकर्षक वस्तुएं फीकी जान पड़ती हैं। यहां पर दोनों ही भक्त-कवयित्रियों की रचनाओं का उल्लेख किया जा रहा है--

(क) अक्क महादेवी की रचनाएं

अक्क महादेवी की रचनाओं के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत हैं। उनके साहित्य-ग्रन्थों की गणना करते समय प्रायः परम्परा का ही आश्रय ग्रहण किया जाता रहा है। परवर्तीकाल में उनके वचनों का संग्रह करके उन्हें उचित रूप प्रदान की गई है और इस प्रकार उनके अब तक तीन ग्रन्थ वचनगलु, योगांग त्रिविधी और सृष्टिय वचन प्रकाशित हुए हैं। व इन ग्रन्थों को प्रायः सभी विद्वानों ने प्रामाणिक माना है।[1] उनकी इन रचनाओं का उल्लेख प्रख्यात विद्वान आर० नरसिंहाचार्य ने अपने ग्रन्थ कर्नाटक कवि चरिते

---

१. कर्नाटक कवि चरिते (१९६१ई०), प्रथम सम्पुट, पृ०१८८ ।

सिंह काडि हिडिदु तंद कुंजर

तन्न विंध्यव नेनेवंते नेनेवेनय्या ।

बंधनके बंद गिळि

तन्न बंधुव नेनेवंते नेनेवे नय्या ।

कंदा नीनित्त बा एंदु

नीऊ निम्मंदव तोरय्या,

चेन्न मल्लिकार्जुन।।[१]

अर्थात् जैसे समूह से बिछुड़ कर बंधन में पड़ा हाथी अपने निवास स्थान विंध्यपर्वत का स्मरण करता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारा स्मरण करूँगी । जैसे बन्धन में पड़ा तोता अपने बंधुओं का स्मरण करता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारा स्मरण करूँगी । और हे चेन्न मल्लिकार्जुन ! तुम मुझे "ओ शिशु ! यहाँ आओ" कहकर बुला लोगे । इस वचन में सहज उपमाओं द्वारा कवयित्री का भावुक हृदय उन्मुक्त रूप से भक्ति-प्रवणता को व्यक्त कर रहा है । उसी प्रकार का दूसरा वचन भी द्रष्टव्य है—

तेरणिय हुळु तन्न स्नेह दिंद मनेय माडि,

तन्न हुळु तन्नने सुत्ति सावंते

मन बंदुदनु बयसि बेंदुहोगुत्तिद्देनय्या ।

एन्न मनद दुराशेय माणिसि

निम्मत्त तोरा चेन्न मल्लिकार्जुन।।[२]

---

१ रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर : "वचनशास्त्र रहस्य", वचन ८०३, पृ०४२ ।

२ संग्रहकार- श्री प्रभुस्वामी : "[illegible] विरचित वचन-भागित रत्नमाले" —(श्री [illegible] शिवलीलाधर ग्रन्थमाला—4) वचन [illegible] ।

इसी प्रकार एक दूसरे वचन में उन्होंने दैन्य भाव और अटूट निष्ठा वर्णित की है--

तनु शुद्ध वायितु शिव भक्तर शेषव कोंडेन्न ।
मन शुद्ध वायितु असंख्यातर नेनेदेन्न,
कंगळु शुद्ध वायितु सकल गणंगळ नोडिदेन्न
कीवि शुद्ध वायितु अवर कीर्तिय केळि एन्न ।
भावने एनगिदु जीवनमुक्त केळा लिंग तंदे ।
मेट्टुवे निम्मन श्रीपादव
भव गेद्दु कायवा चेन्न मल्लिकार्जुना[1] ।

अर्थात् -- शिव-भक्तों द्वारा ग्रहण भोजन से बचे हुए अंश को प्रसाद रूप में सेवन करने से मेरा शरीर शुद्ध हुआ है । असंख्य संतों के स्मरण करते रहने से मन शुद्ध हुआ है ।शिव-भक्तों के दर्शन से मेरे नेत्र शुद्ध हुए हैं । उनकी कीर्ति का श्रवण करने से मेरे कर्ण-युगल शुद्ध हुए हैं ।हे लिंग-पिता! ऐसी ही भावनाओं से मेरा हृदय सर्वदा परिपूर्ण रहे । हे चेन्नमल्लिकार्जुन! श्रद्धापूर्वक आपकी उपासना करके मैंने भव-सागर को पार कर लिया है ।

उपर्युक्त वचन में संतों की कृपा से तन-मन के शुद्ध एवं सात्विक होने का भाव परिलक्षित होता है । चेन्नमल्लिकार्जुन की उपासना करके वे संसार के बन्धनों से मुक्त हो गई हैं ।

<u>प्राणलिंगि स्थल</u>

अहंभाव रूप भाव का त्याग एवं उन्हें लिंगस्वरूपता ही प्राणलिंगि स्थल का लक्षण है[2] ।

---

१ प्रो० शिवलिंग मुख्तुर मठ, लखनऊ : "शून्य संपादने पराम्बर्श", प्रथम सं०, १९६५, पृ० ३११

२ पण्डित मल्लिक शास्त्री : "षट्स्थल ज्ञान दर्पण", १९५७, पृ० ३८ ।

जिस प्रकार मिश्री के टुकड़े को किसी भी कोने से खाने में मिठास की ही अनुभूति होती है, उसी प्रकार अक्क महादेवी के किसी भी पद का रसास्वादन करने पर अध्यात्म का बोध होता है और जीवन सरसता से अभिभूत हो जाता है ।

"माघ मासक पोगी मेरी बंधिदु चैत्र
चैत मास मरनु चिगुरितु । अदं[1] कंडु
कूगि करेयितु कोगिले ।"

अर्थात् -- माघ मास समाप्त होने के पश्चात् फाल्गुन और चैत्र का आगमन हुआ । तब सभी वृक्षों में नए पत्ते निकले । उन पत्तों को देखकर कोयल ने पुकारा ।

"हरनर मैं गद्दनु वसिसे अणिमकु
हरि अज सुरारि गम्हलो । मैं[2] नु
औरैसु अमर कृपे यिंद ।"

अर्थात्— सन्तों की योग्यता अपार है । विष्णु, ब्रह्मा, देवताओं के लिए भी जो अलभ्य हैं, उन्हें संतों की कृपा से मैंने पान किया ।

इस त्रिपदि में इनकी विद्वत्ता प्रस्फुटित हुई है । इनकी तत्त्व-संग्रह-शक्ति तथा गुरु-भक्ति का यहाँ विशेषरूप से उल्लेख किया गया है। सामान्यतया अनुभावकार बोनांग त्रिपदि अक्क महादेवी के अनुपम सम्पत्ति (आध्यात्मिक सम्पत्ति) को उसके अपने साहित्यिक रूप प्रदान करने की दृष्टि से उत्कृष्ट कृति है ।

---

१ [illegible] साहित्य-संपुट [illegible]-१(१९७०) - अक्क महादेवीय बोनांग त्रिपदिगे पृ १३४

२ डॉ० आर० सी० हिरेमठ: महादेवीयक्कन वचनगळु, पद ४, पृ० ९५-

सृष्टि वचन

सृष्टि-शून्य से ही उत्पन्न हुई है । यह षट्स्थल शास्त्र का मूल सिद्धान्त है । इसका विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ में परिलक्षित हुआ है । इसमें भक्ति के साथ प्रधान रूप से ज्ञान एवं विरक्ति भी स्पष्टतः आभासित होती है ।

प्रमुखरूप से बीज वृक्ष न्याय के समान जीव एवं परमात्मा में तादात्म्य सम्बन्ध होने का भाव है । जीव में वृक्ष होने की शक्ति समाहित है, जैसे कि बीज में वृक्ष बनने की शक्ति समाहित है ।

जीव-भावको त्याग कर शिव-भाव में परिवर्तन होने का विधि-विधान अक्क महादेवी के सृष्टि वचन में निरूपित हुआ है —

आदि अनादि नित्या नित्य[1] तिळि यद रिसदे
नामक्के पर ब्रह्मव अरिय बाड प्राणिगळु वेद बल्लरो
आ पर ब्रह्मद निजद निलव ?

अर्थात — आदि अनादि पदों एवं नित्य अनित्यों का अर्थ समझने के लिए नाममात्र के लिए कहने वाले यह झूठे प्राणी ब्रह्म के सत्य स्वरूप को नहीं जानते ।

'आदिये देह अनादिये निर्देह,
आदि ये सकळ अनादिये निष्कळ
आदिये चक्षु अनादिये अचक्षु,
आदिये काय अनादिये प्राण'[2]

अर्थात् — आदि ही शरीर है अनादि ही निर्देह है, आदि ही सकळ है अनादि ही निष्कळ है, आदि ही चक्षु है अनादि ही अचक्षु है, आदि ही शरीर है अनादि ही प्राण है ।

---

१ शरण साहित्य संपुट १, पृ० १, 'महादेवी अक्कन सृष्टि वचन'
२ वही

इसका अर्थ है-न्य मल्लिकार्जुनय्या। आपके संत लोग ही जानें कहकर वचन को पूर्ण करती हैं। इस सृष्टिमय वचन के विवेचन करके देखने पर अक्क महादेवी के अपार पाण्डित्य का प्रदर्शन होता है।

इस सृष्टिमय वचन को वीरशैव पवित्र मानते हैं। इसी कारण गुरु के शिष्य को कांम अधिकार देते समय प्रकृति वचन के साथ मिलाकर इसको अर्पित करते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि इनके सृष्टिमय वचन को बहुत गौरवमय स्थान प्राप्त है।

अतएव आध्यात्मिक ग्रन्थों में जो बहुत सिद्धान्त के रूप में व्यक्त हुए हैं, उनको महादेवी जी ने एक छोटे से वचन में माधुर्य के साथ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि पढ़ते ही आध्यात्मिक भाव भक्त के मानस को अभिभूत कर देता है।

भक्त-कवयित्री होते हुए भी महादेवी के वचन-साहित्य में इतनी विलक्षणता है कि उनका साम्प्रदायिक स्वरूप अत्यन्त गुप्त हो जाता है और काव्य का तत्व इतना प्रखर हो जाता है कि सर्व सामान्य को अपने प्रवाह में बहा ले जाने की क्षमता रखता है। भक्ति साहित्य की मान्यताओं से अनभिज्ञ पाठक भी इनके काव्य-रस का सहज ही आस्वादन कर सकता है। मुक्तक काव्य हेतु जिन विशिष्ट अभिव्यक्तियों और अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान है, वे इनके काव्य में सहज ही सन्निविष्ट हो गए हैं और जन-सामान्य का प्रचलित उपमानों एवं कवि-रूढ़ियों के माध्यम से उन्होंने अपने कथ्य को अत्यन्त सजीव, मार्मिक, प्रखर एवं सरस बना दिया है, जिससे पाठक के मन पर अमिट प्रभाव सहज ही अंकित हो जाता है। इनमें भक्त एवं कवि-व्यक्तित्वों का जो विलक्षण मणि-कांचन संयोग था, उससे न केवल तत्कालीन चिन्तन-धारा ही प्रभावित हुई, वरन् प्रकाश स्तम्भ की भांति अपने परवर्ती साधिकाओं एवं विचारकों का भी पथ प्रशस्त किया और इसी कारण उन्होंने कन्नड़ साहित्य के सुदीर्घ इतिहासकारों की श्रेणी में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है।

(ख) मीरांबाई की रचनाएं

समस्या और दृष्टिकोण

जब हम सुप्रसिद्ध भक्त-कवयित्री मीरां की रचनाओं के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तब अत्यन्त आश्चर्यजनक एवं भ्रममूलक स्थिति उपस्थित हो जाती है और यह कहना कठिन हो जाता है कि वस्तुत: उनकी कौन-कौन सी रचनाएं हैं । इतना ही नहीं, यदि हम इस दुर्बोध्य स्थिति को पार करके कोई अन्तिम निर्णय उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में कर भी लेते हैं, तो उसके पश्चात् और भी जटिल समस्या हमारे सामने आ उपस्थित होती है कि अमुक ग्रन्थ में मीरां का वास्तविक योगदान कितना है और कितना क्षेपक अंश है । मीरां-साहित्य का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने पर यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि प्राय: सभी चिन्तक असमंजसपूर्ण स्थिति में हैं और अन्तिम तथा सुनिश्चित निर्णय देने में कतरा रहे हैं । यह स्थिति देश और साहित्य के लिए चिन्ता और निराशाजनक है । भारत जैसे साहित्य-प्रिय एवं शक्तिशाली देश में मीरां जैसी आत्मविभोर, जन-मानस में रमण करने वाली कवयित्री की इस संदिग्धपूर्ण स्थिति से आश्चर्य भी होता है और दु:ख भी । हमें उनके सम्बन्ध में पूर्ण निश्चित जानकारी होनी चाहिए, अन्यथा हिन्दी-साहित्य जगत में यह भ्रम कब तक व्याप्त रहेगा ।

मीरांबाई की रचनाओं के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मतों को छोड़ कर एक सर्वमान्य सिद्धांत की प्रतिष्ठा करना चाहूंगा । अब तक मीरां की निम्नलिखित रचनाओं के कुछ विवरण संक्षिप्त रूप में इस प्रकार हैं—

१- नरसी जी का माहेरो

माहेरो का अर्थ है भात देना । इसे "नरसी जी का मायरा" या "नरसी जी रो माहेरो" भी कहा जाता है । इस ग्रन्थ को डा० मोतीलाल

"गीत गोविन्द" की टीका लिखने का प्रमाण मिलता है[1]। सम्भवत: मीरां को राणा कुंभा की पत्नी मानने के कारण ऐसी असंगत धारणा फैली। वस्तुत: मीरां की विद्वता इतनी नहीं थी कि इसका अनुवाद कर सकें।

३ राग गोविन्द

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, शिवसिंह सेंगर तथा ग्रियर्सन आदि विद्वानों ने प्रस्तुत ग्रन्थ को मीरां की रचना माना है। इसी आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसे मीरां की रचना मान लिया है,[2] किन्तु यह भी मीरां के पदों का संग्रह ही प्रतीत होता है। इसे मीरां की स्वतन्त्र पुस्तक नहीं माना जा सकता।

४ सोरठ के पद

यह कृति भी स्वतन्त्र रचना न होकर संकलनमात्र है। इसमें ५ पृष्ठों में मीरां के पद दिए गए हैं[3]। मीरां ने राग सोरठ में अनेक पदों की रचना की है, किन्तु इस राग पर स्वतन्त्र पुस्तकाकार पुस्तक लिखा जाना असंगत प्रतीत होता है। सम्भव है, किसी भक्त ने बाद में उनके सोरठ छन्द के पदों का संग्रह इस नाम से तैयार करा लिया हो। इस कृति में मीरां के अतिरिक्त

---

१ डा० सा० सुन्दरम् : 'मीरा और आण्डाल का तुलनात्मक अध्ययन', पृ०७७

२ रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ०१८५

३ डा० सा० सुन्दरम् : 'आण्डाल और मीरा तुलनात्मक अध्ययन', पृ०७१

नामदेव और कबीर के भी राग सोरठ के पद संगृहीत हैं[1]। अत: इसे भी मीरां की स्वतन्त्र रचना नहीं माना जा सकता ।

मीरांबाई का मलार

मलार एक राग-विशेष है, जो ग्रामीण जीवन में विशेषरूप से प्रचलित है । इस ग्रन्थ की कोई भी प्रति अभी तक नहीं मिल सकी है । महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इसके मीरांकृत होने का उल्लेख किया है । अन्य विद्वानों ने इसे मीरा की स्वतन्त्र रचना न मानकर मीरां के मलार राग में लिखे गए पदों का संग्रह मात्र माना है ।

६ गर्बागीत

इस रचना का उल्लेख श्रीकृष्णलाल मोहनलाल झावेरी ने किया था । गुजरात में गर्बागीतों का बहुत अधिक प्रचलन है । गर्बा गीत रास मंडली के गीत की भांति गाए जाते हैं । मीरां के ऐसे गीतों को 'मीरां नी गरबी' कहा जाता है, किन्तु इनकी प्रामाणिकता में भी सन्देह किया जाता है[2] । इन गीतों की रचना पर आधुनिकता का प्रभाव है और भाषा का रूप भी आधुनिक है । अत: इसे मीरा की रचना कहना अन्याय ही है ।

फुटकर पद (मीरांबाई के पद)

सर्व सम्मति से मीरांबाई के पद ही उनकी प्रामाणिक रचनाएं मानी जाती हैं । हां, इनकी संख्या के सम्बन्ध में अवश्य विद्वानों में

---

१ परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरांबाई की पदावली', पृ० ३० ।

२ ,, ,, ,,

मतभेद है,क्योंकि मीरा की आत्म-समर्पण-भावना जहां सरस हृदय को आकृष्ट करती है,वहां दूसरी ओर उनके प्रामाणिक पदों के चयन में अनेक उलझनें उपस्थित होती हैं । वस्तुत: मीरा भारतीय जन-मानस में इतना व्याप्त हो चुकी हैं कि उनके पद भारत की अनेक भाषाओं में प्राप्त होते हैं और विशेषता यह है कि प्रत्येक भाषा-भाषी उनकी प्रामाणिकता का दावा करते हैं ।

मीरा द्वारा लिखित पुस्तकों के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं और उचित गवेषणा के अभावमें इस विषय पर अधिकारपूर्वक कुछ कहा भी नहीं जा सकता,फिर भी सर्वसामान्यरूप में मीरा के पदों को उनकी प्रामाणिक रचना स्वीकार किया गया है । मीरांबाई के नाम से प्रचलित इन पदों की संख्या २५ से लेकर ५०० तक पहुंचती है । श्री परशुराम चतुर्वेदी ने समस्त उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह निश्चित किया है कि मीरां द्वारा रचित कुल २०२ पद ही प्रामाणिक हैं । श्री चतुर्वेदी जी का यह कथन प्राय: अब अधिकांश लोग मानने लगे हैं कि " इसमें सन्देह नहीं कि इन फुटकर पदों के अन्तर्गत मीरांबाई निर्मित समझी जाने वाली अन्य रचनाएं पूर्णत: या अंशत: अवश्य सम्मिलित हैं ।"

भारतीय गीति-परम्परा में मीरा की पदावली एक विशिष्ट स्थिति की सूचक है । हिन्दी की काव्य-परम्परा में मीरा के स्वरों का उद्घोष एक सर्वथा नूतन चेतना का द्योतक है । उनके पदों में अनन्य आत्म-समर्पण सर्वत्र मुखरित हुआ है । उन्हें जीवन में अनेक प्रकार की मानसीय यातनाओं एवं कुत्सित लोक-निन्दा का भी सामना करना पड़ा है । जीवन के इन संघर्षों के चित्र भी इन पदों में वर्णित हैं । मीरा एक विद्रोहिणी नारी के रूप में अपने कुल,परिवार,समाज और देश की कृत्रिम दीवारों और

अन्ध विश्वासों के बन्धनों को तोड़कर अपने पवित्र हृदय के दिव्य-प्रेम की घोषणा स्पष्ट शब्दों में करती हैं । भक्ति-क्षेत्र में उन्होंने सगुण और निर्गुण भक्ति तथा श्रद्धा और प्रेम के अन्तर की खाइयों को पाटते हुए माधुर्य भाव की धारा प्रवाहित की है ।

--o--

अध्याय -- ५

अक्क महादेवी और मीरांबाई : दर्शन, अनुभूति और अभिव्यक्ति

(क) अक्कमहादेवी : दर्शन, अनुभूति और अभिव्यक्ति

(ख) मीरांबाई : दर्शन, अनुभूति और अभिव्यक्ति

(ग) तुलनात्मक विवेचन

शरणों के वचनों,[1] नीलकंठ, श्रीकंठ एवं श्रीकर आदि भाष्यों से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

कन्नड़ वचन-साहित्य के महान अन्वेषक फ०गु०हळकट्टि द्वारा सम्पादित 'वचनशास्त्र सार' द्वितीय भाग से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि वीरशैव एकेश्वरवादी हैं। वीरशैवों ने भगवान के लिए लिंग, परशिव, शिव, परब्रह्म आदि शब्दों का प्रयोग किया है।[2]

अक्कमहादेवी भी वीरशैव धर्मावलम्बिनी थीं, अतः उनका मत भी उपर्युक्त विचारों से युक्त है। उन्होंने प्रत्येक जीव में एक भगवान् की स्थिति मानी है। उनका एक वचन है--

नेलद मरेय निधान दंते, फलद मरेय रुचियंते,
शिलेय मरेय हेमदंते, तिलद मरेय तैलदंते,
मरद मरेय तेज दंते, भावद मरेय ब्रह्म वागिप्प,[3]
चेन्नमल्लिकार्जुनन निलवनरियबारदु।

भावार्थ-- भूमि के अन्दर छिपे गुप्त धन की भांति, फल के अन्दर छिपे मिठास की भांति, पत्थर के अन्दर छिपे स्वर्ण की भांति, तिल के अन्दर छिपे तेल की भांति और भावना के अन्दर छिपे ब्रह्म की भांति, चेन्नमल्लिकार्जुन के स्वरूप को समझना असम्भव है। तात्पर्य यही है कि भगवान चेन्नमल्लिकार्जुन प्रत्येक जीव में उसी प्रकार समाविष्ट हैं, जिस प्रकार फल में मिठास और तिल में तेल आदि।

अक्कमहादेवी का कथन है कि ईश्वर एक है और वही संसार के प्रत्येक कार्य को सम्पादित करता है। इस सम्बन्ध में उनका एक वचन द्रष्टव्य है--

---

१ वीरशैव के सम्बन्धी, पृ०४

२ 'वचनशास्त्रसार' भाग २, पृ०७११।

३. [illegible] : 'महादेवी अक्कन वचनगळु', वचन १, पृ०१ ।

भावार्थ-- जिस प्रकार मदारी के संकेत पर बन्दर उठते पर बैठ जाता है, तागे से बंधी कठपुतली जैसे नचाने वाले के संकेत पर नाचती रहती है, उसी प्रकार आपकी इच्छानुसार ही मैंने स्वयं देखा, जैसा आपने कहलवाया वैसा ही मैंने कहा और जिस तरह आपने रखा, उसी तरह मैं रहा। हे चिन्मयी यंत्र के संचालक चेन्न-मल्लिकार्जुन! जब तक आप चाहेंगे तब तक यही क्रम चलता रहेगा।

उपर्युक्त वचन में अक्कमहादेवी ने शिव को मदारी और कठपुतली का स्वामी माना है तथा जीव को बन्दर और कठपुतली। जीव शिव के संकेत पर परिचालित होता है। उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था शिव पर आधारित है, जैसे बन्दर और कठपुतली का सम्पूर्ण कार्य-व्यापार उसके स्वामी पर आधारित है।

जगत

'वीरशैव साहित्य मत्तु इतिहास' के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि जगत अशाश्वत नहीं है। यह सत्य स्वरूप शिव जी की सृष्टि है। अतएव जगत सत्य है, परन्तु जगत परिवर्तनशील है[1]।

सामान्यतः एक मनुष्य अनेक वस्तुओं --पत्थर, मिट्टी, लोहा आदि का संग्रह करके गृह-निर्माण करता है। जैसे कुम्हार मिट्टी को पानी में मिलाकर चक्र के सहयोग से बर्तन बनाता है, उसी प्रकार शिव अलग-अलग वस्तुओं का संग्रह कर इस जगत का निर्माण नहीं करता, बल्कि जिस प्रकार जेडु(मकड़ी) अन्य सामग्रियों से जाल न बुनकर अपने शरीर के अवयवों से निकले रस से ही जाल तैयार करता है, उसी प्रकार भगवान शिव में 'निखिल जगन्निर्माण शक्ति' (परम शक्ति) का विलास ही सृष्टि है और इस शक्ति का संकुचन ही लय है[2]। 'सकल महात्मक वीरशैव धर्म' नामक ग्रन्थ में भी यह वर्णन मिलता है कि सच्चिद्भौतिक प्रपंच, भौतिक चेतना

---

१ शिवमूर्ति शास्त्री : 'वीरशैव साहित्य मत्तु इतिहास', पृ० २८ ।

२ वीरशैव कुलाचार्य, पृ० ९६ ।

तथा जीव आदि सभी तत्वों के कर्ता ने अपनी शक्ति के विनोद के लिए सृष्टि-रचना की है[1]। इस प्रकार यह सृष्टि सत्य है। यह शिव की लीला से निर्मित हुई है[2]। "षटस्थल तत्व दर्पण" ग्रन्थ से भी यह प्रकट होता है कि वीरशैव सिद्धांत के अनुसार जगत् मिथ्या अथवा दुःखमय नहीं है। यह भवसागर शिव का लीला-स्थान है। इसे शिव का प्रसाद-रूप कहकर निरूपित किया गया है। जीव को इस लोक में रहकर, लौकिक बनकर, लौकिक क्रिया द्वारा, लौकिक भोगों से दूर न रहते हुए शिव स्वरूप प्राप्त करने के लिए वीरशैव मत ज्ञान प्रदान करता है[3], अर्थात् लौकिक जीवन को ही शुद्ध शिवमय जीवन में परिवर्तित होना चाहिए। इस सम्बन्ध में अक्क-महादेवी का कथन है—

> तन्न विनोदक्के ताने सृजिसिद सकल जगव ।
> तन्न विनोदक्के ताने सुत्तिसिदनवक्के सकल प्रपंचवनु
> तन्न विनोदक्के ताने तिरगिसिद नवंत भवदुःखगळलि ।
> ईतन्न चेन्नमल्लिकार्जुन नेंब परशिवनु
> तन्न जगद्विलास साकाद मेले
> ताने परिव नवर माया पाशवनु ।[4]

भावार्थ— हे भगवान! आपने अपने विनोद के लिए ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत की रचना की है। अपने विनोदार्थ ही आपने समस्त संसार को प्रपंचों से बांध दिया है। अपने विनोद-हेतु ही आपने इस जगत को बनाया है। इस प्रकार चेन्नमल्लिकार्जुन भगवान अपनी इच्छानुसार ही इस जगत की सृष्टि भी करते हैं और विलास की इच्छा न रहने पर इसे नष्ट भी कर देते हैं।

वीरशैव संतों के अनुसार संसार अर्थात् जगत ईश्वर की लीला-रूपिणी ही है। अपने मनोरंजन के लिए उसने इसकी रचना की है और मनोरंजन-काल समाप्त हो जाने पर वह इसे नष्ट कर देता है। अक्कमहादेवी भी इस मत को मानती हैं।

---

१ डा० [illegible] शास्त्री : "अक्क महादेवी [illegible]", पृ०४७।
२ वही, पृ०४८
३ [illegible] शास्त्री : "षटस्थल तत्व दर्पण", पृ०६८ ।

भावार्थ -- माया ने शरीर को छाया बनकर, प्राण को मन बनकर, मन को स्मरण बनकर, स्मरण को स्मृति बनकर तथा संसार के लोगों को व्याकुल बनकर सताया है। हे चेन्नमल्लिकार्जुन ! आपके द्वारा निर्मित इस माया को विजित करना असंभव है।

(२) पुरुषन मुंदे मायास्त्रीयेंब अभिमानवागि काडुवदु,
स्त्री मुंदे माय पुरुषनेंब अभिमानवागि काडुवदु,
लोक वेंब मायेगे शिव शरणर परिहोरगागिप्पुदु,
चेन्न मल्लिकार्जुन नोलिद शरणंगे
मायेयिल्ल मरहिल्ल, अभिमान ठिड़ा अय्या।[1]

भावार्थ-- माया ने पुरुष के सामने स्त्री का अभिमान बनकर और स्त्री के सामने पुरुष का अभिमान बनकर दोनों को सताया है। लोक रूपी माया को संतों का चरित्र पागल जैसा प्रतीत होता है, परन्तु चेन्न मल्लिकार्जुन के कृपा-पात्र संतों में न माया होती है, न विस्मृति होती है और न अभिमान होता है।

उपर्युक्त वचनों से विदित होता है कि अक्कमहादेवी ने माया की एक भिन्न व्याख्या की है। स्त्री यदि पुरुष के लिए माया है तो पुरुष स्त्री के लिए माया है और इस माया से कोई मुक्त नहीं है। उनका कथन है कि भगवान चेन्नमल्लिकार्जुन के भक्तों को यह माया प्रभावित नहीं कर पाती। वे इससे सदैव मुक्त रहते हैं। परोक्षरूप में महादेवी जी ने यह बताने की चेष्टा की है कि यदि माया से मुक्ति प्राप्त करनी है तो चेन्न मल्लिकार्जुन की भक्ति करना आवश्यक है।

भक्ति का स्वरूप

हिन्दू दर्शन-शास्त्रों में ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए अनेक मार्गों का वर्णन किया गया है। इनमें कर्मयोग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग आदि श्रेष्ठ मार्ग हैं। शंकराचार्य एवं रामानुज ने भी इन मार्गों की व्याख्या के अनुसार

---

१ प्रो० शिवलिंगप्पा [illegible] : अक्कमहादेवी वचन सार संग्रह ,१९६६, पृष्ठ ५३।

सकते हैं । भक्ति की श्रेष्ठता नारदीय सूत्र,भगवद्गीता, शिव रहस्य आदि अनेक ग्रन्थों में अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णित है । भक्ति का ह्रास होने पर उसके प्रचार हेतु पृथ्वी पर भगवान की प्रेरणा से देवदूत जन्म लेते हैं, ऐसा जन-मानस का अभिमत है । दक्षिण भारत में भक्ति मार्ग का प्रचार करने वालों में महात्मा बसवेश्वर को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है[1] । बसवेश्वर का अभिमत था कि जिनका मन भक्ति से ओत-प्रोत होकर भगवान् में तल्लीन रहता है,वे अपने जीवन में बुरे कार्यों को थोड़ा भी आश्रय नहीं देते[2] ।

भगवद्गीता में भक्ति की महत्ता बताते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं --

येतु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

--भगवद्गीता,अध्याय१२,श्लोक ६-७

वीरशैव विषयक शास्त्रों में भक्ति के छः प्रकारों का उल्लेख हुआ है,जो इस प्रकार हैं--

श्रद्धा भक्ति[3],निष्ठा भक्ति,अवधान भक्ति,अनुभव भक्ति,आनन्द भक्ति और समरस भक्ति ।

अक्कमहादेवी के वचनों में वीरशैव ग्रन्थों में वर्णित छहों प्रकार के भक्ति-स्थल समाहित हैं,जिनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है --

---

१ चन्द्रशेखर शास्त्री विरचित : 'भाव तत्व रत्नाकर',प्रथम सं०,(१९६१),पृ० २२९।

२ वही,पृ० २३८

३ (अ) चन्द्रशेखर शास्त्री विरचित : 'भाव तत्व रत्नाकर',पृ० २३०।

(आ) [illegible],एम०ए०, श्री [illegible] :
[illegible] महादेवी [illegible] साहित्य,[illegible]सं०(१९६३),पृ० ५२।

१- श्रद्धाभक्ति

कर्ममार्ग,अहंभाव का त्याग,भक्ति मार्ग की स्वीकृति तथा तन,मन,धन से ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण,इन्द्रियों का नियन्त्रण तथा सावधान होकर इन्द्रियों को लिंग की ओर प्रेरित करके की जाने वाली भक्ति ही श्रद्धा भक्ति है[1]। अक्क महादेवी के काव्य-वचनों में इस भक्ति की योजना इस प्रकार हुई है--

ना हुट्टि दल्लि संसार हुट्टितु ।
संसार हुट्टिदल्लि अज्ञान हुट्टितु ।
अज्ञान हुट्टि दल्लि आसे हुट्टितु ।
आसे हुट्टिदल्लि कोप हुट्टितु ।
आ कोपाग्निय धूमद हुडि मुसुकिदल्लि
ना निम्म मरेदु भव दु:ख की हादे ।
नी करुण विंदिंदि एन्न मरह बिडिसि
निम्म पादव मरे हुगिसय्या,चेन्नमल्लिकार्जुना[2] ।

भावार्थ -- मेरे जन्म होने पर संसार की उत्पत्ति हुई । संसार की उत्पत्ति से अज्ञान का जन्म हुआ । अज्ञान की उत्पत्ति से आशा का जन्म हुआ । आशा की उत्पत्ति से क्रोध का जन्म हुआ । उस कोपाग्नि का धुआं चारों ओर फैल गया । उसी में भूलकर इस संसार के दु:ख से मैं पीड़ित हो गई । हे चेन्नमल्लिकार्जुन! तुम करुणा करके सांसारिक मोह-माया में न पड़ी हुई मुझे निकाल कर अपने चरण में स्थान दो ।

२- निष्ठा भक्ति

गुरु तत्व के अतिरिक्त अन्यत्र किसी भी ओर मन को न जाने देना तथा गुरु तत्व को ही मुख्य आधार मानकर की जाने वाली भक्ति

---

१ [illegible] : अक्कमहादेवी— [illegible]
२ डा० आर०सी० हिरेमठ : महादेवियक्कन वचनगळु,पृ०११,वचन २५।

निष्ठाभक्ति है[1]। अक्क महादेवी के वचनों में निष्ठा भक्ति का रूप इस प्रकार प्राप्त होता है --

> उदयास्त माप वैवेरडु कौळग दळिते
>
> आयुष्य वैच राशि कडेडु हीरलुन्ना
>
> शिवन नेनेयिरे,शिवन नेने यिरे, ई जन्म बहिकिल्ला ।
>
> चेन्नमल्लिकार्जुन देवर देवन नेनेडु
>
> पंचमहापातक रेल्लरु मुक्ति पडेय रेडु[2]।

भावार्थ -- जिस प्रकार अनाज की नाप किसी विशेष मापदंड द्वारा की जाती है,उसी प्रकार प्राणी की आयु की नाप रात और दिन के माध्यम से होती है । आयु रूपी राशि के नष्ट जाने के पूर्व ही हे प्राणी। भगवान का स्मरण कर । शिव का स्मरण कर । यह जन्म पुन: नहीं लौटेगा ।

२-- अवधान भक्ति

निष्ठाभक्ति का विकसित रूप ही अवधान भक्ति है । इस भक्ति के अन्तर्गत भक्त तन,मन,वचन से पूर्णतया जागरूक रहता है तथा सृष्टि की समस्त उपभोग्य वस्तुओं को शिव द्वारा निर्मित एवं समस्त ज्ञानेन्द्रियों को शिव-प्रेरित मानकर अपने को पूर्णतया शिव को समर्पित कर शिव-प्रसाद प्राप्त करता है[3]।

अक्कमहादेवी अपने एक वचन में कहती हैं---

> नाडुवाडुवुदन प्रसाद व माडु एन्न वर्णग ळु वायिवडुवा ।
>
> शिव रामडुवन प्रसाद व माडु एन्न करर्णगळु वायिवडुवा ।
>
> सावधान प्रसाद व माडु भक्ति संपन्न नाविडुवा ।
>
> चेन्न अवधान प्रसाद व माडु ज्ञान संपन्न नाविडुवा ।

---

१ प्रो० शिवलिंगप्पा : 'कन्नड़ महादेवी अक्कमहादेवी साहित्य',पृ०५२

२ डा०आर०सी० हिरेमठ : 'महादेवी अक्कन वचनगळु',पृ०३८,वचन क्र०२ ।

३ प्रो० शिवलिंगप्पा : 'कन्नड़ महादेवी अक्कमहादेवी साहित्य',पृ०५३ ।

हां समरस भक्ति है[1]। उदाहरण द्रष्टव्य है--

> एली देवा सकल करणंगळ उपटळांगि
>
> निम्मशरणर मरे योक्कु कारुण्यम पडेदु,
>
> कंडु निम्म दी मूर्तिय कंडे ।
>
> इन्नु एन्न निम्मोळगे ऐक्यव माडि कोळ्ळा[2] ।
>
> चेन्न मल्लिकार्जुना ।

भावार्थ-- देव देव ! सभी इन्द्रियों की बाधा के भय से आपके संतों के शरणों में जाकर उनकी करुणा से मैंने आपके दिव्य स्वरूप का दर्शन किया । हे चेन्न मल्लिकार्जुना अब मुझे आप अपने में समाहित कर लीजिए ।

<u>प्रेम का स्वरूप</u>

प्रेम जीवन का महत्वपूर्ण तत्व है और काव्य जीवन की महत्वपूर्ण व्याख्या है, अतः काव्य में प्रेमतत्व की स्थिति जीवन और काव्य का मधुर सम्बन्ध है ।

अक्क महादेवी के वचनों में प्रेम-भाव का जो रूप मिलता है, वह अत्यन्त दृढ़ और स्थायी है । उसमें हृदय की कोमल अभिव्यंजना और जीवन की समग्र साधना का प्रबल प्रवाह है । एक वचन द्रष्टव्य है--

> तानु मंडु मंडल को होद है मैंदळे नानु सुम्म मिडेनल्लवे,
>
> तानेन्न केयीडेगिद्द ता नेन्न मन दोळगिद्दु
>
> एन्न भुड पिडळे नानेनु बेसिसुवे नव्वा ?
>
> नेनवेंब कुंटणि चेन्न मल्लिकार्जुन नेरव पिडळे नानेवे सहिसे[3] ।

---

1 प्रो० सिद्धलिंग पट्टणशेट्टि : 'अक्कमहादेवी अवरावर साहित्य', पृ० ४५।

2 डा०आर०सी० हिरेमठ : 'महादेवी अक्कन वचनगळु', पृ०१३५, वचन ३२२।

3 डा०आर०सी०हिरेमठ : 'महादेवी अक्कन वचनगळु', पृ०११०, वचन २५६।

चेन्न मल्लिकार्जुन का विरह उनके लिए असह्य है। उनके इष्ट उनसे दूर हैं और वे उनसे मिल जाना चाहती हैं। वस्तुत: उनके प्रेम में जो उत्कण्ठा और व्याकुलता है, वह सराहनीय है। इस सन्दर्भ में निम्नांकित पंक्तियां द्रष्टव्य हैं--

हिडिवे नेंदडे हिडिगे बार नव्वा।
तडेवे नेंदडे मिरि हो ननव्वा।
ओवन्नि अग लिय हे कडु नडु गोंडि।
चेन्न मल्लिकार्जुन न काणदे
बानारेसं रियै नेड्डा, ताय[1]।

भावार्थ -- हे मां! मैं उन्हें पकड़ना चाहती हूं, लेकिन वे पकड़ में आते ही नहीं हैं। मैं उन्हें रोकना चाहती हूं, तो वह लांघ कर निकल जाते हैं। हे मां, थोड़ी देर के लिए भी अगर वे मुझसे अलग हो जाते हैं, तो मेरा हृदय आकुल हो उठता है। अब मैं चेन्न मल्लिकार्जुन के बारे में किससे पूछूं? कि वे कहां हैं?

विरह की स्थिति में प्रेम और अधिक उज्ज्वलता को प्राप्त हो जाता है। यहां विरह की पराकाष्ठा है। बिना प्रियतम के अक्क महादेवी एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकतीं।

माधुर्य भाव

जिस प्रकार मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों ने माधुर्य भाव को महत्वपूर्ण स्थान दिया है, उसी प्रकार १२वीं शताब्दी के कन्नड सन्त-कवियों ने भी माधुर्य भाव को भक्ति का महत्वपूर्ण साधन माना है। प्रभु और आत्मा का मधुर सम्बन्ध ही माधुर्य-भाव है। अक्क महादेवी ने भी चेन्न मल्लिकार्जुन को अपना पति और स्वयं को उनकी पत्नी मानकर भक्ति का प्रतिपादन किया है। उनकी एक उक्ति द्रष्टव्य है--

---

1 डा०आर०सी० हिरेमठ : "महादेवी अक्कन वचन", पृ०१९०, वचन २७८।

गुरु पाद तीर्थवे मंगळ मज्जन येनगे ।
विभूतिय वो कुंकुमदरि शिण येनगे ।
दिगम्बर वे दिव्यांबर येनगे ।
शिव भक्तर पाद रेणुवे अनुलेप येनगे ।
रुद्राक्षिये मे दोडिगे येनगे ।
शरणर पाद रक्षेय शिर दल्लि तोंडिल्ल बासिंग येनगे ।
चेन्नमल्लिकार्जुन मडु वाडिगेगे [1]
बेरे शृंगार बेके हेळिरे अक्क गळिरा ।

उपर्युक्त वचन में अक्कमहादेवी का यह समर्पण सम्पूर्ण संत समाज के प्रति हो गया है। भक्ति के माधुर्य भाव में वे इतना सराबोर हो जाती हैं कि उन्हें अपने गुरु और शरणों के अतिरिक्त संसार की कोई वस्तु प्रिय नहीं लगती ।

पतिव्रता स्त्री का केवल एक पति होता है। वैसे भक्त का भी केवल एक ही इष्ट होना चाहिए। इसीलिए अक्कमहादेवी कहती हैं--

इह कोब्ब गंडने, पर कोब्ब गंडने ?
लौकिक कोब्ब गंडने, पार मार्थ कोब्ब गंडने ?
एन्न गंड चेन्नमल्लिकार्जुन देवरल्लदे
मिक्किन गंडरेल्ल मुगिल मरेय बोंबे अय्या [2] ।

भावार्थ-- क्या इस लोक के लिए एक पति और दूसरे लोक के लिए दूसरा पति होना चाहिए ? क्या लौकिकता के लिए एक पति और परमार्थ के लिए दूसरा पति होना चाहिए । मेरे पति, चेन्न मल्लिकार्जुन देव के सिवा अन्य पति बादल के पीछे छिपे हुए खिलौनों के समान हैं ।

---

१ डा०आर०सी० हिरेमठ : "महादेवी अक्कन वचनगळु", पृ०२१, वचन ५२

वे चेन्नमल्लिकार्जुन के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं मानना चाहतीं । उन्होंने अपनी माधुर्य-भक्ति के माध्यम से यही प्रतिपादित किया है कि भक्त का एक ही भगवान होता है, अनेक नहीं ।

अक्कमहादेवी अपना विवाह चेन्नमल्लिकार्जुन के साथ करती हैं । ज्ञातव्य है कि वे अविवाहित थीं । उनकी इच्छा आध्यात्मिक विवाह की थी । भौतिक विवाह का उनकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं था ।

पच्चेय नेलगट्टु, कनकद तोरण, वज्रद कंब
पवळद चप्पर सिंगरिसि, मुत्तु माणिकद मेलकट्टु कट्टि,
मदुवेय माडिदरु, एम्मवरेन्न मदुवेय माडिदरु ।
कंकण कैदारे स्थिर सेसे यन्निक्कि,
चेन्नमल्लिकार्जुन नेंब गंडंगेन्न मदुवे माडिदरु[1] ।

भावार्थ -- ~~[illegible]~~ बहुमूल्य पत्थर से पृथ्वी पर बिछाये गए हैं । सुवर्ण के तोरण बने हैं । वज्र का विवाह-स्तम्भ है । उसमें मोती एवं माणिक की झालरें लटक रही हैं । ऐसी सजावट के मध्य मेरे स्वजनों ने मेरा विवाह करा दिया । हाथ में पाट-सूत्र का कंकण बांध कर, चावल का स्पर्श कराकर चेन्नमल्लिकार्जुन देव, पति के साथ मेरा विवाह कर दिया गया ।

अक्कमहादेवी के ऐसे प्रियतम आने वाले हैं । अत्यन्त पुनीत अवसर है । इस समय किसी भी प्रकार की अव्यवस्था नहीं रहनी चाहिए। इसीलिए वे अपने आस-पास की स्त्रियों को भली प्रकार शृंगार कर लेने के लिए कहती हैं--

हसिन्न कौवे गई बंदे सोदे मज्जा,
जिन जिन नेसला बंगारद माडिकोडिरु ।
चेन्न मल्लिकार्जुन नीगडे बंद नु,
हसितर कोडु बाल्ल रजा माडिरा[2] ।।

---

१ डा०[illegible] : "महादेवी, वचन सं०", पृ०२१, वचन ५१

भावार्थ -- हे माताओं ! आज मेरे घर पतिदेव आने वाले हैं, आप सभी शृंगार कर लीजिए । चेन्नमल्लिकार्जुन अभी ही आएंगे, हे माताओं ! आप सब स्वागत करने के लिए आइए ।

उपर्युक्त वचनों में भक्ति के दिव्य माधुर्य भाव की झांकी प्रस्तुत होती है, वह गहरी आत्मीयता और तन्मयता से ओत-प्रोत है । इन वचनों में दृढ़ता है और अडिग प्रेम की सच्ची अनुभूति है । प्रिय-मिलन की व्याकुलता और प्रिय के प्रति एकनिष्ठ आस्था है ।

विरह-निवेदन

प्रेम और विरह का घनिष्ठ सम्बन्ध है । बल्कि यह कहा जाय कि तो अधिक उपयुक्त होगा कि प्रेम की महत्ता विरह के ही कारण है । प्रेम में प्रेमी कुछ प्राप्त करना चाहता है और उसे पाकर जब फिर बिछुड़ जाता है तब उस प्राप्ति का महत्व बढ़ जाता है । वह उसी को पुनः प्राप्त करने के लिए तड़पने लगता है । अक्कमहादेवी के अनुसार उस तड़पने में ही आनन्द है । इसीलिए वे कहती हैं--

अम्मे कामन काल हिडिदे
मत्तोम्मे चन्द्रमगे बेर नीडिदे बेडुवे ।
सुडलि विरहव, नानारिगे बुदि बेडुवे ?
चेन्नमल्लिकार्जुनन कारण
एल्लरिगे हंगिसि बादे नव्वा[1] ।

भावार्थ-- मैं एक बार काम का पैर पकडूंगी और पुनः चन्द्रमा से भी अनुनय निवेदन करूंगी । इस विरहिणी को विरह में जलने दीजिए, वह मैं किससे निवेदन करूं । मैं तो भगवान चेन्नमल्लिकार्जुन के ही कारण अन्य लोगों की निन्दा का पात्र बनी ।

---

1 डा०आर०सी० हिरेमठ : "महादेवी यक्कन वचनगळु", पृ०१०६, वचन २५३।

वे दिन-रात विरहाग्नि में जलती रहना चाहती हैं, क्योंकि उसी जलने का तो महत्व है। इसके लिए वे 'काम' का पैर पकड़ कर निवेदन करना चाहती हैं और चन्द्रमा से अनुरोध करना चाहती हैं। वस्तुत: ऐसा 'प्रेम' बहुत कम देखने में आता है। काम-दशा की 'उन्माद' स्थिति का कितना अच्छा चित्रण हुआ है।

विरह की स्थिति भी बड़ी विलक्षण होती है। उसमें प्रत्येक पदार्थ की विपरीत अनुभूति होती है। चांदनी में उष्णता और कोकिल-कण्ठ में कठोरता का भ्रम इसी अवस्था में प्रतीत होता है। अक्कमहादेवी की स्थिति भी कुछ इसी प्रकार हो जाती है। वे कहती हैं--

कडु पडुव मन तळे केडगादु अव्वा,
सुळिदु बिसुव गाळि उरियागु अव्वा।
बेळदिंगळु बिसिलायित्तु केळदि।
होळलु सुंकिगनंते होळ्ळुतिर्द नव्वा,
तिळुहा बुद्धि हेळि करे तारे अव्वा,[1]
चेन्न मल्लिकार्जुनने एरडर मुनिदव्वा।

भावार्थ -- मेरे चंचल मन में हलचल मच गई है। लहराती हुई हवा ज्वाला बन चुकी है। हे माता! हे सखी! चांदनी रात भी गर्म हो गई है और नगर के कर-अधिकारी की भांति चन्द्र ताक रहे हैं। हे माता उनको समझा-बुझा कर बुला लाइए। चेन्नमल्लिकार्जुन के कारण ही चन्द्रमा और वायु में रोष व्याप्त है।

इस वचन में काम-दशा की उद्वेग स्थिति का निर्वाह हुआ है।

प्रेम का बाण जिसे लगता है, उसकी पीड़ा को वही जानता है, दूसरा नहीं समझ सकता। अक्कमहादेवी को भी विरह की जो वेदना सता रही है, उसकी अनुभूति दूसरे को नहीं हो सकती।

---

१ डा०आर०सी० हिरेमठ : 'महादेवी अक्कन वचनगळु', पृ०१०८, वचन २५४।

विरह की स्थिति चरम सीमा की ओर बढ़ती जा रही है और अक्कमहादेवी निरन्तर व्याकुल होती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें चिन्ता हो गई है कि प्रिय से कब मिलन होगा ?

चन्द्र नीलद गिरिय मेरि कोंडु
चन्द्र कांतद शिलेय नाकि कोंडु
कोंब बारिसुत इरुविये शिवने ?
निम्म नेनेयुत इरुविरे नो ?
अंग भंग मन भंग बड्डिव
निम्म नोडि नोम्बे येंदे मय्या[1] ,
चेन्नमल्लिकार्जुना ।

भावार्थ-- चन्द्र नील के पर्वत पर चढ़कर चन्द्रकांत शिला से लिपट कर मुरली बजाते हुए तुम्हारा मिलन हे भगवान ! कब होगा ? शारीरिक एवं मानसिक दुराशाओं को त्याग कर आपसे कब मिलन होगा चेन्न-मल्लिकार्जुना । यहां चिन्ता-दशा का वर्णन है ।

गुण कथन

जब कुछ महादेवी अत्यधिक घबरा जाती हैं तो अपनी आत्मा की शान्ति के लिए प्रिय के गुणों का स्मरण करने लगती हैं --

होळेव कैंगळेय मेळे नडे बेडगिनंदु ,
कणि मणि कर्ण कुंडल मोहन्ना,
हेंड माळेय कोरळल कंठे मणि बर बेडन्ना ।
चेन्न मल्लिकार्जुन देव करुणन्ना[2] ।

---

१ डा०आर०सी० हिरेमठ : "महादेवी अक्कन वचनगळु", पृ०११वचन २५५ ।
२ वही, पृ० ९०, वचन २८८ ।

भावार्थ-- उनके प्रकाशमान लाल केशों के ऊपर चन्द्रमा का शीतल प्रकाश है। उनके कानों में सर्प ही कुंडल बन गए हैं। उनके गले में रुंड की मालाएं हैं। हे माता। इस स्वरूप वाले से जाने के लिए कह देना। हे माताओं, यही चेन्न मल्लिकार्जुन का चिन्ह है।

विरह की "गुण कथन" नामक स्थिति का इस वचन में सफल निर्वाह हुआ है। प्रिय नहीं आए। प्रतीक्षा करते-करते महादेवी थक गईं। अब और कितनी प्रतीक्षा करें? वे व्याकुल हो उठती हैं। उनका हृदय असह्य वेदना से छटपटाने लगता है, और वे प्रबल प्रलाप कर उठती हैं--

चिलि मिलि एन्दु ओदुव गिळिगळिरा, नीवु काणिरे नीवु काणिरे।
सर वेत्ति हाडुव कोगिलेगळिरा, नीवु काणिरे, नीवु काणिरे।
एरगि बंदाडुव तुंबिगळिरा, नीवु काणिरे, नीवु काणिरे।
कोळन तडियोळाडुव हंसगळिरा, नीवु काणिरे, नीवु काणिरे।
गिरि गह्वर दोळु आडुव नविलु गळिरा, नीवु काणिरे, नीवु काणिरे।
चेन्नमल्लिकार्जुन नेल्लीहर हेळि रे।

भावार्थ-- चिलि मिली शब्द कर गाने वाले तोताओं। तुमने देखा, तुमने देखा, ऊंची ध्वनि उच्चारित कर गाने वाले कोकिल। तुमने देखा, तुमने देखा, उड़ते हुए आकर खेलने वाले भ्रमर। तुमने देखा, तुमने देखा, सरोवर के तट पर क्रीड़ा मग्न हंसों। तुमने देखा, तुमने देखा, गिरि-कन्दराओं में नाचने वाले मोर। तुमने देखा, तुमने देखा, चेन्नमल्लिकार्जुन कहां हैं कहिए, कहिए।

विरह की कितनी सजीव अभिव्यंजना है? मानव-मन में अक्क महादेवी के प्रति गहरी संवेदना और सहानुभूति सहज ही उमड़ आती है। अक्क महादेवी के विरह-भाव से पूरित सभी वचन इसी प्रकार अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। उनमें व्याकुलता, हृदय की छटपटाहट और वेदना की तीव्र अनुभूति कुशलता के साथ अभिव्यक्त हुई है।

अलंकार-विधान

अक्क महादेवी के वचन-साहित्य का अलंकार, रस, छन्द, संगीत-तत्व आदि काव्य-गुणों से व्याख्या करना उचित नहीं, क्योंकि महादेवी मुख्यतया भक्त-कवयित्री हैं और आत्म-विभोर होकर उन्होंने ईश्वर की वन्दना की है। उनका जीवन-दर्शन आध्यात्मिक और लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति था। अलंकार का प्रयोग तो लौकिक वस्तुओं पर ही किया जा सकता है। महादेवी जी के वचन अलौकिक आनन्द की सहज सृष्टि करते हैं। उनमें सरलता, स्वाभाविकता, तन्मयता तथा आध्यात्मिकता के प्रति एक विशेष आकर्षण भी है। महादेवी जी वस्तुत: अन्तर्मुखी हैं और उनके प्रत्येक वचन स्वत: ऐसे अलौकिक एवं प्रकाशित रत्न के समान हैं, जो इहलोक और परलोक दोनों लोकों के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम करते हैं। यही कारण है कि उनका साहित्य जन-जन के हृदय का हार बना हुआ है।

यहाँ हम उनके वचन-साहित्य में प्रयुक्त कुछ अलंकारों को सोदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

उपमा अलंकार

> हगलु नाल्कु जाव अशन के कुदिवरु ।
> इरुळु नाल्कु जाव व्यसन के कुदिवरु ।
> अशन बीरोळ् गिर्दु मामारि इद्दे,
> कन्नोळ् गिर्द मना मन मन दिवर् च
> चेन्नमल्लिकार्जुना ।

भावार्थ— सामान्य जन दिन में १२ घण्टे भोजन के लिए चिन्तित रहते हैं और रात में १२ घण्टे विविध प्रकार के व्यसनों में लिप्त रहते हैं, परन्तु जल में स्थित प्यास से मरते हुए [illegible] के समान आत्म-स्थित महा-ज्योति की गरिमा जो है चेन्नमल्लिकार्जुन, लोग नहीं समझ पाते हैं, जिससे उनका जीवन सुफल नहीं हो पाता है।

उपर्युक्त वचन में आत्म-निहित महाज्योति से अपरिचित रहकर अज्ञान वश कष्ट भोगने वाले व्यक्ति की उपमा उस मोती से दी गई है, जो जल में रहते हुए भी प्यास से व्याकुल रहता है। इस वचन में आत्म-ज्ञान से रहित व्यक्ति की उपमा मोती से और उसकी तुलना महा ज्योति से की गई है।

\+ \+ \+

दीपक अलंकार

अय्या निम्म अनुभाव नन्न तनु सोंकिं,एन्न तनुबयलागित्तु ।
अय्या निम्म अनुभाव नन्न मन सोंकि ओरेदोरेदु काडि काडि
अरेदरेदु अनुभावदिं एन्न मन बयलागित्तु ।
एन्न सर्वांगभोगदिं मोहकेदल्लि निम्म शरणरिगोप्पिसिद बाणि
एन्न प्राणबयलागित्तु ।
एन्न सर्वेन्द्रियंगळेल्लवु निम्म शरणर प्रभावकंडकारण
एन्न सर्वांग बयलागित्तय्या ।
निम्म शरणरिंद एन्न भावु मातिद कारण
चेन्न मल्लिकार्जुनय्या,
निम्म शरणरिगे बोधिसि मारे नन्न पूदुवे[1]।

भावार्थ-- स्वामी चेन्नमल्लिकार्जुन ! आपके भक्तों के सत्संग से मेरा तन,मन एवं प्राण तथा सभी इन्द्रियां शुद्ध हो गई और मैं अपने-आप में आपके लिए एक आभरण सिद्ध हुई।

जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से समीपस्थ स्थान प्रकाशित हो जाते हैं, उसी प्रकार सत्संग के प्रभाव से तन,मन एवं प्राण आदि सभी इन्द्रियों के शुद्ध हो जाने से यहां दीपक अलंकार है।

१ [illegible] : [illegible], पृ०[illegible], वचन [illegible]

भावार्थ-- जिसके हृदय में करुण कल्पना नहीं, वहां इष्टदेव का अभिषेक होने से क्या लाभ ? अत: जिसके मन कोमल नहीं, उनसे तुम पुष्प नहीं चाहते । जो सन्तुष्ट नहीं हैं,उनसे तुम गंध और अक्षत नहीं चाहते । जिनमें ज्ञान नहीं, उनसे तुम आरती नहीं चाहते हो । जिनका भाव शुद्ध नहीं है, उनसे तुम धूप नहीं चाहते । जो सुखी नहीं हैं,उनसे तुम नैवेद्य नहीं चाहते हो । जिनका हृदय-कमल विकसित नहीं हुआ, उनके यहां तुम नहीं रहते हो । अत:क्या समझ कर तुम मेरी हथेली में निवास करते हो । कहो चेन्न-मल्लिकार्जुना ।

यहां व्याजस्तुति के माध्यम से इष्टदेव के माहात्म्य का चित्रण प्रस्तुत किया गया है ।

अनुप्रास

हसिवे नीनु निल्लु निल्लु, तृषेये नीनु निल्लु निल्लु,
निद्रेये नीनु निल्लु निल्लु ।
कामवे नीनु निल्लु निल्लु, क्रोधवे नीनु निल्लु निल्लु,
मोहवे नीनु निल्लु निल्लु, लोभवे नीनु निल्लु निल्लु
मदवे नीनु निल्लु निल्लु, मत्सरवे नीनु निल्लु निल्लु ।
सचराचरवे नीनु निल्लु निल्लु,
नानु चेन्न मल्लिकार्जुन देवर
अवसरद ओलैय नोडुव तिल्लैने,[1]
शरणार्थी ।

भावार्थ -- भूख,तुम ठहरजाओ-- ठहर जाओ, प्यास, तुम ठहर जाओ-ठहर जाओ, नींद , तुम ठहर जाओ-ठहर जाओ। काम, तुम ठहर जाओ-ठहर जाओ। क्रोध, तुम ठहर जाओ-ठहर जाओ । मोह,

---

१ डा०आर०सी० हिरेमठ : 'महादेवी अक्कन वचनगळु', पृ०६८,वचन १२४ ।

तुम ठहर जाओ-ठहर जाओ, ओम , तुम ठहरजाओ-ठहर जाओ। मत तुम ठहर जाओ-ठहर जाओ । मैं चेन्न मल्लिकार्जुन देव के पास बड़ आतुरता के साथ पत्र लेकर आ रही हूं। अत: मेरी प्रतीक्षा करने की कृपा करो, मैं तुम्हें प्रणाम करती हूं।

उपर्युक्त वचन में 'म' और 'ठ' वर्णों की आवृत्ति बार-बार हुई है, अत: अनुप्रास अलंकार है। 'ठहरो ठहरो' के बार-बार आने के कारण वीप्सा अलंकार की योजना भी अनायास ही हो गई है।

दृष्टान्त अलंकार

गूगे कण्ण काणद रिद दे रविय बहुदु ।
कागे कण्ण काणद रियदे शशिय बहुदु ।
कुरुडु कण्ण काणद रिद दे कन्नडिय बहुदु ।
इवर भावेल्लवु सहज वै ।
नरक संसार वलिक शोथ कुडि मौकुल,
शिव निल्ल मुक्ति यिल्ल, हुडिवेंकळे
नरक तप्पिसवदे चिकुवने चेन्नमल्लिकार्जुनय्या[1] ।

भावार्थ-- उल्लू आंखों से दिखाई न देने पर सूर्य को गाली देता है। कौवा आंखों से दिखाई न देने पर चन्द्र को गाली देता है। अंधा आंखों से न देखने पर दर्पण को गाली देता है। इन सभी की बातें सहज ही हैं। नरक के समान संसार में डूबे हुए लोग शिव को अस्वीकार करते हैं, मोक्ष को अस्वीकार करते हैं। अक्क महादेवी कहती हैं कि ऐसे लोगों को चेन्न मल्लिकार्जुन क्या नरक से वंचित रखेंगे कदापि नहीं।

उपर्युक्त वचन में उल्लू, कौवा, और अंधे के दृष्टांत से सांसारिक लोगों का परिचय कराया गया है, अत: यहां दृष्टांत अलंकार है।

---

१ डा०आर०सी० हिरेमठ : 'महादेवी अक्कन वचनगळु' ,पृ०४८ वचन १२५।

प्रायः प्रत्येक भाषा के कवियों ने अलंकारों का प्रयोग किया है। उनमें दो प्रकार की प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं--(१) कुछ काव्य में अलंकारों का स्वाभाविक ढंग से प्रयोग करना आवश्यक सा समझते हैं। (२) कुछ कवि की अभिव्यक्ति बिना अलंकार के प्रयोग के नहीं हो सकती, इसलिए माध्यम लेकर भावों की सफल अभिव्यक्ति के लिए अलंकारों का प्रयोग करना आवश्यक समझते हैं। कवयित्री श्रीमती महादेवी ने मानसिक चमत्कार-प्रदर्शन की दृष्टि से अलंकारों का प्रयोग नहीं किया, अपितु जो अलंकार उनके मनोगत भावों की अभिव्यंजना में सहायक प्रतीत होते हैं, उन्हीं का अत्यन्त स्वाभाविक एवं सफल प्रयोग किया है।

रस-योजना

महादेवी जी भक्त कवयित्री थीं। उन्होंने जो कुछ लिखा है, अत्यन्त शुद्ध चिन्तन तथा निर्मल हृदय से प्रेरित होकर लिखा है। उनके साहित्य में हमें एक अलौकिक जगत के दर्शन होते हैं। उनका सीधा सम्बन्ध ईश्वर से है। वे असत् से सत् की ओर अपने पावन साहित्य के माध्यम से मानव-समाज को ले जाना चाहती हैं। संसार की वास्तविकता का दर्शन उनके साहित्य में सहज रूप में किया जा सकता है। शरीर, जीव, जगत, माया और ब्रह्म आदि उनके वर्णनों के प्रतिपाद्य विषय हैं। महादेवी जी के अलौकिक वर्णनों के अध्ययन से हमें एक विशेष प्रकार के रस की अनुभूति होती है, जिसे हम भक्ति रस की संज्ञा दे सकते हैं, किन्तु भारतीय मनीषियों एवं चिन्तकों ने भक्तिरस को स्वतन्त्र रस के रूप में स्वीकार नहीं किया है। हां, 'आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भक्ति रस को स्वतंत्र रस के रूप में स्वीकार किए जाने की जोरदार सिफारिश की थी। भक्तिरस को किसी दूसरे रस में समाविष्ट नहीं किया जा सकता। उसका अपना उचित स्थान होना चाहिए।

अतः महादेवी जी के साहित्य में भक्तिरस की निष्पत्ति होती है, जिससे अलौकिक आनन्द की सृष्टि होती है। महादेवी जी

भावार्थ -- यह शरीर मल-मूत्र का पात्र है, हड्डियों का बाड़ है, इसमें पीप
भरा हुआ है, इसका नष्ट होना कि तथा इसके बन्धन से मुक्त
होना ही श्रेयस्कर है । चेन्न मल्लिकार्जुन को न समझने वाले
पागल हैं ।

प्रस्तुत वचन में संत कवियों की भांति महादेवी जी ने
शरीर को क्षणभंगुर बताया है । शरीर को क्षणभंगुर बताने के लिए कवयित्री
ने जिन उपमानों का प्रयोग किया है, उनसे बीभत्स रस की अभिव्यंजना होती
है ।

अद्भुत रस

काम न तलेय कोय्दु कालन कण्ण किळ्तु
सोम सूर्यर हुरिदु हुडि माडि तिंब् लिगे
नामव निड बल्ल र राल के सिक्कै ।
नी मदुवळिग नाने ना नारि चन्द्रशिखराने
..... श्री गिरि चेन्न मल्लिकार्जुन ।[1]

भावार्थ-- काम का सिर काट कर, काल की आंख निकाल कर, चन्द्र सूर्य को
भूनकर चूर्ण करके खाने वाली मुझको बदनाम करने वाला कौन
है? कहिए । हे, श्री गिरि चेन्नमल्लिकार्जुन तुम मेरे प्रियतम हो
मैं तुम्हारी प्रियतमा हूं ।

उपर्युक्त वचन में कवयित्री ने जो सिर काटने आंख
निकालने और सूर्य चन्द्र को भूनने की बात कही है, उससे अद्भुत रस की
अभिव्यंजना होती है ।

---

१ डा० बाळवीर सिंह : 'महादेवी अक्कन् वचनगळु', पृ०६५, वचन ३७३।

कन्नड़ भाषा में वचन का बड़ा महत्व है । वचनकारों की संख्या अपरिमित है । प्रत्येक वचन जीवन का मार्ग-दर्शन करते हैं । वचन साहित्य में जीवन के वास्तविक अनुभव प्राप्त होते हैं । वचन-साहित्य में वेदोपनिषद् आदि धार्मिक ग्रन्थों तथा जीवन के वास्तविक अनुभवों के आधार पर सूत्र रूप में कथन है ।

वचन साहित्य को छन्द के अन्तर्गत रखने के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । गद्यवादी समालोचक वचन शब्द को संस्कृत के "वच" धातु से व्युत्पन्न मानते हैं । वचन का अर्थ वाणी मानते हैं । कहते और पढ़ते समय किसी एक लय के साथ सम्बद्ध होने की प्रतीति होने पर भी छंद , ताल एवं लय की योजना "वचन" में गद्यवादी विद्वान् नहीं मानते[1] ।

इसके अतिरिक्त दूसरा मत पद्यवादी विद्वानों का है । इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि वचनों को त्रिपदी, चौपदी आदि छन्दों में विभाजित किया जा सकता है । पद्यवादी विचारधारा के विद्वान कुछ वचनों में नियत संख्या की मात्रा (गण) की झलक देखते हैं[2] । उनके अनुसार सभी वचनों में एक प्रकार की लय समाहित है ।

दोनों मतों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर हम वचन साहित्य को गद्य-गीत के समान ही मान सकते हैं, क्योंकि गद्यवादी समर्थकों ने वचन में छंद, ताल एवं लय की योजना स्वीकार नहीं की है । पद्यवादी समर्थक भी द्विविधात्मक स्थिति में है, क्योंकि एक ओर जहां पद्यवादी समर्थक छन्द के सम्बन्ध में वचन को त्रिपदी, चौपदी आदि छन्दों में विभाजित करके उसके स्वरूप में जटिलता की स्थिति पैदा करना चाहते हैं वहीं दूसरी ओर उन्हें वचनों में नियत मात्रा की झलक मात्र दिखाई पड़ती है । पद्यवादी समर्थक इस प्रकार

---

१ श्री भीमराव चिटगुप्पि : "कर्नाटक भारती" त्रैमासिक पत्रिके, पृ.५६, संपुट २, संचिके १, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९६९।

२ वही

वचन छंद के सम्बन्ध में भ्रामक स्थिति उत्पन्न कर देते हैं और यदि उनकी बात मान भी ली जाय तो भी अनेक जटिल समस्याएं पैदा हो जाती हैं, अतः इन वचनों को छंद के कटघरे में बंदी न बनाकर उसे स्वतंत्र वातावरण में स्वास लेने का ही अवसर प्रदान करना चाहिये, क्योंकि वचन भारतीय संस्कृति की मौलिक उद्भावना के रूप में प्रकट हुए हैं और उनमें जीवन की चरम अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं। हां एक बात अवश्य है कि वे गेय हैं--लयात्मक भी हैं, किन्तु वर्ण और मात्रा की परिधि के बाहर हैं।

संगीत योजना

अक्क महादेवी की रचनाओं में संगीत के तत्व का सर्वत्र समावेश परिलक्षित होता है। साहित्य की भांति संगीत में भी नौ रस पाए जाते हैं। अक्क महादेवी ने ऐसे गेय पदों की रचना की है, जिनको विभिन्न रागों में सम्बद्ध करके गाया जा सकता है। स्वर-रचना के लिए ऐसे पदों की आवश्यकता होती है, जिनमें ललित एवं मधुर वर्णों का आधिक्य हो, साथ ही साथ कर्कश वर्णों तथा संयुक्ताक्षर वर्णों का प्रयोग न हो।

ताल संगीत का प्राण है। तालों का सम्बन्ध मात्राओं से रहता है। अक्क महादेवी के योगांग त्रिविधी में ऐसे पद पाये जाते हैं, जिनके प्रथम चरण में २०, दूसरे चरण में १८ और तीसरे चरण में १३ मात्राएं होती हैं, अतः इन पदों के अनुकूल उनकी मात्राओं के अनुसार रागों तथा तालों में बद्ध करके गाने से इन पदों में निहित भावों और रसों की सहज अभिव्यंजना होती है। संगीत में वह शक्ति है जो बिना किसी शब्द प्रयोग के भाव और रसों की अभिव्यक्ति कर देती है। यदि भाव और रस से युक्त पदों को राग और ताल से बद्ध गाया जाय तो उससे रस और भाव का अत्यधिक परिपाक होता है और रसात्मकता अधिक आकर्षक एवं रोचक हो जाती है। संगीत भाव-प्रधान कला है, उसका उद्गम-स्थान मानस-लोक है। काव्य और संगीत दोनों का उद्गम स्थान मानस-लोक होने से दोनों का [illegible] [illegible] अक्क महादेवी की योगांग त्रिविधी में पाया

जाता है ।

संगीत का मूलाधार शब्द होता है । शब्द काव्य और संगीत दोनों में पाया जाता है । काव्य शब्द और अर्थ के द्वारा भावों की सृष्टि करता है और संगीत स्वर,लय और ताल के द्वारा भाव और रस की सृष्टि करता है । अक्क महादेवी की योगांग त्रिविधी में ऐसे पद पाए जाते हैं,जिनमें विभिन्न रागों के स्वरों में सम्बद्ध किए जाने की क्षमता है ।

संगीत का पर्यवसान ध्यान में होता है । जब संगीतज्ञ स्वर, लय और ताल में मग्न हो जाता है तो वह इस भव भौतिक संसार को भूल जाता है और राग से उत्पन्न अलौकिक आनन्द का अनुभव करने लगता है और धीरे-धीरे वह अखण्ड आनन्द की भूमिका में प्रविष्ट होकर 'स्वो वे स:' की अनुभूति प्राप्त करने लगता है । अक्क महादेवी ने योगांग त्रिविधी में शक्ति और शक्तिमान् को लेकर शिव तत्व की उपासना की गई है । शिव समस्त कलाओं के प्रवर्तक माने जाते हैं,उन्होंने अपने डमरू से वादन और ताण्डव से नृत्य तथा मुख से गायन-कला का उद्भव किया है । महाशक्ति पार्वती से लास्य नृत्य की उत्पत्ति हुई है । इस प्रकार शक्ति से विशिष्ट शक्तिमान् शिव ने संगीत-कला को व्यापक रूप दिया, यह सर्व शास्त्रसिद्ध है । अक्क महादेवी ने अपने उपास्य देव के अनुकूल ही गेय पदों की रचना की है [1] जो निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्ट होता है--

'योगांग त्रिविधीय रागादिगुवरे योगे
रोग भव भावे परिहरुहु । लिंग योगु
नागि सुख सिद्ध मैरे बरु ।

भावार्थ-- इस योगांग त्रिविधी को राग में गाने पर समस्त रोगों का परिहार हो जाता है और लिंग में समाहित होकर सुख की प्राप्ति होती है ।

वचनों के काव्य में संगीत तत्व प्रमुख रूप से रहा है,जिसका गायन स्वयं वचनकार करते रहे हैं और इसके उपरान्त संगीतकारों ने विविध

---

1. डा० आर०सी० हिरेमठ (सं०) 'महादेवी अक्कन वचनगळु',[illegible]--'अक्कन योगांग त्रिविधि' [illegible], पृ० 44।

वाद्य यन्त्रों के माध्यम से संगीत को प्रभावपूर्ण ढंग से व्यंजित किया है । भक्ति-भाव की प्रवणता तथा हृदय से सीधा सम्बन्ध होने के कारण अक्क महादेवी जी सदैव संगीत तत्व की योजना में तत्पर रही हैं ।

भाषा-शैली

अक्क महादेवी जी की भाषा-शैली अत्यन्त सरल,सहज, रोचक और प्रवाहयुक्त है तथा सरल और थोड़े शब्दों में भी अत्यन्त गहन और सूक्ष्म भावों को वहन करने की शक्ति है । यही कारण है कि जहां कन्नड़ लोग भी उनके साहित्य में निमग्न-से दिखते हैं वहीं विद्वान् लोग आश्चर्य चकित मुद्रा में दिखाई पड़ते हैं । भाषा और भाव एक-दूसरे से ऐसे लिपटे हुए चलते हैं कि भाषा कहीं मौन हो जाती है,भाव कहीं अनेक प्रकार की क्रीड़ाएं करते हैं । भाषा की गति रुकने पर भी भाव में गति बनी रहती है । प्रत्येक वचन पढ़ने पर मनुष्य कुछ सोचने को विवश हो जाता है । उसके हृदय पर एक अमिट प्रभाव पड़ने लगता है जिससे एक विलक्षण व्यक्तित्व का निर्माण होता है ।

उनकी भाषा की गति सहज-स्वाभाविक [illegible] वधू की भांति दृष्टिगोचर होती है । कहीं भाव गम्भीर और कहीं चपल हैं । भाव की ही भांति भाषा भी अपना स्वरूप-परिवर्तन करती रहती है । उनके साहित्य में जहां गम्भीर वाणी के दर्शन होते हैं,वहीं ओजपूर्ण भाषा का कलरव भी सुनाई पड़ता है । उनकी शैली इतनी अनूठी है कि हृदय पर उसका अमिट प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता । उनके वचनों का इतना महत्व और प्रचार है कि आश्चर्य होता है । अत्यल्प वय में ही उनमें इस प्रकार के उच्च भाव पैदा हो गये थे जिनसे उन्होंने कन्नड़ भाषा का शृंगार किया था । 'कविता करके तुलसी न लसे-कविता लसी पा तुलसी की कला' ऐसी उक्ति महादेवी जी के विषय में भी निःसंकोच रूप में कही जा सकती है ।

महादेवी जी ने भी कुछ ऐसा चाहा है,थोड़े और सरल शब्दों में बड़ी ही स्वाभाविकता के साथ कह दिया है । उनके वचन इस प्रकार की

साहित्यिकता

अक्क महादेवी के वचनों में कहीं-कहीं भाषा और भाव के ऐसे सामंजस्यपूर्ण उत्कर्ष हुए हैं, जो किसी भी साहित्य के शीर्षस्थ कवि की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं के महत्वपूर्ण अवतरणों में ही प्राप्त हो सकते हैं। भगवान चेन्न मल्लिकार्जुन को उत्सुक नयनों से ढूढ़ते समय वहां उपस्थित पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में कहे गए उनके वचन कन्नड साहित्य-कोश की अक्षय बहुमूल्य निधि हैं, यथा—

चिलि मिलि एंदु ओदुव गिळिगळिरा, नीवु काणिरे नीवु काणिरे।
सरवेत्ति हाडुव कोगिलेगळिरा, नीवु काणिरे, नीवु काणिरे।
एरगि बंदाडुव तुंबिगळिरा, नीवु काणिरे, नीवु काणिरे।
कोळन तडियोळाडुव हंसेगळिरा, नीवु काणिरे नीवु काणिरे।
गिरि गह्वरदोळाडुव नविलुगळिरा, नीवु काणिरे, नीवु काणिरे,
चेन्न मल्लिकार्जुन एल्लिद्दहेंदु हेळिरे।

भावार्थ— चिलिमिली करकर गाने वाले तोताओं! तुमने देखा तुमने देखा, ऊंची ध्वनि उच्चारित कर गाने वाले कोकिल! तुमने देखा, तुमने देखा, झुके हुए आकर खेलने वाले भ्रमर! तुमने देखा, तुमने देखा, सरोवर के तट पर क्रीड़ामग्न हंसो। तुमने देखा, तुमने देखा, गिरि-कन्दराओं में नाचने वाले मोर! तुमने देखा, तुमने देखा, चेन्न मल्लिकार्जुन कहां हैं? कहिए-कहिए।

उपर्युक्त वचन में सभी शब्द शुद्ध कन्नड भाषा के हैं।

हिन्दी के विश्व विश्रुत महान कवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी रामचरितमानस में सीता जी के रावण-हरण के पश्चात् श्रीरामचन्द्र जी से भी इसी प्रकार का विलाप कराया है।

---

१. डा० [illegible] : "महादेवी [illegible]", पृ० ११४, प्रथम खण्ड।

संस्कृत शब्द एवं श्लोकों का प्रयोग

अक्क महादेवी के साहित्य में संस्कृत के शब्दों को भी यत्र-तत्र प्रयोग में पाते हैं । यथा-- कुंजर,पुष्प,उदयास्त,अंतरंग,मन,तोरण,माणिक्य आदि । तत्सम शब्दों की ही भांति अनेक तद्भव शब्दों के भी उदाहरण उनके साहित्य में स्फुट रूप से बिखरे पड़े हैं । यथा-- रासि,अर्पिसि,[illegible] आदि।

अक्क महादेवी जी के वचन-साहित्य में संस्कृत के भी कुछ श्लोक मिलते हैं । संस्कृत भाषा का इतना सरल प्रयोग अन्यत्र दुर्लभ है । प्रत्येक शब्द के साथ अर्थ स्वयं स्पष्ट होता चलता है कहीं भी कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती ।

(१) शिवेति मंगलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते ।
भस्मि भवन्ति तस्याशु महा पातक कोटय: [1] ।।

(२) केदार स्योदके पीते वारणास्यां मृते सति ।
श्री शैल शिखरे दृष्टे पुनर्जन्म न विद्यते [2] ।।

अक्क महादेवी के संस्कृत शब्दों व श्लोकों से उनके संस्कृत भाषा के ज्ञान का सहज ही आभास हो जाता है । यह तो स्पष्ट ही है कि पाण्डित्य प्रदर्शन उनका उद्देश्य नहीं था--सीधी,सरल भाषा में हृदय के भावों को व्यक्त करने के कारण भाषा सरल और प्रवाहयुक्त है । संस्कृत के श्लोक अत्यन्त ही सहज शैली में लिखे गए हैं,ताकि सर्वसाधारण भी उन्हें सरलता के साथ समझ सकें । इतना ही नहीं, मेरा अनुमान है कि अक्क महादेवी को संस्कृत साहित्य का गम्भीर ज्ञान था । [अन्यथा] इतनी सरल शैली में इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति वे नहीं कर सकती थीं । उनके वचनों में सूत्र रूप में स्वतन्त्र वाक्य भी संस्कृत के प्रयुक्त मिलते हैं,यथा--'जय जीव: जय शिव:' आदि ।

---

१ डा०आर०सी० हिरेमठ : "महादेवी अक्कन वचनगळु",पृ० २५,वचन ६५।
२ वही,पृ०२१,वचन ४८।

<u>मुहावरों का प्रयोग</u>

महादेवी के वचनों में अनुभव की प्रगाढ़ता, सुस्पष्टता के साथ उक्ति की सहजता की मनोहारी छवि के भी दर्शन होते हैं ।

लौकिक दृष्टान्तों एवं मुहावरों का भी यथेष्ट प्रयोग हुआ है --

(१) बंजे बायिय बेने यन रिबड़े ?
(बांझ प्रसव की पीड़ा क्या जाने ?)

(२) मलतायि मुद बल्ळे ?
(सौतेली माँ चुम्बन क्या जाने ?)

(३) नोंदवर नोव नोयदवरेत बल्लरो ?
(दुखी की वेदना को अन्य क्या जाने?)

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अक्कमहादेवी के वचनों में भाषा का प्रवाह है, अद्वितीय अभिव्यंजना-शक्ति है तथा अद्भुत वर्णन-सामर्थ्य है ।

(ख) <u>मीरांबाई : दर्शन, अनुभूति और अभिव्यक्ति</u>

<u>मीरां का दर्शन</u>

मीरां के दर्शन के सम्बन्ध में हमारे समक्ष दो समस्याएं उत्पन्न होती हैं--(१) मीरां के पदों में दर्शन तत्व है या नहीं ? , (२)यदि दर्शन तत्व है तो कौन-सा दर्शन है ? दर्शन अत्यन्त गहन विषय है, अतः गम्भीरतापूर्वक विचार आवश्यक है । यहाँ हम एक-एक विषय पर विचार प्रस्तुत करेंगे ।

'दर्शन' शब्द का अर्थ 'दृष्टि' होता है । दृष्टि ब्रह्म के प्रति, जीव के प्रति, जगत के प्रति एवं माया के प्रति--दर्शन की यही विषय-

परिधि है । अब हमें यह देखना है कि क्या मीरां को प्रेम से दृष्टि नहीं मिली
थी ? अवश्य मिली थी । । प्रेम ही उनकी जीवन-प्रेरणा का मूल स्रोत था ।
उसी ने उन्हें जीवन्त शक्ति प्रदान किया था । मीरां का प्रेम अलौकिक प्रेम था ।
तुलसीदास ने जब लौकिक प्रेम से प्रेरणा ग्रहण कर अलौकिक दृष्टि प्राप्त की तो
क्या मीरां की अलौकिक दृष्टि 'दर्शन' नहीं हो सकती ? हो सकती है और है
भी । दर्शन के सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए कि सबका अपना-अपना दर्शन
होता है । अतः हम मीरां का दर्शन उनकी प्रेम-साधना को ही स्वीकार करने
का आग्रह करेंगे, क्योंकि उससे हमें जीवन-दृष्टि प्राप्त होती है ।

दूसरी समस्या भी कुछ इसी प्रकार की है । मीरां के
युग में यद्यपि अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय प्रचलित थे, किन्तु क्या मीरां किसी सम्प्रदाय
विशेष में दीक्षित थीं ? मीरां की भक्ति और प्रेम के स्वरूप में देख सकते हैं कि
उनके पदों में तत्कालीन प्रचलित सभी दार्शनिक मत न्यूनाधिक मात्रा में समाविष्ट
हुए हैं, किन्तु इन सब के बावजूद मीरां किसी सम्प्रदाय-विशेष अथवा दर्शन-विशेष
की परिधि के कारागार में आबद्ध नहीं हुई थीं । उनका अपना विलक्षण
व्यक्तित्व था । जीवन की परिस्थितियां थीं और उनके समक्ष ईश्वर का अगाध
अलौकिक प्रेम था ।

अतः निष्कर्षरूप में यह कहना पड़ता है कि मीरां के
पदों में हमें सभी इन्द्रधनुषी सप्तवर्णी दार्शनिक रेखाओं के भी दर्शन होते हैं ।
साथ ही उनके जीवन की विभिन्न विषम परिस्थितियों एवं तत्कालीन दार्शनिक
सम्प्रदायों के पारस्परिक सम्मिश्रण से मीरां के विलक्षण व्यक्तित्व का निर्माण
भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है । उनके निजी
व्यक्तित्व में कुछ ऐसी विशिष्टता है, जो उन्हें सबसे पृथक् रखती है और वह है
उनकी प्रेम-भावना । उनकी प्रेम-भावना का स्वरूप बहुत ही उज्ज्वल, विराट, पावन
एवं परिपुष्ट है ।

जिस प्रकार तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड में उल्लेख किया है-- 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि'। बिल्कुल इसी प्रकार मीरां के पदों में तत्कालीन प्रचलित विभिन्न दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदायों का सारांश तो है, किन्तु इन सब के अतिरिक्त भी तुलसीदास के 'क्वचिदन्यतोऽपि' की ही भांति मीरां की भी कुछ इसी प्रकार की व्यक्तिगत विशिष्टता है, जो उन्हें सबसे पृथक् रखती है वह है उनका माधुर्य-प्रेम।

अब मीरां के पदों में व्यक्त दार्शनिक चिन्तन-धारा का स्वरूप देखेंगे।

ब्रह्म-निरूपण

मीरां के पदों में ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों ही रूपों का दर्शन मिलता है। मीरां निराकार अथवा निर्गुण ब्रह्म की आराधिका के रूप में दिखाई पड़ती हैं। इस स्वरूप का प्रतिपादन इतने अधिक पदों में हुआ है कि कुछ आलोचक उन्हें संत मत के अन्तर्गत मानते हैं। जिस प्रकार कबीर का ब्रह्म घट-घट व्याप्त है और उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं, उसी प्रकार मीरां का प्रियतम भी उनके हृदय में स्थित है। यथा--

जिनरो पियां परदेस बस्यांरी लिख लिख भेज्यां पाती।[1]
म्हारा पियां म्हारे हीयड़े बसतां ना आवां ना जाती।

इस प्रियतम से मीरां का सम्बन्ध अद्वैत भाव का है। जिसप्रकार 'सूरज घामा' एक ही सविता के दो रूप हैं, उसी प्रकार मीरां भी अपने प्रियतम[2] का स्वरूप हैं--

तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं, जैसे सूरज घामा।

---

१ पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरांबाई की पदावली', पद २४।
२ वही, पद संख्या [illegible]।

मीरां के पदों में सगुण ब्रह्म की प्रधानता है, क्योंकि दाम्पत्य भावकी भक्ति के लिए यही रूप आवश्यक भी था । कृष्ण-भक्तों में कृष्ण के दो रूप मिलते हैं-- कृष्ण का रसिक रूप और कृष्ण का लोक-रंजक रूप । मीरां के पदों में दोनों रूप प्राप्त होते हैं । मीरां के ब्रह्म-निरूपण के सम्बन्ध में मीरां की भक्ति का स्वरूप शीर्षक में विशेष प्रकाश डाला गया है ।

जीव-निरूपण

मीरां ब्रह्म और जीव की स्थिति 'सूरज' और 'घाम' के सदृश मानती हैं । जैसे घाम सूर्य का रूप होते हुए भी उससे पृथक् परिलक्षित होता है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म का रूप है । माया के आवरण के कारण यह पृथक् भासित होता है--

तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं, जैसे सूरज घामा ।[1]
मीरां के मन अवर न माने चाहे सुन्दर स्यामा ।

परब्रह्म के साथ 'तुम मोरे हूं तोरे'[2] आदि द्वारा तादात्म्य स्थापित कर सदा आनन्द विभोर रहा करती हैं । उनके पिया (ब्रह्म)[3] उनसे कदाचित् कभी भी अलग नहीं । वे सदा उनके 'हिये' में बसते हैं ।

भगवत्कृपा ही जीवन्मुक्ति का कारण है । भगवत्कृपा से ही जीवको अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है । मीरां इसी कृपा हेतु प्रार्थना करती हैं--

तनक हरि चितवां म्हारी ओर ।
हम चितवां थें चितवो ना हरि, हिवड़ो बड़ो कठोर ।[4]

---

१ पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरांबाई की पदावली', पद सं० १५८ ।
२ वही, पद सं० ३८ ।
३ वही, पद सं० ३४ ।
४ वही, पद सं० ९४ ।

जगत-निरूपण

मीराँ को इस संसार की नश्वरता का स्पष्ट ज्ञान है। वे कहती हैं कि संसार में जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह नश्वर है, यथा--

भज मण चरण कंवल अवणासी।
जेताई दीसां धरण गगन मां, तेताई उठ जासी।
तीरथ बरतां ग्यांण कथंता, कहा लियां करवत कासी।
यो देही रो गरब णा करणा, माटी मां मिल जासी।
यो संसार चहर री बाजी, सांझ पड्यां उठ जासी।
कहा भयां थां भगवा पहर्यां, घर तज भयां सन्यासी।
जोगी होयां जुगत णा जाण्यां, उलट जनम फिर फांसी[1]।

भक्ति का स्वरूप

मीराँ के काव्य का अध्ययन करने से यह तथ्य निकलता है कि मीराँ पूर्णतया किसी भी सम्प्रदाय की अनुयायिनी नहीं हैं। उनकी भक्ति-भावना पर यदि एक ओर हम सन्तों का प्रभाव देखते हैं तो दूसरी ओर वैष्णवों की नवधा भक्ति का भी रूप स्पष्टतया देख सकते हैं। इसी तरह महाप्रभु व चैतन्य के गौड़ीय सम्प्रदाय की माधुर्य भावना का भी स्पष्ट प्रभाव उनके काव्य में परिलक्षित होता है। मीराँ के पदों में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपों के दर्शन होते हैं। मीराँ की भक्ति हृदय से सम्बन्धित है, ज्ञान से उसका कोई सम्पर्क नहीं है। उनकी भक्ति का स्वरूप किसी परम्परा अथवा सम्प्रदाय से आबद्ध होकर नहीं चलता, वह तो हृदय का सहज उद्गार है, जो न तो सामाजिक बन्धनों को स्वीकार करता है और न धार्मिक मान्यताओं को ही। प्रेम और भक्ति का मार्ग उनको इतना प्यारा था उन्होंने स्वयं ही कहा है-- प्रेम भगति को पैंडो ही न्यारो, इत्यादि। अब हम मीराँ के भक्ति के स्वरूप का विश्लेषण

---

१ श्री परशुराम चतुर्वेदी : "मीराँबाई की पदावली" पद सं० [illegible]।

करते --

मीरां के साजन अविनाशी हैं और मीरां का उनसे सच्चा प्रेम है[1]। पंचरंग चोला पहन कर अविनाशी कृष्ण के साथ झिरमिट खेलना और उसी रंग में रंग जाना मीरां को अच्छा लगता है[2]। उस प्रियतम से मिलने के लिए 'अगम देस' जाना चाहती हैं, जहां काल का भी भय नहीं रहता[3]। उन्होंने 'हरि अविनासी' को परम ऐश्वर्यशाली और लीलामय भगवान के सगुण रूप में अनेक स्थानों पर अंकित किया है। उन्होंने कई स्थलों पर 'भक्त वछल', दीनानाथ, कृपा निधान, अधम उधारण, भव जल तारण, कष्ट निवारण, विपति विदारण, पतित पावन आदि प्रयोग किए हैं। मीरां ने ईश्वर के अनेक उपकारों का स्मरण कराकर उनसे अपने कल्याण के लिए प्रार्थना भी की है। उन्होंने ईश्वर को नारायण चतुर्भुज की भांति नन्द नन्दन बलवीर भी कहा है।

मीरां की भक्ति में भक्ति के सभी गुण समाए हैं--

माई म्हां गोविन्दा, गुण गास्यां।
चरणामृत रो नेम सकारे, नित उठ दरसण जास्यां।
हरि मंदिर मां निरत करावां घुंघर्यां घमकास्यां।
स्याम नाम रो झांझ चलास्यां भौसागर तर जास्यां[4]।

---

1 अविनाशी सूं बालमां है, जिनसूं सांची प्रीत।
पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरांबाई की पदावली' पद सं० २५।

2 म्हां गिरधर रंग राती, सैयां म्हां।
पंचरंग चोला पहर्या सखी म्हां झिरमिट खेलण जाती।
वां झिरमिट मां मिल्यो सांवरो, देख्यां तण मण राती।
—वही, पद २३।

3. 'चालां अगम वा देस, काल देख्यां डरां।'
वही, पद [illegible]।

4. वही, पद सं० [illegible]।

स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन, वैष्णव-भक्ति-साधना के सोपान माने गए हैं। श्रवण में भक्त अपने आराध्य के गुण-श्रवण करता है और कीर्तन द्वारा गाय और गाकर प्रकट करता है। पद-सेवा का अर्थ है -- उनके चरणों की सेवा करना, वंदना का अर्थ है वन्दना करना, दास्य का अर्थ दास्यभाव से ईश्वर की सेवा करना, सख्य का अर्थ है मित्र के भाव से पूजा करना और आत्म-निवेदन का अर्थ है --ईश्वर के समक्ष अपना हृदय खोलकर रख देना। मीरां के काव्य में प्राय: ये सभी तत्त्व वर्तमान हैं।

<u>श्रवण</u>

राम नाम रस पीजै मनुआं राम नाम रस पीजै ।
तज कुसंग सत संग बैठि नित हरि चरचा सुण लीजै[१] ।

<u>कीर्तन</u>

माई म्हां गोविन्द गुण गाणा ।
राजा रूठ्यां नगरी त्यागां, हरि रूठ्यां कठे जाणा[२] ।

<u>स्मरण</u>

सईयां मैरे जोगी सूं लागी नेह ।
लगी प्रीति जिन तोड़े रे बाला, प्रीति कीयां दुख होय[३] ।

<u>पद-सेवा</u>

मण थें परस हरि रे चरण ।
सुभग सीतल कंवल कोमल, जगत ज्वाला हरण[४] ।

---

१ पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरांबाई की पदावली' पद सं० [illegible] ।
२ वही, पद सं० [illegible] ।
३ वही, पद सं० [illegible] ।
४ वही, पद सं० [illegible] ।

कारण मीरा की यह भावना प्रायः उन विकारी लौकिक प्रणय-भावना का सहज, अकृत्रिम रूप धारण कर लेती है और सम्भवतः इसीलिए यह हृदय को अधिक स्पर्श भी करती है। उसमें अतीव सौन्दर्यानुभूति, अगाध प्रणय-वेदना और विरह की गम्भीरता का ही साम्राज्य दिखाई पड़ता है। यह सब कुछ रहते हुए भी मीरां का काव्य लौकिक वासना से सर्वथा असम्पृक्त रहता है। लगभग सभी कृष्ण-भक्तों में न्यूनाधिक रूप में लौकिक वासना कहीं-न-कहीं प्रकट हो उठी है, परन्तु मीरां इस दोष से सर्वथा मुक्त है। वह अतीव आध्यात्मिक भावना से मंडित रही है।

प्रेम का स्वरूप

मीरां की प्रेम-भावना गोपियों के सदृश है, क्योंकि वे स्वयं[1] अपने को ललिता नाम की किसी गोपी का अवतार भी उद्घोषित करती थीं। सम्भवतः इसी कारण अपने इस पूर्व सम्बन्ध का उल्लेख मीरां ने कई स्थानों पर किया है। "मेरी उनकी प्रीत पुराणी"[2] "पूर्व जनम की प्रीत पुराणी"[3], "जनम जनम की चेरी"[4], "पूरब जनम का साथी"[5] आदि उद्धरणों से यह निष्कर्ष तो स्वयमेव निकल ही आता है कि मीरां कृष्ण से अपना सम्बन्ध केवल इसी जन्म का न मानकर "जनम जनम" की प्रीत पुराणी मानती हैं। कहीं-कहीं कृष्ण को स्वकीया की भांति अपना पति भी स्वीकार करती हैं, जैसे, "म्हांरे गिरधारी हावे"[6] आदि। कुछ पदों में मीरां कृष्ण की परकीया के रूप में भी दिखाई पड़ती हैं। फलस्वरूप उनके "प्रेम दिवाणी" होने से लोग उन्हें "कुल नासी" भी कहकर उनकी हंसी उड़ाते हैं, किन्तु मीरांबाई अपने पथ से विचलित नहीं होतीं।

---

१ पं० परशुराम चतुर्वेदी : "मीरांबाई की पदावली", पृ०४१
२ वही, पद २०
३ वही, पद ३४
४ वही, पद ८०
५ वही, पद १९३
६ वही, पद १०८।

मीरां का प्रेम एकांगी है, क्योंकि उनके काव्य में केवल विरह-पक्ष का ही प्राबल्य मिलता है। उनके संयोग-वर्णन में काल्पनिकता के दर्शन ही होते हैं। उनकी दृष्टि में कृष्ण के सिवा और कोई नहीं है। इस बात को कितने साहस के साथ मीरां कहती हैं--

म्हा रांरी गिरधर गोपाल दूसरां णा कूयां ।[1]
दूसरां णां कूयां साधां सकल लोक जूयां ।

मीरां कृष्ण के प्रेम में इतनी तल्लीन हैं कि उनके किंचित् आभास मात्र से रोमांचित और पुलकित हो उठती हैं। मीरां के ही शब्दों में--

बरसां री बदरिया सावन री, सावण री मन भावण री ।।[2]
सावन मां, उमंग्यो म्हारो मण री, भणक सुण्या हरि आवन री ।

मीरां कृष्ण-प्रेम में भाव-विभोर हो जाती हैं और अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान उन्हें नहीं रह जाता --

माई मैरी मोहने मण हरयो ।
कहा करूं कित जाऊं संजणी, प्राण पुरुष सूं वरयो ।[3]

कृष्ण का दर्शन न पाने से उन्हें कितनी मर्मान्तक पीड़ा होती है, उन्हीं के शब्दों में --

दरस बिण दूखां म्हारा णैण ।।
सबदां सुणतां मैरी छतियां कांपां मीठो थारो बैण ।[4]

मीरां का प्रेम कबीर, जायसी, तुलसी, सूर के प्रेम से सर्वथा भिन्न है। उनके प्रेम में कुछ ऐसी व्यक्तिगत विशिष्टता है, जिसमें आत्म विलय हो जाता है। मीरां

---

१ पं० परशुराम चतुर्वेदी : "मीरांबाई की पदावली", पद १८

२ वही, पद १९६ ।

३ वही, पद १७० ।

४ वही, पद १०३ ।

की इस व्याकुल तन्मयता पर महाप्रभु चैतन्य की कीर्तन-प्रणाली का भी प्रभाव पड़ा है। वस्तुतः उनकी कीर्तन प्रणाली अथवा गौरांग महा प्रभु से ही अनुकूल थी और मीरां की रसलीला भी बहुत कुछ उन्हीं के ढंग पर सम्पन्न हुई। मीरां कहती हैं कि प्रेम की पीड़ा सहन करना बहुत कठिन है। 'लागी सोही जाणै, कठण लगण दी पीर'[1] मीरा को अपने प्रेम के लिए क्या-क्या नहीं सहना पड़ा। लोक-निन्दा हुई, विष पिलाया गया, परिजनों ने त्याग किया, विषधर भेजा गया, परन्तु मीरां ने अपने प्रेम का पल्ला न छोड़ा। मीरां को भले ही अपने प्रेम में अनेक कठिनाइयां हुई हों, परन्तु वे अपने प्रेम-मार्ग से तनिक भी विचलित नहीं हुई।

माधुर्य भाव

मीरांबाई की पदावली में माधुर्य भाव की ही प्रधानता है। उन्होंने मधुर-भक्ति को ही अपनी उपासना का आधार बनाया। माधुर्य-भाव भक्ति के अन्य भावों जैसे दास्य, सख्य एवं वात्सल्य से भिन्न प्रकार का है। दास्य भाव में भक्त ईश्वर-चिन्तन में मन रखकर उनका गौरव-गान करता है। सख्य के अनुसार ईश्वर को किशोरावस्था का सखा मानकर आराधना करता है और वात्सल्य भाव में ईश्वर के बाल-रूप का स्मरण करके उसी का रसास्वादन लेता है, किन्तु माधुर्य भाव में भक्त ईश्वर को पति या प्रियतम रूप में स्वीकार करता है। पति-पत्नी के पारस्परिक आकर्षण में जो विशिष्टता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण से शृंगार रस का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु मधुर रस द्वारा उत्पन्न शृंगार अलौकिक होता है, इन्द्रियातीत होता है। ऐसी स्थिति में बाधाएं जितनी प्रबलता से सामने आती हैं, प्रेम की गति उतनी ही तीव्र होती जाती है। अन्त में वह एक विचित्र मधुर पागलपन का रूप धारण कर लेती है, जिसे हम 'दीवानापन' कह सकते हैं। माधुर्य भाव स्वार्थ-रहित, सरल और विशद असीम रूप में [illegible] पोषित रखता है।

---

1. पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरांबाई की पदावली', पद सं० १९३।

माधुर्य भाव की भक्ति सौन्दर्य पर आधारित है। मीरां कृष्ण को अपना पति इसलिए मानती थीं, क्योंकि वह कृष्ण के सौन्दर्य पर मुग्ध थीं। मीरां ने गिरधर गोपाल को अपना पति स्वीकार कर लिया है--"मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई, जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।" डा० सुधीन्द्र ने लिखा है--"तुलसी और सूर के भक्ति के गीतों ने भगवद्भक्ति को मानव-हृदय की गंगा बना दिया था, जिसमें स्नान करके जन-मन पवित्र होता था, गंगा की उस निर्मल धारा में कोई पंकिलता न थी। मीरां के गीत अपनी माधुर्य भावना के स्पर्श से उस धारा में मादकता का पुट डाल देते हैं।"[1]

वस्तुत: मीरां के गीत भक्ति की दृष्टि से अत्यन्त मादक हैं। उनमें किसी मादकता नहीं, जो वासनाजन्य होती है। मीरां की भक्ति, सौन्दर्यपरक होती हुई भी वासनापरक नहीं-- यह मीरां की अपनी विशिष्टता है, जिसके कारण वे विश्वविश्रुत हो सकीं। मीरां की दृष्टि में संसार में एकमात्र पुरुष उनके प्रियतम कृष्ण ही हैं, अन्य कोई भी नहीं। भावना की यह एकरूपता और एकाग्रता उनके पदों में सर्वत्र एक-सी मिलती है। इन पदों में अपूर्व भाव-विह्वलता और आत्मसमर्पण का भाव है। मीरां क्योंकि प्रियतम के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पित हैं। इसी कारण उनमें विरह की तीव्रता अधिक रही है। वह प्रेम दीवानी अनन्य भाव से जीवनभर अपने प्रियतम के ही गीत गाती रहीं हैं।

माधुर्य भक्ति के तीन अंग माने जाते हैं--रूप-वर्णन, विरह-वर्णन और पूर्णतया आत्म-समर्पण। मीरां के पदों में तीनों अंगों का समुचित निर्वाह हुआ है।

---

1 "हिन्दी कविता में युगान्तर", पृ०234।

रूपवर्णन

मीरां के प्रियतम का स्वरूप अन्य कृष्ण-भक्त-कवियों से भिन्न नहीं है, किन्तु उनके हृदय की सरसता में एक नवीनता है। उनके कृष्ण के सिर पर मोर मुकुट है, कानों में मकराकृत कुण्डल हैं, मस्तक पर तिलक है, उनके विशाल नेत्र हैं, अधर पर बंसी है, गले में वैजयन्ती की माला है[1]। मीरां कृष्ण के इस रूप से मुग्ध होकर स्वयं को भूल जाती हैं और कहती हैं--

थारी रूपदेख्यां अटकी ।
कुल कुटुम्ब सजण सकल बार बार हटकी ।
बिसरयां णा लगण लगां मोर मुकट नटकी[2]।

और अन्त में ऐसी स्थिति आ जाती है कि मीरां लोक-लाज को तिलांजलि देकर कृष्ण के हाथ में बिक जाती हैं--

सांवरो नंद नंदन, दीठ पड़यां माई ।
डारयां सब लोक लाज सुध बुध बिसराई[3]।

विरह-वर्णन

रूप-आकर्षण के पश्चात् प्रेम की उत्पत्ति होती है। प्रेम की पीर का अनुभव भुक्तभोगी कर सकता है। प्रेम का घाव ऊपर से तो नहीं, किन्तु भीतर ही भीतर सालता रहता है--

लागी सोही जाणे कठण लगण दी पीर[4]

मीरां को प्रियतम-विरह का पता तब लगता है जब उनके प्रभु भी नेहड़ा लगाकर कहीं चले जाते हैं और तब विरह की वे स्थिति में प्राणोत्सर्ग करने के लिए भी वे तैयार हो जाती हैं, किन्तु विरहिणी का

---
१ पं० परशुराम चतुर्वेदी : "मीरांबाई की पदावली" पद सं०१
२ वही, पद सं०६
३ वही, पद सं० १९
४ वही, पद सं० १०२ ।

विह्वलता एवं व्यग्रतापूर्ण मर्मान्तक पीड़ा के स्वर सुनाई पड़ते हैं। उनका प्रेमी 'मैहदी' लगा कर चला गया है। उनमें 'प्रेम की बाती' बढ़ाकर एवं 'नेह की नाव' चलाकर 'विरह समुंद' में छोड़ गया है। उसके बिना मीरां रह नहीं सकतीं[1]। मिलने का अवसर भी मिला, किन्तु वे उसे देख भी न सकीं और न उससे मन की बातें ही कर सकीं। इस बात का उन्हें महान कष्ट है और वे विष खाकर प्राण त्यागने तक की बात सोचने लगती हैं[2]। उन्हें खाना-पीना अच्छा नहीं लगता, रात में नींद भी नहीं आती और वे सूनां पर अपनी सेज को बिछी हुई समझती हैं[3]। रात भर उसके बिना सूनी सेज पर सिसकती हैं[4]। वे रात भर बैठी रहकर आंसुओं की माला पिरोती रहती हैं[5]। दिन में भी उन्हें घर और आंगन में अच्छा नहीं लगता और द्वार पर खड़ी होकर उसी की बाट देखती रहती हैं[6]। उनकी दशा चातक के घन और मछली के जल जैसी हो गई है। सब कुछ भूलकर कृष्ण के ध्यान में मग्न रहती हैं[7]। विरह-सर्प ने उनके कलेजे को मानों डंस लिया है। फलस्वरूप ज्वाला की लहर जाग उठी है[8]।

वस्तुतः मीरां की वेदना में अपार विस्तार समाहित है। आत्मसमर्पण की भावना मीरां की अपनी वैयक्तिक विशेषता है। विरह-बादल जीवनाकाश पर मंडराते हैं, प्रियतम उनकी सुधि नहीं लेता, परिणाम प्राण तक देने पर उतारू हो जाते हैं, किन्तु मीरां की आत्मसमर्पण-भावना में कहीं कोई परिवर्तन नहीं होता।

---

१ पं० परशुराम चतुर्वेदी, पद सं० ६५
२ वही, पद सं० ६६
३ वही, पद सं० ६२
४ वही, पद सं० ८८
५ वही, पद सं० ८६
६ वही, पद सं० ९१
७ वही, पद सं० [illegible]

मीरां की उपर्युक्त विरह-वेदना से कहीं अधिक कठिन समस्या परेशान कर रही है 'मुझ दरद दिवाणी' के 'दरद' का हाल कैसे प्रकट हो।[1] कठिनाई तो यह है कि मीरां के 'दरद' की चिकित्सा वैद्य भी नहीं कर सकते। उनके इस रोग की औषधि उनका 'सांवरिया' ही कर सकता है, अतः अपने प्रियतम के पास संदेश-पत्र लिखना चाहती हैं, किन्तु हाथ कांप जाता है, उनकी शारीरिक गति शिथिल पड़ जाती है, हृदय भर आता है, मुंह से बात नहीं निकलती, आंखों में आंसू आ जाते हैं।[2] मीरां ने अपने प्रियतम से कई पदों में बड़े सुन्दर ढंग से निवेदन किया है। एक ओर जहां उन्होंने अपनी शारीरिक स्थिति स्पष्ट की है,[3] वहीं दूसरी ओर मानसिक स्थिति की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है।[4] कभी-कभी वे अपने प्रेम के लिए पछताती हैं,[5] किन्तु अधिकतर वे उसके कारण 'जोगण' होने पर ही उतारू जान पड़ती हैं।[6]

संयोग-वर्णन

मुख्यतया मीरां के पदों में जीवन के विरह-पक्ष की ही प्रथा का सन्निवेश पाया जाता है, किन्तु संयोग अथवा मिलन के वर्णनों में स्वाभाविक आनन्द एवं उत्साह के भाव परिलक्षित होते हैं, यद्यपि ऐसे स्थल अत्यन्त कम हैं। 'सावन' के प्रसंग में आई हुई निम्नांकित पंक्तियों में व्याकुल विरहिणी मीरां के हृदय की उत्फुल्लता रोमांचित हो उठी है--

उमग्यां इन्दु चहूं दिस बरसां, दामण छोड्यां लाज।
बरसी अब मेहा मेहा पाहुणा, हरि मिलण रे काज॥

---

१ पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरांबाई की पदावली' पद सं०७०
२ वही, पद सं० ७६
३ वही पद सं०१०७-१०८
४ वही पद सं०९९-१०४
५ वही, पद सं०१०२
६ वही, पद सं०३३, १००

उपर्युक्त पद उनके हृदय का बीता-भावना चित्रण प्रस्तुत करता है। मीरां का प्रियतम लम्बी अवधि के पश्चात् लौटता है। आनन्दातिरेक से वे गा उठती हैं--

सावण म्हारे घरि आया हो।
जुगां जुगां री जोवतां, बिरहणि पिव पाया हो[1]।

वियोग में प्रकृति दु:खों को उद्दीप्त करती है, किन्तु संयोग सुख में वही सुख देने लगती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है--

बरसां री बदरिया सावन री, सावण री मन भावण री।
सावन मां,उमंगो म्हारो मण री,भणक सुण्या हरि आवन री[2]।

मीरां के संयोग-वर्णन में एक प्रमुख विशेषता यह है कि मिलन में कहीं भी मांसल चित्र नहीं प्रस्तुत किए गए हैं। मीरां तो केवल इतना ही कहकर संतोष करती हैं कि आयल मोरी गलियन में गिरधारी। मैं तो छुप गई लाज की मारी[3]।

प्रियतम के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करके उनके प्रति अपना आकर्षण व्यक्त करती हैं--

म्हारे डेरे आज्यो जी महाराज।
चुणि चुणि कलियां सेज बिछायो, नख सिख पहरयो साज[4]।

अलंकार-विधान

मीरांबाई अनन्य आराधिका के रूप में विख्यात हैं। उनका आराधिका का रूप प्रमुख और कवयित्री का रूप उसके बाद आता है। भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति उनका मुख्य लक्ष्य था। इसलिए उनकी भाषा में

---

१ पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरांबाई की पदावली', पद सं०१९०।
२ वही, पदसं० १९४।
३ वही, पद सं० १९८।
४ वही, पद सं० १९९।

थानां क्यूं पीठी फेरी ।

<u>अत्युक्ति</u>

मीरां के काव्य में स्वाभाविकता एवं सरलता की प्रबलता होने के कारण इस अलंकार का प्रयोग बहुत कम हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है--

गणतां गणतां घिस गयां रेखां, आंगरियां री सारी[2]।

<u>उदाहरण</u>

इस अलंकार का प्रयोग पदावली में सामान्यतः प्राप्त होता है, यथा--

तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं, जैसे सूरज घामा[3]।

<u>अर्थान्तरन्यास</u>

हेरी म्हां तो दरद दिवाणी म्हारां दरद न जाण्यां कोय ।
घायल री गत घायल जाण्यां, हिवड़ो अगण संजोय
जौहर की गत जौहरी जाणै, क्या जाण्यां जिण खोय[4]।

इस प्रकार मीरां पदावली का अनुशीलन करने के उपरान्त निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि यद्यपि मीरां की कविता में भाव पक्ष प्रधान होने के कारण काव्य पक्ष गौण प्रतीत होता है, परन्तु अलंकारों का नितान्त अभाव नहीं है।

---

१ पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरांबाई की पदावली', पृ०१२६, पद सं०७२।
२ वही, पृ० १२३, पद सं०६०
३ वही, पृ० १३३, पद सं०११२ ।
४ वही, पद सं०७० ।

रसयोजना

मीरां पदावली का अध्ययन कर लेने के पश्चात् निष्कर्षरूप में यह कहा जा सकता है कि मीरां की रस-योजना के अन्तर्गत केवल दो ही रस आते हैं -- शृंगार रस और शान्तरस। उनके अनेक पदों में करुण रस की अभिव्यक्ति भी परिलक्षित होती है, पर वह करुण रस नहीं है, बल्कि वियोग शृंगार की करुणा है। इसी प्रकार अनेक पदों में वीर, रौद्र, भयानक, तथा वीभत्स रसों का आभास मिलता है, किन्तु वे भक्ति की प्रेरणा के ही अन्तर्गत आए हैं। अतः इन्हें रस न मानकर भाव मानना ही अधिक उपयुक्त होगा।

शृंगार रस

साहित्य में शृंगार रस का निरूपण दो प्रकार से हुआ है-- लौकिक निरूपण और अलौकिक निरूपण। लौकिक निरूपण में पार्थिव नर-नारियों की प्रणय-लीलाओं का चित्रण होता है और अलौकिक निरूपण में अनुराग का आलम्बन पार्थिव प्राणी नहीं, बल्कि परमात्मा होता है। इस प्रकार के शृंगार को 'आध्यात्मिक शृंगार' भी कहते हैं। कृष्ण-भक्त-कवियों का शृंगार-निरूपण इसी प्रकार का है। शृंगार रस के भी दो भेद हैं-- विप्रलम्भ शृंगार और संयोग शृंगार। इनके भी कई उपभेद हैं। मीरां के पदों में शृंगार रस के समस्त भेद-उपभेद पूर्णता के साथ समाविष्ट मिलते हैं। यद्यपि मीरां की रस सम्बन्धी कोई ऐसी योजना नहीं थी, किन्तु वे इतनी तन्मयता और आत्मविभोरता से कृष्ण-स्मरण की धुन में रहती हैं कि शृंगार के समस्त भेदोपभेद स्वयमेव उनकी वाणी में प्रस्फुटित हो गए हैं।

मीरां का विरह-वर्णन पूर्णतया आत्मानुभूतिक है, किन्तु इसमें मात्र परम्परा का निर्वाह नहीं है। एक विरहिणी की व्याकुल तथा अनुरागमयी आत्मा का करुण आर्तनाद उनके पदों में दृष्टिगोचर होता है। मीरां का आत्मानुभूत विरह पार्थिव वेदना की एक ऐसी प्रकाशमयी कसौटी

है। 'घायल की गति घायल जाणै' के अनुसार उनके विरह का वास्तविक एवं यथार्थ एक मूल्यांकन वही कर सकता है,जो स्वयं विरहानल की लपटों का अनुभव कर चुका हो।

शान्तरस

मीरां जन्मत: भक्त थीं। अत: संसार के प्रति उदासीनता का भाव होना स्वाभाविक है। उनके अनेक पदों में सत्संग की महिमा एवं संसार के प्रति विरक्ति के भाव व्यंजित हैं,यथा--

स्याम बिन दु:ख पावां सजणी,
कुण म्हां धीर बंधावां।
यो संसार कुबुधि रो भांडो, साध संगत णा भावां।
साधां जणारी निंदा ठणां, करम रा कुगत कुमावां। [1]
राम नाम बिनि मुकुति न पावां, फिर चौरासी जावां।

सारांशत: कहा जा सकता है कि यद्यपि मीरां का ध्यान रस-योजना की ओर बिल्कुल नहीं था, तथापि उनकी रस-योजना उत्कृष्ट एवं प्रभावशाली है। उनकी रस-योजना में एक ओर प्रेम की यथार्थ अनुभूतियों के दर्शन होते हैं और दूसरी ओर वे काव्यशास्त्र के निकष पर भी खरी उतरती हैं। मीरांबाई का मुख्य प्रतिपाद्य शृंगार है। शृंगार के दोनों भेदों का सम्यक् परिपाक उनके पदों में मिलता है, पर संयोग की अपेक्षा वियोग वर्णन अधिक सजीव एवं चित्ताकर्षक है। इसका मुख्य कारण है कि मीरां विरहिणी हैं। विरह का स्वर इनका अपना है। संयोग की कल्पना विरह की भाव उद्दीप्त करने के लिए हुई है। डा० कृष्णलाल के शब्दों में मीरां की विरह-भावना का मूल्यांकन इस प्रकार किया गया है--'हिन्दी के अधिकांश आलोचकों ने जायसी के

---

1 पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरांबाई की पदावली' पद सं०१२६।

किया जाय[1]। फिर भी मीरां पदावली में ढूंढने पर निम्न छन्द सार, सरसी, विष्णुपद, उपमान, दोहा, समान सवैया, शोभन, ताटंक, कुंडल, चांद्रायण, बरवै, सखी आदि मात्रिक छन्द प्राप्त होते हैं। यद्यपि मीरां पदावली का कोई भी छन्द अपनी शुद्ध शास्त्रीय स्थिति में नहीं है तथा गायन की सुविधा के लिए छन्द में मात्राएं घटा-बढ़ा दी गई हैं, किन्तु इन पदों का महत्वशाली संगीतात्मकता, भावमयता, मधुरता, सरसता और रमणीयता की एकांत सम्पन्नता के कारण है[2]।

अब मीरां के प्रमुख छन्दों के लक्षण सोदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं--

सार छन्द

इस छन्द का प्रयोग मीरां ने सबसे अधिक किया है। यह मात्रिक छन्द है, जिसमें १६ और १२ के विराम से २८ मात्राएं होती हैं। इसके अन्त में दो गुरु आते हैं, किन्तु किसी-किसी में उनके स्थान पर केवल एक या तीन गुरु भी आते हैं। इसकी रचना मुख्यतया १६मात्राओं का चौपाई के तुल्य होती है। पिछली १२मात्राओं में ३ चौकल अथवा २ त्रिकल १ चौकल और १ गुरु आता है। पदावली में प्रयुक्त पद संख्या ८६, १०५, में 'रे'; ३६ में 'री', १५० में 'रो' आदि के प्रयोग से उन्हें स्तोभ कहा जा सकता है। यह मीरां का सर्वप्रिय छन्द मालूम पड़ता है, क्योंकि पदावली के लगभग एक तिहाई पदों में इसका प्रयोग हुआ है। सार छन्द का एक उदाहरण प्रस्तुत है--

आज अनारी ले गयो सारी, बैठी कदम की डारी हे माय।
म्हारे गेल पड़यो गिरधारी, हे माय, आज अनारी०[3]।

---

१ पं० परशुराम चतुर्वेदी : "मीरांबाई की पदावली", पृ०५५

२ धीरेन्द्र वर्मा : "हिन्दी साहित्य कोश", भाग१, पृ०२४३

३ पं० परशुराम चतुर्वेदी : "मीरांबाई की पदावली", पद सं०१४५।

उपर्युक्त छन्द निर्दोष नहीं है, क्योंकि इसमें "है माय" शब्द का प्रयोग मात्राओं को बढ़ा रहा है।

सरसी छन्द

इस छन्द का भी प्रयोग मीरां ने कुछ किया है। यह भी मात्रिक छंद है, जिसमें १६ और ११ के विराम से २७ मात्राएं होती हैं। इसके अन्त में गुरु एवं लघु आते हैं और इसका दूसरा पद दोहे के सम चरणों के समान ही होता है। इसके प्रयोग में भी सार छन्द के समान ही त्रुटियां पाते हैं, यथा--

हो कानां किन गूंथी जुल्फां कारियां।
सुघर कल प्रवीण हाथन सूं जसुमति जू नै सवारियां[1]।

उपमान छन्द

इस उपमान छन्द में १३ और १० के विराम से २३ मात्राएं होती हैं और अन्त में दो गुरु आते हैं, परन्तु गाने की सुविधा के लिए सर्वत्र "हो" शब्द बढ़ा दिया गया है। यथा--

क्या प्रभु बाण न दीजे हो।
तन मन धन करि वारणे, हिरदे धरि लीजे हो[2]।

समान सवैया छन्द

इसमें १६-१६ मात्राओं के विराम से ३२ मात्राएं होती हैं और अन्त में भगण (S।।) होता है। पद संख्या ४६ के अन्त में भगण न आकर मगण (SSS) आया है। इसके पदावली में ७ उदाहरण हैं--जो नियम की सीमा से परे हैं, यथा--

डारि गयो मोहन पासी।
आंबा की डालि कोयल इक बोले, मेरो मरण अरु जग केरी हांसी।

---

१ पं० परशुराम चतुर्वेदी : "मीरांबाई की पदावली", पद सं० १४२.
२ वही, पद १६

शोभन छन्द

इसमें १४ और १० के विराम से २४ मात्राएं होती हैं और अन्त में जगण (।ऽ।) होना चाहिए। मीरा के काव्य में इस छन्द का शुद्ध प्रयोग नहीं मिलता, बल्कि मिश्रित रूप मिलता है, यथा--

जोगिया जी आज्यो जी इण देस।
नैणज देखूं नाथ ने धाइं करूं आदेस[1]। आदि

इसमें शोभन तथा सरसी छन्द का मिश्रण है, यथा--

माई मेरो मोहने मन हर्यो।
कहा करूं कित जाऊं सजनी, प्रान नाथे बर्यो[2]।

उपर्युक्त पद में शोभन एवं रूपमाला का मिश्रित प्रयोग द्रष्टव्य है।

ताटंक छन्द

इसमें १६ और १४ के विराम से ३० मात्राएं होती हैं। अन्त में मगण (ऽऽऽ) आना चाहिए, पर कहीं-कहीं एक गुरु का प्रयोग भी देखा जाता है। पदावली में इस छन्द के सभी उदाहरण प्राय: एक गुरु वाले हैं।

कुंडल छन्द

इस मात्रिक छन्द में १२ और १० के विराम से २२ मात्राएं होती हैं और अन्त में दो गुरु आते हैं। पदावली में इसके उदाहरणों में २ का शुद्ध प्रयोग हुआ है, यथा--

माई सांवरे रंग रांची।
साज सिंगार बांधि पग घुंघरू, लोक-लाज तज नाची[3]।

---

१ पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'मीराबाई की पदावली' पद सं०११६
२ वही, पद सं०[illegible]
३ वही, पद सं० १८

मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त वर्णिक छन्दों के २ उदाहरण सवैया और कवित्त के मिलते हैं, किन्तु प्रधानता मात्रिक छन्दों की ही है।

वस्तुत: मीरां की छन्द-योजना भेद होने पर भी कुछ नहीं है और यत्र-तत्र अनेक प्रकार के दोष मिलते हैं। डा० रामकुमार वर्मा का मत इस सम्बन्ध में विचारणीय है--"मीरांबाई के पदों में छन्दों का कम ध्यान है। मात्राएं भी कहीं घटी-बढ़ी हैं, पर राग रागिनियों में रचना का क्रम रखने के कारण गान की क्रम मात्रा को विषमता को ठीक कर देती है।"[१]

संगीत योजना

मीरांबाई की संगीत पक्ष को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं -- गायन, वादन और नृत्य। प्रत्येक का विवरण क्रमश: निम्नलिखित है--

गायन

गायन संगीत का मुख्य तत्व है। पदावली के अवलोकन से पता चलता है कि मीरांबाई ने निम्नलिखित राग-रागिनियों का प्रयोग किया है-- मालकोश, गुनकली, कल्याण, कम्भाव, पीलू, पीलूरी, टोडी, बिलावल, रामकली, दरबारी, मल्हार, यमनी कल्याण, सारंग, धानेश्री, आनन्द भैरो, भैरवी, आसावरी, प्रभाती, सिंध भैरवी, भीमपलासी, बटबिलावल, मारू, पूर्वी, ललित, शुद्ध सारंग, रागश्री, सामी इत्यादि।

शास्त्रीय दृष्टि से गायन के लिए गीतों का रागबद्ध होना आवश्यक है। राग विहाग का यह उदाहरण द्रष्टव्य है--

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ०४८८

काव्य में गायन,वादन तथा नृत्य की त्रिवेणी का संगम है,जो अन्यत्र दुर्लभ है।

भाषा-शैली

मीरां के काव्य में प्रक्षिप्तांशों के कारण निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह तो निश्चित ही है कि उनका जीवन कुछ विशिष्ट मान्यताओं को लेकर आगे बढ़ा है। उन्हें जीवन में जो कुछ पसन्द आया उसे उन्होंने ग्रहण किया। भाषा के सम्बन्ध में भी हमें उनकी इसी स्वच्छन्द प्रकृति के दर्शन होते हैं। मीरा के पद अनेक भारतीय भाषाओं में प्राप्त होते हैं। मीरां के जीवन के तीन प्रमुख निवासस्थल रहे हैं-- राजस्थान, वृन्दावन और द्वारका। उक्त तीनों प्रान्तों की भाषाएं क्रमशः राजस्थानी, ब्रजभाषा और गुजराती हैं। मीरां के प्रत्येक पद की भाषा एक-सी नहीं है, किन्तु अधिकांश प्रयोग राजस्थानी,ब्रजभाषा,गुजराती अथवा कहीं-कहीं पंजाबी, खड़ीबोली एवं पूरबी तक का न्यूनाधिक मात्रा में सम्मिश्रण हुआ है।[1] उनके काव्य में व्याकरण सम्बन्धी नियम सामान्यतया भाषा के ही अनुसार बरते गए हैं।[2] इसके अतिरिक्त मीरां के काव्य में अरबी फारसी के तत्कालीन प्रचलित शब्दों का भी अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है।[3] अब मीरांबाई की पदावली में प्रयुक्त विभिन्न भाषाओं के उदाहरण प्रस्तुत हैं--

राजस्थानी

(क) मैं तो थाका ढबाड़ी दीनानाथ, मैं हाजिर नाजिर कब की खड़ी।
साजणियां दुश्मण होय बैठ्या, सब ने लगूं कड़ी। आदि
(पद १९८)

(ख) स्याम म्हां बांहड़ियां जी गह्यां।
(पद १३८)

(ग) मुझ अबला ने मोटी नीरांत भई रे। शामळो घरेण मारे सांचु रे।
(पद १९१)

---

1 पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरांबाई की पदावली', पृ०७८
2 वही
3(क) [illegible] : हिन्दी भाषा और साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास

की मात्रा अति की सीमा तक पहुंच जाती है । स्नेह में चिकनापन होता है। सम्भवत: इसी कारण मीरां का दर्शन प्रेम की अधिकता से फिसल पड़ता है। मीरां में तन्मयता है, विह्वलता है, मिलन की चिर अभीप्सित अभिलाषा है और इसीलिए वे प्रेम में विभोर मालूम पड़ती हैं । अक्क महादेवी में ज्ञान की मात्रा चरम स्थिति पर है । यद्यपि वे भी अपने इष्टदेव से मिलन हेतु व्याकुल-मना हैं, उनमें भी बेचैनी है, किन्तु उनका दर्शन हिमालय की तरह अटल तथा कठिन है ।

अक्क महादेवी और मीरांबाई दोनों भक्त-कवयित्रियों के साहित्य में भक्ति का स्वरूप भी समानान्तर रेखाओं की भांति दृष्टिगत होती हैं । अक्क महादेवी जी की भक्ति का स्वरूप वीरशैव सिद्धान्त का अनुगामी है तो मीरां की भक्ति में वैष्णव भक्ति भावना की नवधा भक्ति के दर्शन होते हैं । अक्क महादेवी में भक्ति का शुद्ध एवं निर्मल स्वरूप मिलता है, किन्तु मीरां की भक्ति प्रणय भावनाश्रित है, इसीलिए अक्क महादेवी की अपेक्षा मीरां में औचित्य श्रद्धा की भावना प्राय: कम मिलती है ।

यद्यपि अक्क महादेवी और मीरांबाई दोनों ही अपने-अपने आराध्य के प्रेम में तल्लीन हैं, किन्तु दोनों के प्रेम-पथ भिन्न-भिन्न हैं । मीरां की स्थिति अपने आराध्य के प्रेम में विक्षिप्त जैसी दिखाई देती है । जगत् की अन्य वस्तुओं को या तो वे भूल जाती हैं या उस ओर कभी आकृष्ट ही नहीं होतीं, किन्तु अक्क महादेवी में ऐसी बात नहीं, वे सदैव सजग रहती हैं और अपने को भूलती होती नहीं हैं । जीवन की अत्यन्त तन्मय स्थिति में भी उन्हें ज्ञान एवं "स्व" के अस्तित्व का ज्ञान बना रहता है । मीरां प्रेम में इतनी अधिक तन्मय हो जाती हैं, कि उन्हें प्रेम के अलावा कुछ बिल्कुल नहीं भाता है । मीरां अपने आराध्य से पूर्व जन्म का तथा जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध स्थापित करती हैं । अक्क महादेवी के साहित्य में इस प्रकार की उक्तियों का अभाव है । मीरां मानती हैं कि प्रियतम से मिलकर बिछुड़ना ठीक नहीं है, अब कि

अक्क महादेवी और मीरां के काव्य में संगीत-कला पर विचार करने पर मीरां बहुत आगे बढ़ जाती हैं । मीरांबाई के पदावली में लगभग ७० राग-रागिनियों का उल्लेख है, जब कि अक्क महादेवी में इसका अभाव है । जहां तक वाद्य का सम्बन्ध है, अक्क महादेवी के साहित्य में वाद्य का उल्लेख नहीं है, किन्तु मीरां में अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्रों का उल्लेख हुआ है । नृत्य में भी मीरां अक्क महादेवी से बहुत आगे हैं । मीरां नृत्य में अत्यन्त निपुण हैं, जब कि अक्क महादेवी के काव्य में इसका सर्वथा अभाव है । यही अक्क महादेवी और मीरांबाई का कलागत काव्य भेद है ।

दोनों ही भक्त-कवयित्रियों की भाषा-शैली प्रायः एक जैसी ही सरल, सरस तथा प्रवाहयुक्त है । मीरां की भाषा का कोष अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है । इसका कारण मीरां के काव्य में लौकिक अंश भी हो सकता है, किन्तु अक्क महादेवी में इसमें लौकिक अंश नहीं मिलते । दोनों के काव्य में मुहावरों और लोकोक्तियों का स्वाभाविकता से प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार ग्रामीण, देशज और संस्कृत शब्दों के प्रयोग में भी वे दोनों एक समान हैं । मीरां की अपेक्षा अक्क महादेवी की भाषा में अलंकार अपेक्षित अधिक है । मीरां में काव्य-कला, संगीत-कला और नृत्य-कला की त्रिवेणी प्रवाहित है, किन्तु अक्क महादेवी का मार्ग अपेक्षाकृत संकुचित है ।

—०—

अध्याय — ६

अक्क महादेवी तथा मीरां बाई के पदों

का

तुलनात्मक विवेचन

अध्याय -- ६

अक्क महादेवी तथा मीरां बाई के पदों
का
तुलनात्मक विवेचन

अक्क महादेवी तथा मीरांबाई ने साकार ब्रह्म की उपासना दाम्पत्य-प्रेम के माध्यम से की है । इस प्रकार की उपासना तभी सम्भव होती है, जब साधक को उस साकार ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाला आचार्य अथवा गुरु का सान्निध्य प्राप्त हो । गुरु ही मार्ग-दर्शन करता है, जिसका आश्रय लेकर साधक उपासना के क्षेत्र में अवतरित होता है । इसीलिए भक्ति-मार्ग में गुरु को अधिक महत्व दिया जाता है । इष्टदेव का स्वरूप अलौकिक होता है, जिसके दर्शन की लालसा साधक में अत्यन्त उत्कट होती है । इस प्रकार साधक भिन्न-भिन्न उपायों से अपने इष्टदेव की प्राप्ति करता है, उसका उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है । अक्क महादेवी तथा मीरा ने भिन्न-भिन्न साधनों से अपने इष्टदेव को प्राप्त किया है, उन साधनों के प्रति व्यक्त की गई भाव-धाराओं का विभाजन करते हुए तुलनात्मक विवेचन किया गया है ।

मानवजीवन की समुद्र में झाँकने वाली खिड़कियों में नयनों का सौन्दर्य अनिर्वचनीय है । वास्तव में साधारण लगने वाली इन खिड़कियों में ज्ञान और भाव का सागर भरा हुआ है । जीवन-रूपी सागर

के धरातल से परे, गहराई में जाकर उन्होंने तथ्यों की खोज की । तमिल प्रदेश के अल्वार, नायनार, कन्नड प्रदेश के महात्मा बसवेश्वर, अल्लम प्रभु, चेन्न बसवेश्वर, कर्मयोगी सिद्ध रामेश्वर (कन्नड संत) तथा उत्तर भारत के कबीर, तुलसीदास, सूरदास, चैतन्य आदि भक्त देश और काल की सीमा को पार करके महती विभूति बनकर जन-कल्याण में महान योग देते रहे हैं । उनका चरित्र सभी काल में मार्ग-दर्शक सिद्ध हुआ । ऐसी विभूतियों में अक्क महादेवी एवं मीरांबाई अनन्य हैं । दक्षिण भारत की महान कन्नड कवयित्री अक्क महादेवी का प्रत्येक वचन अमूल्य निधि है । १२ वीं शताब्दी के आध्यात्मिक एवं कन्नड साहित्य के क्षेत्र में उनका वही स्थान है, जो मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में मीरां बाई का है । दोनों कवयित्रियों ने आध्यात्मिक एवं साहित्यिक अनुभवों की अभिव्यक्ति अपने-अपने ढंग से किया है, जो भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के भावात्मक एकता के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है ।

दोनों कवयित्रियों ने मानव-जीवन के विविध रूपों को अपनी भक्ति-धारा में अभिव्यक्त किया है, जिसके प्रभाव से भव-सागर से साधारण जन भी पार हो सकते हैं । भक्ति की तल्लीनता तथा माधुर्य से अक्क महादेवी तथा मीरां बाई के पद ओत-प्रोत हैं । उनके पदों में लय तथा स्वर की सम्पन्नता का निदर्शन होता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अक्क महादेवी तथा मीरां के भाव, विचार तथा शिल्प-विधान अलग-अलग होते हुए भी एक ही परात्पर ब्रह्म में लीन होने का पावन सन्देश देते हैं । उनके रास्ते अलग-अलग हैं, फिर भी वे एक ही परमात्मा की स्थिति में पहुंच जाते हैं, क्योंकि ब्रह्म एक है, जो भिन्न-भिन्न उपाधियों से विशिष्ट हो जाने के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में उपासना का विषय बन जाता है । "न हि उपाधिभेदात् वस्तुभेदः" अर्थात् उपाधि के भेद से वस्तु में भेद नहीं होता ।

अक्क महादेवी एवं मीरांबाई के पदों में व्यक्त भाव-धारा का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत प्रकरण में करने का प्रयास किया जा रहा है ।

दोनों कवयित्रियों ने अपनी रचनाओं में भक्ति-तत्व को मूर्त एवं साकार बनाने का जो प्रयत्न किया है, वह अत्यन्त ही सारगर्भित तथा सराहनीय है ।यहां पर दोनों कवयित्रियों की रचनाओं के उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं --

गुरु की महिमा

अक्क महादेवी एवं मीरांबाई दोनों भक्त-कवयित्रियों ने समानरूप से गुरु की महिमा गाई है, अत: गुरु की महत्ता उनके पदों में व्यापक रूप से व्यक्त हुई है । अक्क महादेवी का एक पद इस प्रकार है:--

नर जन्मव तोडेदु हर जन्मव माडिद गुरुवे, नमो ।
    भव बंधनव बिडिसि परम सुख तोरिद गुरुवे नमो ।
    भवि येंबुद तोडेदु भक्त येनिसिद गुरुवे नमो ।
चेन्न मल्लिकार्जुन तंदेन्न
    कैवश माडिकोट्टु गुरुवे नमो,नमो ।[१]

-- अक्क महादेवी

अर्थात्-- हे, मैं अपने उस गुरुदेव को प्रणाम करती हूं,जिन्होंने मेरे इस मानव-शरीर को शिव-देव शरीर बना दिया है तथा सांसारिकता से पृथक् कर मुझे देवी-सुख प्रदान किया है । ऐसे गुरुदेव को मैं प्रणाम करती हूं, जिन्होंने चेन्न मल्लिकार्जुन को मेरे लिए सुलभ कर दिया है,अर्थात् उन्हें मेरे अधिकार में ला दिया है ।

---

१ डा० आर०सी० हिरेमठ : "महादेवी अक्कन वचनगळु",वचन ५६,पृ०२२ ।

मीरां के निम्नलिखित पद भी गुरु की महिमा के प्रति इसी प्रकार के भाव व्यक्त करते हैं—

पायो जी मैं तो राम रतन धन पायो ।।
वस्तु अमोलक दी म्हारे सत गुरु किरपा करि अपनायो ।
जनम जनम की पूंजी पाई, जग में सभी खोवायो ।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवै दिन-दिन बढ़त सवायो ।
सत की नाव खेवटिया सत गुरु, भव सागर तर आयो ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, हरख-हरख जस गायो ।।[1]

— मीरांबाई

अर्थात् — मेरे गुरु देव ने कृपा करके मुझे अपना कर अमूल्य वस्तु प्रदान की है। फलस्वरूप, मुझे राम रूपी रत्न-धन की प्राप्ति हुई है। यह पूंजी मेरे अनेक जन्मों के लिए पर्याप्त है। इस धन को मैंने अन्य समस्त सांसारिक वस्तुओं को खोकर प्राप्त किया है। यह ऐसा धन है, जिसे न तो खर्च किया जा सकता है और न तो चोर ही चुरा सकता है, साथ ही इसकी प्रतिदिन सवाया वृद्धि भी होती रहती है। गुरु की यह कृपा ही सत्यरूपी नौका है, जिसका मांझी भी वही गुरु है और वही इसको भवसागर से पार करता है। मीरां बाई का कहना है कि इसी हेतु मैं अपने भगवान गिरधर नागर का प्रसन्न मन से यशोगान करती हूं।

उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट है कि दोनों कवयित्रियों की गुरु की कृपा के प्रति आस्था प्रशंसनीय है।

---

१ पद्मावती 'शबनम' : 'मीरा-बृहत्-पद-संग्रह', पृ. १८४ ।

भावार्थ -- चाहे जितने प्रयास कीजिए, चाहे जिस उत्कंठा से प्रतीक्षा कीजिए, चाहे जितनी कामना कीजिए अथवा तप एवं साधना कीजिए, जो कुछ होना है वह अपने समय पर ही होगा। भगवत्कृपा के बिना सिद्धि प्राप्त करना संभव नहीं। हे चेन्न मल्लिकार्जुनय्या! मैं आप की ही कृपा से संत शिरोमणि बसवण्णा के श्री चरणों को देखती हुई जीवित रही। इस सन्दर्भ में मीरा की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य है-

तेरो मरम न पायो रे जोगी
आसण मांडि गुफा में बैठो, ध्यान हरि को लगायो।
गळ बिच सेली हाथ हाजरियो, अंग भभूति रमायो
मीरा के प्रभु हरि अविनाशी, भाग लिख्यो सो ही पायो।

भावार्थ- हे योगिराज कृष्ण! आपका का भेद मिलना सरल नहीं। इसके लिए चाहे आसन लगाकर कोई गुफा में ही बैठे रहे, या ध्यान मग्न अवस्था में अपने को ईश्वर करके चाहे बड़ी-बड़ी मालाएं धारण करके हाथ में पकड़ ले, या शरीर को राख में लपेट ले। मीरा कहती है कि, जिसके भाग्य में जो लिखा है, उसको ही मिलेगा।

<u>इष्टदेव के प्रति लगाव और सांसारिकता से विलगाव</u>

ईश्वर-स्मरण एवं सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण के विषय में, अक्क महादेवी, एवं मीरा बाई के पदों में समान भाव मिलते हैं। दोनों कवयित्रियों के पदों में सांसारिक प्रलोभनों को इष्टदेव की आराधना की तुलना में तुच्छ बताया गया है।

1- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी - मीराबाई की पदावली, पृ. [illegible]

अन्न नारोगिहुं जायारि सच्चो,
तम्मोड़गिर्द मत्ता धन बन रियल
चेन्न मल्लिकार्जुना[1] ।

- अक्का महादेवी

भावार्थ-जन साधारण का जीवन दिन भर तो रोटी की चिन्ता में व्यतीत होता है और रात्रि के बारह घंटे की अवधि वह विषय वासना में रत होकर व्यतीत कर देता है पर वह धोबी की भांति कीचड़ में ही रहता है, प्यास से त्रस्त अवस्था में, इस बात का ज्ञान नहीं रखता कि वह जल में ही खड़ा हुआ है। वे अन्तःकरण निहित वहां ज्योति को, हे चेन्न मल्लिकार्जुन ! नहीं समझते अर्थात् वे प्रभु के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सोच पाते हैं।

अक्क महादेवी की भांति ही मीराबाई की विचार धारा इस संदर्भ में द्रष्टव्य है-

प्रभु सो मिलण कैसे होय।
पांच पहर धन्धे में बीते, तीन पहर रहे सोय,
मानख जनम, अमोलक पायो, सोतै डारयो खोय,
मीरा के प्रभु गिरधर भजिया होगी होय सो होय[2] ।

भावार्थ- ईश्वर का साक्षात्कार किस प्रकार किया जाय ? क्यों कि मनुष्य के जीवन में पांच प्रहर का समय तो काम-धाम में ही बीत जाता है। शेष तीन प्रहर का समय वह सोने में बिता देता है। मीरा कहती हैं- हे मानव ! तूने यह अमूल्य मानव-जीवन सांसारिकता में पड़-कर यों ही व्यर्थ खो दिया। तुझे गिरधर नागर का भजन करना चाहिए। जो होनी है, वह तो होकर ही रहेगी, अतः उसकी चिन्ता

१- प्रो० बी०वी० शिरूर : 'अक्क महादेवी-वचनसार साहित्य', पृ-११२, वचन-९८
२- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : 'मीराबाई की पदावली', पृ-१०४, पद-१९५

मीरा भी कहती हैं :

बन्दे बन्दगी मति भूल ।
चार दिन की करले खूबी, ज्यूं दाड़िमका फूल,
आया था र लोभ के कारण, मूल गंवाया मूल,
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, रहना है बे-खबर ।[1]

भावार्थ — हे मनुष्य ! तू भगवान का भजन करना मत भूल । तू चार दिन की मौजबहार में फूल की तरह थोड़े दिन तक ऐश्वर्य इकट्ठा कर रहा है । तू तो इस लोभ से संसार में आया था कि यहां बहुत कुछ कमायेगा, किन्तु यहां आकर तूने अपना मूल भी गंवा दिया—जो कुछ तेरे पास था वह भी खो दिया । मीरा कहती हैं कि मेरे स्वामी गिरधर नागर हैं और उनके सामने निष्काम भाव से उपस्थित होना चाहिए ।

मीरांबाई के एक दूसरे पद में भी यही भाव समाहित है —

नाईं म्हारो जनम बारम्बार ।
पुरबला कोई पुण्य खूट्यां माणसा अवतार ।
बढ़्या छिन छिन घट्या पल पल, जातना कछु बार ।
बिरछां रो पात टूट्या, लाग्या ना फिर डार ।
भौ समुन्द अपार देखां अगम ओछी धार ।
लाल गिरधर तरण तारण, बेग करस्यो पार ।
दासी मीरां लाल गिरधर, जीवणा दिन चार ।[2]

भावार्थ - मनुष्य का जन्म बार बार नहीं मिलता । पूर्व जन्म के बहुत बड़े पुण्य

---

१ आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : "मीरांबाई की पदावली", पद १६८, पृ० १७७।
२ वही, पद १५६ ।

समायामि यागिर देवु ।[1]

– अक्क महादेवी

भावार्थ- संसार में जन्म पर निंदा एवं स्तुति को मन में नहीं लाना चाहिए । दोनों स्थितियों में समान भाव से रहना चाहिए ।

अक्क महादेवी की भाँति ही मीराबाई की विचार धारा इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है:-

लोक लाज कुलरा, मर ज्यादां कानों
लोकणा राख्या री ।[2]

भावार्थ- इस जग में आकर लोक लज्जा व कुल की मर्यादा का तनिक भी ध्यान नहीं रखना चाहिए, इन दोनों को भूल कर प्रीतम(हरि) से प्रेम रखना चाहिए ।

<u>सत्संग- लाभ</u>

संत-समाज का जीवन मुख्यतया सत्संग में व्यतीत होता है। इस संदर्भ में अक्क महादेवी जी का कथन है कि :-

परिमळव रोळने संगव माडिदडे
कल्ल होय्दु किडिय हेडु कोंबे
बल्लव रोळने संगव माडि दडे
मोसर होसेदु बेण्णेय हेडु कोंबे
चेन्न मल्लिकार्जुनय्या निम्म शरणर
संगव माडिदडे कर्पूर गिरि, हरि कोंबे ।[3]

– अक्क महादेवी

भावार्थ- दुर्जन लोगों की संगत का फल पत्थर मारने पर आग निकले जैसा

१- सिद्धार्थ-राम चन्द्र सिमारर्ट : "वचन सांख्य", पृ०-[illegible], वचन-[illegible]
२- आचार्य परशु राम चतुर्वेदी : "मीराबाई की पदावली", पृ०-[illegible], पद-[illegible]
३- डा० आर० सी० हिरेमठ : "महादेवी अक्कन वचन गळु", पृ०-[illegible], वचन-[illegible]

होता है । उसके विपरीत सज्जनों की संगति का परिणाम दही के मंथन के पश्चात् निकले हुए मक्खन के समान होता है। हे चेन्न मल्लिकार्जुनय्या जिस प्रकार कपूर का पर्वत थोड़ी-सी अग्नि के संसर्ग से पूरा का पूरा जल जाता है उसी प्रकार आपके संतों के सत्संग में आने पर मेरा सारा जीवन प्रकाशमय हो जायगा ।

सत्संग की महिमा का गान करते हुए मीराबाई जी कहती हैं:--

तज कुसंग सत्संग बैठ नित , हरि चरचा सुण लीजै ।

भावार्थ - तू कुसंगति को छोड़कर अच्छी संगति में बैठ कर सदैव हरि की चर्चा सुना कर ।

वीरशैव संतों की कर्म-भूमि कल्याण धाम

एवं

वैष्णव संतों की कर्म-भूमि वृन्दावन धाम का

वर्णन

वीरशैव संतों की कर्म-भूमि कल्याण धाम एवं वैष्णव संतों की कर्म-भूमि वृन्दावन धाम के सम्बन्ध में दोनों कवयित्रियों के पदों में साम्य है :-

कलुया निम्म शरणर [illegible]बरे पावन कल्या
कलुया, निम्म शरणर, कद पुले कैलास कल्या
चेन्न मल्लिकार्जुनय्या ,
निम्म शरण बसवण्ण निंद दो ब,
अविमुक्त क्षेत्र वागि
आनु बसवण्णन श्री पाद कंडे

1- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : मीराबाई की पदावली, पृ०-१६८,पद-१९६ ।

नमो नमो एनु तिर्दनु[1]।

-- अक्क महादेवी

भावार्थ-- चेन्नमल्लिकार्जुन देवा, आपके भक्तोंने जिस स्थान से भ्रमण किया है, उस भूमि की पवित्रता,सराहनीय है । जहां भक्त गण निवास करें, वही कैलाश है । भक्त द्वारा प्रयुक्त भूमि ही शिव-मन्दिर है । आपके भक्त संत बसवेश्वर का स्थान मोक्ष-धाम है । ऐसे उन बसवेश्वर के श्री चरणों को मैं वन्दना करती हूं ।

वृन्दावन के प्रति यों तो संत भक्त-कवियों ने अपने-अपने अनुराग प्रकट किए ही हैं, परन्तु मीरा के भावों में जो गहराई परिलक्षित होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्यांश उल्लेखनीय है --

आली म्हाणे लागां वृन्दावन नीकां ।।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरसण गोविन्द जी कां ।
निरमल नीर बह्यां जमणा मां, भोजन दूध दही कां ।
रतन सिंघासण आप बिराज्यां, मुगट धर्यां तुलसी कां ।
कुंजन-कुंजन फिर्यां सांवरा, सबद सुण्यां मुरली का ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, भजण बिना नर फीकां ।।[2]

भावार्थ-- मीरां कहती हैं-- मुझे वृन्दावन बड़ा ही भला लगता है । इस वृन्दावन में घर-घर तुलसी और शालिग्राम (ठाकुर) की पूजा होती है और लोग गोविन्द जी का दर्शन करते हैं । यहां यमुना का निर्मल जल प्रवाहमान रहता है । यहां के लोग भोजन में दूध और दही का उपयोग करते हैं । वृन्दावन में भगवान श्याम स्वयं रत्न-सिंहासन पर तुलसी का मुकुट धारण करते हुए शोभायमान हो रहे हैं । हरे कुंजों में श्याम(श्रीकृष्ण) विहार

---

१ प्रो० [illegible] सं० : शून्य सिद्ध व वीरशैव [illegible]
प्रभु देवर शून्य संपादने,[illegible],पृ०१२८

२ आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : "मीरांबाई की पदावली",पृ० [illegible]

करते हैं, जिससे मुरली का मधुर स्वर सदैव सुनने को मिलता है । मीरांबाई कहती हैं कि गिरिधर नागर के भजन बिना मानव-जीवन सर्वथा नीरस ही रहता है ।

वेदानुभूति

प्रेम-वेदना की अनुभूति केवल भुक्त-भोगी ही व्यक्त कर सकता है, इस सम्बन्ध में दोनों कवयित्रियों का विचार प्राय: एक-सा है --

बंजे तायिय बेने यन रिवळे ?
बलदायि मग मुद्द बल्ळे ?
नोंदवर नोव नोयदवरेत बल्लरे ?
चेन्न मल्लिकार्जुनय्या निरिब कु
बल्लालिड मुरिदु होरळ चेन्नङ्कनु
निमेत बल्लिरे, एले तायि गळिरा ?[१]
-- अक्क महादेवी

भावार्थ -- बांझ स्त्री प्रसव-वेदना के बारे में क्या बता सकती है? सौतेली माँ वास्तविक माता-द्वारा प्राप्त चुम्बन के आनन्द के बारे में क्या जानेगी ? दुखी के दर्द और पीड़ा को दूसरा क्या जानेगा ? हे माताओं ! चेन्न-मल्लिकार्जुन का प्रेम मेरे शरीर में नुकीले तीर की भांति भीतर प्रवेश कर गया है । उस चुभन की पीड़ा से मेरी अकुलन जो बढ़ गई है, उसे दूसरा नहीं जान सकता है ।

उपर्युक्त भावना मीरांबाई अपने निम्नलिखित पद्यांश में व्यक्त करती हैं--

---

१ [illegible] : महादेवी अक्कन वचनगळु, पृ० १२८वचन २८१

हेरी म्हां दरद दिवाणां म्हारां दरद न जाण्यां कोय ।।
घायल री गत घायल जाण्यां, हिवड़ो अगण संजोय ।
जौहर की गत जौहरी जाणै, क्या जाण्यां जिण खोय ।
दरद की मार्‍या दर दर डोल्यां बैद मिल्यां नहिं कोय ।
मीरां री प्रभु पीर मिटांगा जब बैद सांवरों होय ।।[1]

-- मीराबाई

भावार्थ -- अरी मां, मैं तो दर्द के कारण बिलकुल पागल हो गई हूं, मेरी पीड़ा को कोई नहीं जान सकता । घायल की गति को केवल घायल ही जान सकता है, अन्य नहीं । जवाहर की जौहरी ही परख सकता है, वह क्या जानेगा जिसके पास से जवाहर खो गया है । मैं पीड़ा के मारे दर-दर व्याकुल होकर घूम रही हूं । अभी तक उसकी चिकित्सा करने वाला कोई वैद्य नहीं मिला है । मीरा कहती हैं, मेरी पीड़ा तो तभी मिटेगी, जब सांवरिया वैद्य(भगवान श्रीकृष्ण) की प्राप्ति हो जायगी ।

<u>संयोग-वियोग विषयक उद्भावना</u>

संयोग एवं वियोग के सम्बन्ध में महाकवयित्री अक्क महादेवी द्वारा मधुर भाव इस प्रकार व्यक्त होता है--

कूडि कूडुव सुखदिं
[illegible] नाडि बळे काण दिर होर
देव देव देव मल्लिकार्जुन
[illegible] कूडि सुख [illegible] ।[2]

-- अक्क महादेवी

---

१ आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरां बाई की पदावली', पृ० १२० - १२१ [illegible]
२ डा० आर०सी० हिरेमठ : 'शिवशरणरुमा [illegible]', पृ० [illegible] २५ ।

भावार्थ — हे मां ! मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मैं अपने आराध्यदेव चेन्नमल्लिकार्जुन को देख रही हूं । इतना ही नहीं, देखते- देखते मेरी आंखें झंपी जा रही हैं, मेरी स्मृति खो बैठी है और मैं सुनते-सुनते खो गई हूं । मिलन का भी ध्यान नहीं रहा । चेन्नमल्लिकार्जुन से मिलना अब किस प्रकार हो, यह बात समझना भी मैं भूल गई हूं ।

इसी प्रकार मीरांबाई की निम्नलिखित पंक्ति भी द्रष्टव्य है:

रूप देख अटकी, तेरो रूप देख अटकी ।।
देह से विदेह भई, हरि पारि सिर मटकी ।[1]

भावार्थ — मीरां कृष्ण से कहती है कि तुम्हारा प्रेमपूर्ण सौन्दर्य देखकर मैं तो सौन्दर्य के प्रति स्तब्ध हो गई और अपनी सुधि-बुधि इस प्रकार भूल गई हूं कि शारीरिक होते हुए भी अशारीरिक हो गई हूं । मुझे अपने सिर पर रखे हुए मटके का ह भी स्मरण नहीं रहा और इसीलिए वह गिर भी गया ।

विवाह का वर्णन

दोनों कवयित्रियां अपने को अपने आराध्यदेव की परिणीता मानती हैं और अपने परिणय के समय का, स्थान का तथा अन्य बातों का भी वर्णन करती हैं, उनमें विविध भावनात्मक विचारधारा द्रष्टव्य है । यहां अक्क महादेवी का निम्नलिखित वचन द्रष्टव्य है :

---

१ पद्मावती "शबनम" : "मीरां-वृहत्-पद-संग्रह, पृ० २४

पच्चेय मेळ गट्टु-कनकद तोरण, वज्र कंब-
पवळद चप्पर विविध मुत्तु माणिकद मेलु कट्टु कट्टि,
मदुवे माडिदरु, एम्म वरेन्न मदुवेय माडिदरु ।
कंकण कै धारे स्थिर सेसेयनिक्कि,
चेन्नमल्लिकार्जुन नेंब गंडोन्न मदुवेय माडिदरु[1] ।

— अक्क महादेवी

भावार्थ — बहुमूल्य पत्थर से भूमि खचित है, सुवर्ण के तोरण बने हैं, वज्र का विवाह-स्तम्भ है । उसमें मोती एवं माणिक्य की कतारें लटक रही हैं । ऐसी सजावट के मध्य मेरे स्वजनों ने मेरा विवाह करा दिया । हाथ में पाट-सूत्र का कंकण बांधकर चावल का स्पर्श कराकर चेन्नमल्लिकार्जुन देव, पति के साथ मेरा विवाह कर दिया गया ।

इसी सन्दर्भ में मीरांबाई का निम्नलिखित पदांश द्रष्टव्य है:

माई म्हारी सुपणा मां परण्यां दीनानाथ ।
छप्पन कोटां जणां पधार्‍यां दूल्हो सिरी ब्रजनाथ ।
सुपणां मां तोरण बंध्यारी सुपणां मां गह्या हाथ ।
सुपणां मां म्हारे परण गया पायां अचल सोहाग
मीरां रो गिरधर मिल्यारी, पुरब जनम रो भाग[2] ।।

भावार्थ — मीरा कहती है, हे सखी ! मेरा विवाह स्वप्न में दीनानाथ के साथ पूर्ण हुआ । मेरे विवाह की बारात में छप्पन कोटि जन (यदुवंशी) सम्मिलित हुए थे और श्रीकृष्ण दूल्हा बने थे । स्वप्न में ही द्वार पर तोरण बांधा गया था और उसी स्थिति में उनके साथ मेरा विवाह भी सम्पन्न हुआ था । मीरा कहती हैं कि पूर्वजन्म के ही भाग्य से गिरधर पति-रूप में मुझे प्राप्त हुए हैं ।

---

1 डा० [illegible] : "महादेवी अक्क[illegible] वचन" वचन सं० ११, पृ० २१
2 डा० [illegible] : "मीरांबाई की पदावली", पृ० १०८, पद २०।

भावार्थ -- मीरा कहती हैं कि हे मेरे प्यारे प्रियतम ! मेरे घर आओ । तुम्हारे लिए मैं कलियों की सेज बनाऊंगी और हर प्रकार का भोजन तैयार करूंगी । तुम गुणवान हो और मुझमें अनेक प्रकार के दोष भरे पड़े हैं । तुम मेरे दोषों को क्षमा करो । हे मीरा के प्रभु ! तुम्हारे दर्शन बिना मेरे नेत्र बहुत उदास हैं ।

२- म्हारे डेरे आज्यो जी महाराज ।
चुणि चुणि कलियां सेज बिछाओ, नख-सिख पहरयो साज ।
जनमजनम की दासी तेरी, तुम मेरे सिरताज ।
मीरां के प्रभु हरि अविनासी, दरसण दीज्यो आज[1] ।।

भावार्थ -- हे महाराज ! मेरे पास पधारिए । मैंने कलियों को चुन-चुन कर सेज को सजा रखा है और नख-शिख श्रृंगार-सज्जा कर रखी है । मैं जन्म-जन्मान्तर से तुम्हारी दासी हूं और तुम मेरे स्वामी हो । हे अविनाशी हरि! मेरे नाथ ! मुझे तत्काल दर्शन देकर कृतार्थ करो ।

अक्क महादेवी तथा मीरां बाई ने अपने-अपने आराध्य देव की प्राप्ति के लिए दाम्पत्य-प्रेम को माध्यम बनाया । दाम्पत्य-प्रेम के अन्तर्गत साधक परमात्मा को अपना प्रियतम मानकर भक्ति-साधना में तत्पर होता है । जब तक उसे प्रियतम की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक साधक उसके वियोग में व्याकुल रहता है । वह प्रियतम को पाने के लिए पागलों की भांति विचारधारा में मग्न रहता है । उसकी स्मृति में प्रियतम की मधुर मूर्ति की झांकी उसे मिलने लगती है और तब वह आनन्द-विभोर हो जाता है। वह अपने प्रियतम की मधुर मूर्ति का साक्षात्कार करके तन्मय हो जाता है । ठीक यही स्थिति अक्क महादेवी तथा मीरांबाई की है । दाम्पत्य-प्रेम में दोनों भक्तकवयित्रियां अपने प्रियतम की स्मृति में अपने को खो देती हैं और जब

---

१ आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : "मीरां बाई की पदावली" ,पृ. [illegible]

उनके प्रियतम की वियोगजन्य वेदना उत्कर्ष पर पहुंच जाती है तो वे अपने-अपने अन्त:करण में अपने-अपने इष्ट प्रियतम चेन्नमल्लिकार्जुन तथा श्रीकृष्ण की मधुरमूर्ति का दर्शन करके उन्मुक्त हो जाती हैं ।

प्रियतम का क्या स्वरूप है, उसकी प्राप्ति कैसे सम्भव है? आदि बातों का ज्ञान बिना गुरु के नहीं हो सकता है । इसीलिए अक्क महादेवी तथा मीरांबाई की रचनाओं में गुरु की महिमा का वर्णन भी मिलता है ।

इष्टदेव की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब साधक तैल धारा के समान लगातार भक्ति-साधना में निरत रहता है । ऐसी स्थिति में सांसारिक प्रपंच के लिए उसके जीवन में लेशमात्र भी अवकाश नहीं मिलता । इन दोनों कवयित्रियों में एक ओर तो संसार से विरक्ति और दूसरी ओर अपने इष्टदेव के प्रति अनुरक्ति के सजीव चित्रण मिलते हैं ।

भक्ति-साधना में अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं । ये बाधाएं साधक की परीक्षा के लिए आती हैं, जो सच्चे भक्त नहीं होते, वे बाधाओं से पराजित होकर भक्तिमार्ग से विचलित हो जाते हैं, किन्तु जो भक्त अनेक बाधाओं के होते हुए भी अपनी भक्ति-साधना को नहीं छोड़ते वही सच्चे भक्त कहलाते हैं और वे ही भक्त अपने इष्टदेव को प्राप्त करने में सफल होते हैं । अक्क महादेवी तथा मीराबाई की भक्ति-साधना में अनेकों बाधाएं उपस्थित हुईं, किन्तु वे दोनों अपने भक्ति-पथ से विचलित नहीं हुईं ।

प्रत्येक जीवात्मा में सत् और असत्, दोनों प्रकार के संस्कार रहते हैं । बाह्य जगत में प्रवेश पाने पर असत् संस्कार और सत्संग पाने पर सत् संस्कार जागृत हो जाते हैं । इस तथ्य की अनुभूति अक्क महादेवी तथा मीराबाई को सत्संग से प्राप्त हुई है । इसीलिए उनकी रचनाओं में सत्संग

की महिमा का वर्णन मिलता है । सत्संग के प्रभाव से उनमें भक्ति-भावना जागृत हुई और अन्त में उन्हें अपने प्रियतम का दर्शन भी हुआ । प्रियतम का दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् उनके अंतःकरण में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश हुआ, जिससे उन्होंने अपने इष्टदेव को समस्त संसार में व्याप्त देखा और अपने इष्टदेव की अनेकरूपता में एकरूपता का दर्शन किए ।

दोनों कवयित्रियों ने अपने भक्ति सम्बन्धी उद्गारों को अत्यन्त सुगम और ललित भाषा में व्यक्त किया है । इन दोनों कवयित्रियों ने मुक्तक शैली में रचनाएं की हैं । उनके मुक्तक पद अपने में स्वतन्त्र हैं । प्रत्येक पद में अलग-अलग उद्भावनाएं सजीव हो उठी हैं । उनके पद गेय हैं, क्योंकि विरह-वेदना में दोनों कवयित्रियां अपने प्रियतम के प्रति इतना तल्लीन हो जाती हैं कि उनके अन्तःकरण से उद्भूत विरह-वेदना संगीत की मधुर लहरी में झंकृत हो उठती है और वह मधुर झंकार शब्द और अर्थ के माध्यम से काव्य के रूप में प्रस्फुटित हो गई है । उनकी रचनाओं में कोमलतम भावों की व्यंजना हुई है, जो उनके अन्तःकरण से उद्भूत हुई है । इसीलिए इन दोनों के रचनाओं में सर्वत्र सरलता, मधुरता, तथा सजीवता के दिग्दर्शन होते हैं । अक्क महादेवी ने कन्नड़ भाषा में तथा मीरां ने राजस्थानी भाषा में अपनी उद्भावनाओं को व्यक्त करने का पूरा प्रयास किया है । इन दोनों कवयित्रियों के पदों में प्रसाद गुण पाए जाते हैं, जिससे कन्नड़ तथा राजस्थानी भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाले व्यक्ति भी सरलतापूर्वक समझ लेते हैं । इन दोनों कवयित्रियों का उद्देश्य कवित्व-प्रदर्शन नहीं था, उनकी रचनाओं में स्वभावोक्ति आदि अलंकार स्वतः समाविष्ट हो गए हैं ।

अक्क महादेवी तथा मीराबाई की रचनाओं में करुण, शृंगार तथा शान्तरस की प्रमुखता पाई जाती है । जहां पर प्रियतम से संयोग होता है, वहां संयोग शृंगार और जहां प्रियतम से वियोग होता है, वहां

विप्रलम्भ शृंगार पाया जाता है । वियोग के पश्चात् जब पुनः प्रियतम का मिलन होता है, तब दोनों कवयित्रियाँ अखण्ड आनन्द से आप्लावित होकर आनन्दविभोर हो जाती हैं और तब उनके अन्तःकरण में शान्तरस का उदय होता है । इस प्रकार अक्क महादेवी तथा मीरा की रचनाओं में प्रेम- साधना का उत्कर्ष तथा काव्यात्मक प्रतिभा के भी दर्शन होते हैं ।

दोनों कवयित्रियों की रचनाओं पर दृष्टिपात करने से यह पता चलता है कि प्रेम-साधना की दृष्टि से दोनों ह समान हैं । मीराबाई की भक्तिमयी विचारधारा केवल प्रेम-साधना तक ही सीमित है, किन्तु अक्क महादेवी की भक्तिमयरचनाओं में सकल दार्शनिक तत्वों का समावेश स्पष्ट परिलक्षित होता है ।

—0—

अध्याय —७

अक्क महादेवी तथा मीरांबाई की देन

(क) कन्नड साहित्य को अक्क महादेवी की देन

(ख) हिन्दी साहित्य को मीरांबाई की देन

—

अध्याय--७

अक्क महादेवी तथा मीरांबाई की देन

अपने-अपने गीत-काव्यों का सृजन कर अक्क महादेवी ने कन्नड साहित्य को तथा मीरांबाई ने हिन्दी साहित्य को अत्यन्त समृद्ध एवं प्रांजल बनाने में अपना महान योग दिया है । प्रस्तुत अध्याय के वर्ग(क) में कन्नड साहित्य को अक्क महादेवी की देन तथा वर्ग (ख) में हिन्दी साहित्य को मीरांबाई की देन पर समुचित प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है ।

(क) कन्नड साहित्य को अक्क महादेवी की देन

तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति : एक रेखा-चित्र

परिवर्तन सृष्टि का नियम है । मानव समाज में समय-समय पर सुधार,क्रान्ति एवं आन्दोलन होते रहे हैं । समय के प्रवाह में कालक्रम एवं परिस्थितियों के अनुसार सब का अलग-अलग महत्व है । १२ वीं शताब्दी में बसवेश्वर नामक एक महान विचारक एवं दार्शनिक महात्मा कर्नाटक में प्रादुर्भूत हुए हैं । उन्होंने तत्कालीन समाज में उत्पन्न अव्यवस्थाओं के उन्मूलन के लिए सामाजिक,धार्मिक,तथा सांस्कृतिक आदर्शों की स्थापना की है । इस कार्य में उन्हें अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा है । उनके सफल प्रयत्नों के फलस्वरूप विचार-लोक [illegible] की क्रान्ति के बीच समन्वय स्थापित करने में वे सफल हुए हैं । इस विचार-क्रान्ति के समय में ही एक दिव्य ज्योति मैसूर राज्य के उडुतडी

ग्राम में अक्क महादेवी के रूप में प्रादुर्भूत हुई, जिसने जीवन के अत्यल्प काल में ही समस्त भारत में अपने विचार-आलोक से जन-मानस को आलोकित किया था ।

१२ वीं शताब्दी में बसवेश्वर ने यह घोषणा की थी कि देव-लोक एवं मृत्यु-लोक अलग नहीं है । यह घोषणा उस समय की विचार-क्रान्ति का स्रोत बनी । फलतः महात्मा बसवेश्वर ने अज्ञान की निद्रा में सोई हुई जनता को जागृत कर उनमें नई चेतना एवं ज्ञान का भाव भर देने का पूर्ण प्रयत्न किया है । वर्ण-भेद, लिंग-भेद तथा जाति भेद आदि काल्पनिक भेदों को मिटाकर जनता में लोकाई भाव उत्पन्न किया और उसे मानव जीवन की श्रेष्ठता बताई ।[1]

इस महाक्रान्ति के लिए कन्नड़ वाणी ही कारण बनी । कन्नड़ भाषा ने संस्कृत भाषा-शैली की परम्परा को उखाड़ फेंका। उसके बदले अपनी देशी कन्नड़ भाषा का प्रयोग किया[2] । फलस्वरूप उसका प्रभाव संस्कृत तथा अन्य भाषाओं पर भी पड़ा । उस समय वचनकारों का आचार-व्यवहार ही मार्गदर्शक हुआ । उनकी वाणी ही वेद बनी । वचनकारों ने अपने अनुभव मंडित वचन से साहित्य को पण्डित एवं साधारण जन का भेद न मानकर, सभी जनता के लिए सुलभ कर दिया । फलस्वरूप "देववाणी का जन-वाणी होना असंभव होने पर भी जन-वाणी को ही देव-वाणी के समकक्ष खड़ा किया गया ।"[3] इस साहित्य-कोष में सभी वर्गों तथा स्त्रियों के लिए भी बिना रोक-टोक प्रवेश था । इस युग के साहित्य ने जनता के लिए

---

१ डॉ० [illegible] तथा [illegible] : "वीरशैव दर्शन", पृ० ११ ।

२ वही, पृ० १६

३ वही, "

अक्क महादेवी के वचनों की लोकप्रियता

अक्क महादेवी के वचन कन्नड साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । १२ वीं शताब्दी में जितने भी भक्त-कवि कन्नड प्रदेश में हुए हैं, उनके साहित्य का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण वचन साहित्य में भक्ति को प्रमुखता प्रदान की गई है । भक्ति के साथ ज्ञान, अहिंसा, दया एवं भगवान के प्रति आत्म-समर्पण भाव का महत्व भी प्रतिपादित किया गया है । अक्क महादेवी भी उसी कड़ी की एक उज्ज्वल मणिका है । उनके सम्पूर्ण वचन साहित्य में तत्कालीन साहित्य की सभी पद्धतियाँ निहित हैं । अतः उनके वचन तत्कालीन साहित्य का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं । यह कहा जा सकता है कि अक्क महादेवी जी ने कन्नड साहित्य को जो महत्व प्रदान किया, वह सराहनीय है, साथ ही अत्यन्त महत्वपूर्ण भी । भक्ति और दर्शन, प्रेम और आत्म समर्पण, लौकिकता और पारलौकिकता, अहिंसा और दया, लोक-मंगल भावना एवं संस्कृति तथा अन्वेषण और आतुरता के भाव एक साथ यदि कहीं आए हैं तो अक्क महादेवी के वचनों में ही । निश्चय ही इस प्रकार के भावों से युक्त वचन कन्नडसाहित्य की अमूल्य निधि हैं । कन्नड साहित्य की अधिकांश रिक्तता इन वचनों से निःसन्देह परिपूर्ण हो गई और ये वचन वस्तुतः कन्नड साहित्य के काव्य-कोष की अमूल्य सामग्री बन गए हैं ।

अक्क महादेवी की देन :— अक्क महादेवी जी के वचनों में न केवल [illegible], दार्शनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि है, प्रत्युत काव्य-सौन्दर्य का भी पूर्ण परिपाक दृष्टिगोचर होता है । भाव, भाषा, रस, छन्द, अलंकार, बिम्ब और प्रतीक आदि सभी दृष्टिकोणों से उनका अपना महत्व है । शृंगार और भक्ति-रस का अतिरेक भी उनके वचनों में दृष्टव्य है । उपमा, रूपक, दृष्टांत, उदाहरण, श्लेष आदि अनेक महत्वपूर्ण अलंकारों की पूर्ण योजना उनके वचनों में [illegible]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अक्क महादेवी जी ने अपने वचनों के माध्यम से कन्नड साहित्य को भक्ति एवं काव्य का समन्वित उपहार प्रदान किया है और उनकी इस देन के लिए कन्नड साहित्य सदैव ऋणी रहेगा।

मानव जीवन के चार पुरुषार्थ माने गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । इनमें अर्थ और काम अर्थात् भोग्य वस्तुओं के साधन हैं और धर्म और मोक्ष अध्यात्म के साधन हैं । काम तो लौकिक जीवन के लिए तथा मोक्ष पारलौकिक जीवन के लिए विशेषतया महत्त्वपूर्ण है । अक्क महादेवी ने पारलौकिक जीवन के सम्बन्ध में अपने वचन साहित्य के माध्यम से जो सन्देश दिया है, उसका महत्त्व तब तक रहेगा, जब तक धर्म में लोगों का विश्वास और श्रद्धा रहेगी । फलस्वरूप हम सहज रूप में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उनका साहित्य सदैव अमर और कल्याणोन्मेषशाली रहेगा, क्योंकि उसमें जो जीवन रस संचित है, वह सदैव प्रभावोत्पादक रहेगा । यद्यपि उनकी भाषा कन्नड थी और कन्नड भाषा के ही माध्यम से उन्होंने भावाभिव्यक्ति भी की है, किन्तु उनके संदेश मानवता के संदेश हैं जो सार्वभौमिक भी हैं और सार्वकालिक भी । उनका संदेश समस्त मानव जाति के हित का संदेश है । वह कन्नड भाषा को उन्होंने गति दी है, स्वाभाविकता दी है, वाणी दी है, शक्ति दी है, अपने अलौकिक भावों से उसका शृंगार किया है, सजीवता प्रदान की है, उसमें प्राण फूंका है और उसे इस योग्य बनाया है कि विश्व-साहित्य के किसी भी प्रमुख भाषा के समकक्ष आसन पर स्वाभिमान के साथ विराजमान होकर गौरव का अनुभव करे ।

अन्त में निष्कर्ष रूप में हम इतना ही कहकर मौन हो जाते हैं कि हिन्दी साहित्य और भाषा के विकास में जो गौरवपूर्ण स्थान कबीर, सूर और तुलसी तथा मीरां का है उतना ऊंचा ही कन्नड साहित्य में अक्क महादेवी का भी है ।

(ख) हिन्दी साहित्यको मीरांबाई की देन

तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति : एक रेखा-चित्र

भक्तिकाल का कवि आदिकाल या रीतिकाल के कवि की भाँति पराश्रयी नहीं था । इसीलिए वह किसी राजा-महाराजा की प्रशंसा में नहीं गाता । वह तो अपने अन्तःकरण की शान्ति के लिए अपने में ही मस्त होकर काव्य-रचना करता है । भक्तिकालीन कविता की प्रेरणा भी तत्कालीन कवियों को उनके 'स्व' से ही मिली । यही कारण है कि उनकी रचनाओं में उनका व्यक्तित्व स्पष्टतः परिलक्षित होता है । उनका काव्य आदिकाल और रीतिकाल के कवियों के समान राज्याश्रय में पल्लवित एवं पुष्पित नहीं हुआ , बल्कि आत्म-प्रेरणा का फल है, अतः वह स्वामिनः सुखाय न होकर स्वान्तःसुखाय एवं सर्वान्तः सुखाय सिद्ध हुआ । भक्तिकाल के कलाकार को न तो नौकरी से कोई प्रयोजन था और न ही किसी शाह की कृपालुता की परवाह । उनका साहित्य निश्छल आत्माभिव्यक्ति है, जिसमें सत्य, उल्लास, आनन्द और युग-निर्माणकारिणी प्रेरणा है ।

भक्तिकाल के कवियों ने मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों शैलियों में काव्य-रचनाएं कीं । इस युग की काव्य-रचनाओं में एक ओर जहाँ रामचरित मानस और पद्मावत जैसे महाकाव्य प्रसिद्ध हैं, वहाँ रसखान के मुक्तक सवैये, कबीर के दोहे और सूरदास के पद भी मुक्तक शैली के अच्छे उदाहरण हैं । इस काल के कवियों ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ——

आदर्श इसका ठोस प्रमाण है। 'सूरसागर' में भी जो कृष्ण का आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। जायसी के काव्य में प्रेमादर्श की ही प्रधानता है और यही बात मीरा में भी है। यही कारण है कि इस युग का साहित्य जन-जीवन को एक नई और ऊँची दिशा दे देने में समर्थ हो सका। तभी तो डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'रामानन्द और वल्लभाचार्य के पहले का हिन्दी साहित्य किसी बड़े आदर्श से चालित नहीं था। आश्रयदाता राजाओं के गुण कीर्तन और काव्यगत रूढ़ियों पर आधारित साहित्य सूक्तियों को जन्म दे सकता है, पर वह समाज को किसी नए रास्ते पर चलने की स्फूर्ति नहीं दे सकता। चौदहवीं शताब्दी से पूर्व के साहित्य ने कोई नई प्रेरणा नहीं दी, किन्तु नया साहित्य मनुष्य जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद्भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्त्विक जीवन, और साधन है भगवान के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान। इस साहित्य की प्रेरणा देने वाला तत्व भक्ति है, इसीलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से सब प्रकार से सर्वथा भिन्न है। क्योंकि उसका लक्ष्य था, राज संरक्षण, कवि यश और अर्थ सिद्धि। प्रेरक तत्व के बदलने के कारण १६ वीं शताब्दी के बाद का साहित्य बिलकुल नवीन-सा जान पड़ता है। इस युग के साहित्य में यह प्रेरणा पूरी शक्ति के साथ काम करती दिखाई देती है। यही कारण है कि इस काल के आरम्भ में ही कबीर, नानक, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, मलिक मुहम्मद जायसी और दादू दयाल जैसे महान साहित्यकार उत्पन्न हुए जो अपने-अपने क्षेत्रों में सिरताज से दिखाई देते हैं।'[1]

भक्तिकालीन रचनाओं में एक ओर यदि वैयक्तिकता दिखाई पड़ती है तो दूसरी ओर सामाजिकता का पक्ष भी दुर्बल नहीं है।

---

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : "हिन्दी साहित्य: उसका उद्भव और विकास" पृ० ६६।

मीराबाई के पदों की लोकप्रियता

मीरा को जीवन के किसी भी क्षेत्र में पाखण्ड और भक्ति मार्ग की औपचारिकताएं पसन्द नहीं । उन्हें तो विश्व में विशुद्ध प्रेम-भक्ति ही के दर्शन हुए हैं । मीरा की कविता का प्रमुख स्वर भगवान कृष्ण का प्रेम ही है । अतः प्रेम की पीर, विरह की वेदना, आत्म-निवेदन और आत्म समर्पण सभी उनके प्रेम के अन्तर्गत आ जाते हैं ।

मीरा ने योगियों की विचारधारा, संतों की प्रणाली, वैष्णवों की सौन्दर्यप्रियता और लोक-जीवन की अकृत्रिम सरलता को अपने जीवन-काव्य में एकसाथ समेट लिया है ।यही कारण है कि उनके साहित्य में एक ओर "जोगी मत जा, मत जा, मत जा" के आधार पर नाथ सम्प्रदाय के योगियों का प्रभाव माना जाता है तो दूसरी ओर "भज मन चरण कंवल अविनाशी" तथा "गगन मंडल में सेज पिया की" आदि से सन्तों का प्रभाव भी मानना पड़ता है । इसी प्रकार "मन रे परसि हरि के चरण" तथा "मोर मुकुट पीताम्बर सोहे गल बैजंती माल" आदि में वैष्णव सम्प्रदाय की छाप परिलक्षित होती है । "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई" में माधुर्य भावना का सजीव चित्रण दृष्टिगोचर होता है । यही कारण है कि विभिन्न सम्प्रदाय वालों ने उन्हें अपनी-अपनी ओर खींचना चाहा है । वस्तुतः मीरा ने अपने प्रियतम की उपासना निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में की है, परन्तु प्रधानता सगुण रूप की ही रही है । यद्यपि [illegible] की जो तन्मयता उनके सगुण भावना वाले पदों में मिलती है वह निर्गुण भावना वाले पदों में नहीं । वे तो केवल अपने सांवरिया के प्यार में, उनके [illegible] और [illegible] कृष्ण की [illegible] रागिनी में लीन हैं ; [illegible] कविता नहीं मिलती, वह यहाँ जोगियों और सन्तों की [illegible], वह [illegible] की [illegible] भी जाता है ।

कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति विशुद्ध प्रेम पर आधारित है । कुछ पदों में कृष्ण के प्रति मीरा का प्रेम भी गोपियों जैसा परिलक्षित होता है । ऐसे पद केवल भक्ति-भावना ही से सम्बन्धित हैं । उनमें प्रेम तथा विरह की छाया नहीं है, केवल शान्त भाव का प्राधान्य है । उनके पदों में अन्तर्जगत का चित्रण प्रधान होने के कारण तत्कालीन नारी अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है तथा उत्कटता के कारण गेयता भी अनायास ही आ गई है । गीत काव्य की सभी प्रमुख विशेषताएं उनके काव्य में विद्यमान हैं । वस्तुतः मध्यकालीन हिन्दी भक्त-कवियों की रचनाओं में गीतात्मकता जितने शुद्ध रूप में मीरा के पदों में पाई जाती है, उतना तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं ।

मीरा की भक्ति-भावना में कोई दुराव नहीं है । उनकी भगवद्-भक्ति स्पष्ट ही कान्तासक्ति है । मीरा मुक्त हृदय से अपना प्रेम 'गिरधर गोपाल' के प्रति व्यक्त करती हैं । उनके प्रेम में बावली होकर दर-दर वन-वन उनको ढूंढती फिरती हैं । मीरा को लोक-लाज और कुल-मर्यादा की तनिक भी चिन्ता नहीं रही है । वे तो प्रेम दीवानी का अनन्य भाव से आलिंगन अपने प्रियतम के गीत गाती रही हैं । जो भाव-प्रवण, लोक-मुक्ता नारी अपने आराध्य के लिए कुल, वंश, लाज आदि सब की अवहेलना कर दर-दर भटकती फिरती हो, उसकी अनन्य निष्ठा, अगाध प्रेम और उत्कट विरहानुभूति की सहज कल्पना नहीं की जा सकती । यही कारण है कि उनके पदों का अर्थ मर्म पर आघात करता दिखाई देता है । मीरा अपने प्रभु की अनन्य उपासिका हैं । उनमें न कहीं आत्माभिमान की भावना है और न सम्प्रदायी [illegible] ।

कविता की शक्ति संगीत का आधार पाकर द्विगुणित हो जाती है । मीरा के पदों में केवल संगीत के प्रचुर गुण पाए जाते हैं । वह कृष्ण-मंदिर की गायिका और नर्तकी भी हैं । उनमें कविता-शक्ति के साथ

संगीत कला और नृत्य कला का भी ज्ञान है[1]। पदों में गीत और संगीत की माधुरी है । राग-रागिनियों की दृष्टि से मीरा पदावली बहुत धनी है । उनके भजनों में लगभग ३० राग मिलते हैं, किन्तु मीरा को 'पीलू' राग ही सर्वप्रिय है[2]। मीरा में काव्य-कला एवं नृत्य कला तथा संगीत कला तीनों कलाओं का मणि-कांचन समन्वय हुआ है । मीरा कृष्ण के आगे नाच-नाच कर उन्हें रिझाती हैं । मीरां के ही शब्दों में —

मैं गिरधर आगे नाचूंगी।

नाचि नाचि पिय रसिक रिझाऊं प्रेमी जन को जाचूंगी।

फलस्वरूप मीरा का नृत्य, संगीत तथा हृदय सभी शुद्ध अध्यात्म रंग में डूबकर निर्मल हो गया है ।

नारी एक ही बार अपना वर चुनती है । एक मीरा ने लौकिक वर को प्राप्त होने के पूर्व ही अलौकिक वर को चुन लिया था । इस भावना की अभिव्यक्ति उन्हीं के शब्दों में द्रष्टव्य है—

राणा जी मैं गिरधर के घर जाऊं।

गिरधारी म्हारो सांचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊं।

मीरा का जीवन सत्याग्रह का जीवन था, सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध प्रतिवाद का जीवन था । विरोधियों ने उसके मार्ग में अनेक बाधाएं उपस्थित कीं, उन्हें विष देकर मार डालने आदि के षड्यन्त्र रचे गए, परन्तु वह अबला सत्याग्रह की आध्यात्मिक तलवारधारी पर कभी किंचित् भी विचलित नहीं हुई । अन्त में सबको उसके सामने झुकना पड़ा और मीरा के सत्याग्रह की विजय हुई ।

---

१ भुवनेश्वर श्रीवास्तव : 'मीरां भजन', पृ०१००

२ वही, पृ०१००

मीरा के पदों की भाषा में राजस्थानी, ब्रज और गुजराती का सम्मिश्रण पाया जाता है । कहीं-कहीं पंजाबी, खड़ी बोली और पूरबी के प्रयोग भी पाए जाते हैं । इनकी भाषा का मूल रूप राजस्थानी ही रहा है । गुजराती और ब्रजभाषा का मिश्रण भी अस्वाभाविक नहीं, किन्तु अन्य भाषाओं का सम्मिश्रण उनके पदों के व्यापक प्रचार और दीर्घकालीन मौखिक परम्परा के कारण हुआ है ।[1] मीरा में मिलन का आवेग तथा विरह की छटपटाहट दोनों समान रूप से वर्तमान है । यही कारण है कि मीरा की प्रेम भावना उफनते हुए दूध की तरह छलक-छलक पड़ती है ।

उपसंहार

मीरा द्वारा हिन्दी साहित्य और मानव-समाज को जो प्रेरणा और सन्देश मिले हैं, उनका बड़ा महत्व है । उन्होंने सांसारिक माया-जाल में न पड़कर ईश्वर-स्मरण को ही जीवन की सार्थकता समझा । सांसारिक आकर्षण उन्हें प्रभावित न कर सके । उन्हें 'रामरतन धन' मिल गया था और उसी में वे जीवनपर्यन्त मग्न एवं लिप्त रहीं । इस प्रकार अनेक संघर्षों एवं यंत्रणाओं के मध्य उनका जीवन बीता, उन्हें विषपान भी करना पड़ा, किन्तु कभी भी अपने मार्ग से विचलित नहीं हुईं । उनके जीवन और साहित्य से ईश्वर के प्रति भक्ति तथा श्रद्धा, विश्वास उत्पन्न होता है । उनका सम्पूर्ण जीवन विरह-प्रेम का प्रतीक बन गया है । उन्होंने हिन्दी साहित्य को अनेक नव भाव, नई अभिव्यक्ति एवं जीवन का वास्तविक मार्ग प्रदान किया है । साहित्य-संगीत और नृत्य की त्रिवेणी उनके पदों में प्रवाहित होती है । उनकी जैसी तन्मयता अन्यत्र दुर्लभ है । हिन्दी साहित्य मीरा का चिर ऋणी रहेगा ।

[illegible] महादेवी और मीराबाई दोनों का एक ही मार्ग है, दोनों का एक ही लक्ष्य है । दोनों की विचारधारा में भी समानता के दर्शन

---

1. हिन्दी साहित्य कोश, [illegible]

होते हैं । दोनों ही कवयित्रियों के मूल स्वर एक हैं, किन्तु स्थान-विशेष, संस्कार-विशेष एवं परिस्थिति-विशेष के कारण थोड़ा-सा अन्तर भी दोनों महाकवयित्रियों के साहित्य के अध्ययन से दृष्टिगत होता है ।सबसे मुख्य बात यह है कि जिस मंजिल तक अब महादेवी अपने जीवन के प्रभातकाल में ही पहुंच जाती हैं, मीरा वहां तक अपने जीवन के मध्याह्न में पहुंचती हैं ।

महादेवी जी ज्ञान वृद्ध हैं । अत्यल्प काल में ही सुनिश्चित पथ उन्हें प्राप्त हो गया था । मीरा तो कहीं भटकी-सी भी दिखाई देती हैं । मीरा नाच-नाचकर कृष्ण को रिझाती हैं,किन्तु अब महादेवी में भावुकता की मात्रा अपेक्षाकृत कम है और सत्य-ज्ञान के सहारे उन्होंने वचनों द्वारा उपदेशक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की है । मीरा के साहित्य से हमें भक्त-हृदय की आकुलता के दर्शन होते हैं,किन्तु अब महादेवी के साहित्य से हमें जीव,जगत,माया तथा ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप प्रतिष्ठित होता दिखाई पड़ता है । मीरा के साहित्य में हम रम जाते हैं,क्योंकि उसमें अथाह गम्भीरता है , परन्तु अब महादेवी के साहित्य में बौद्धिकता प्राप्त होती है, कहीं कोई गतिरोध नहीं होता,क्योंकि उनके वचन जीवन के अनुभवों के सांचे में ढले हैं और जो हृदय को मनोहारी ढंग से स्पर्श करते हैं ।

उपसंहार

रखती हैं,किन्तु अक्क महादेवी विश्व की समस्त प्राकृतिक वस्तुओं में उसी अलौकिक छटा का दर्शन करती हैं । मीरां में विशालता कम,गहराई अधिक है । अक्क महादेवी में दोनों का सन्तुलित सामंजस्य है । अक्क महादेवी में उत्सुकता और ज्ञान की मात्रा मीरां की अपेक्षा अधिक है,किन्तु मीरां में प्रेम की वड़वाग्नि संचित है । इस वड़वाग्नि का दर्शन अक्क महादेवी के साहित्य में वहां मिलता है,जहां उन्होंने विश्व की अन्य वस्तुओं को विस्मृत कर अपना तादात्म्य सम्बन्ध अलौकिक सत्ता से स्थापित किया है । दोनों के हृदय-मंदिर में पवित्र प्रेम की ज्योति जलती दीखती है । दोनों जब विश्व की अन्य वस्तुओं को विस्मृत करके अपना तादात्म्य सम्बन्ध अपने-अपने आराध्य से स्थापित करती हैं, उस समय दोनों एकाकार हो जाती हैं । दोनों को ईश्वर की सत्ता के अतिरिक्त और सब कुछ भूल जाता है, यहां तक कि अपनी भी सुधि-बुधि खो बैठती हैं । मीरां के जीवन में इस प्रकार का वातावरण स्थायी है, किन्तु अक्क महादेवी में अपेक्षाकृत कुछ कम क्योंकि वे अत्यन्त गम्भीर हैं । गम्भीर से गम्भीर विषय को वे साधारण दैनिक उपयोग में आने वाली वस्तुओं के माध्यम से बड़े ही सरल ढंग से स्पष्ट कर देती हैं । अपने इस प्रकार के सरल व्यक्तित्व के कारण दोनों साधिकाओं ने तत्कालीन आचारहीन मान्यताओं का क्रान्तिकारी रूप में विरोध किया,जिसके परिणामस्वरूप इन्हें जीवन में अनेक यंत्रणाएं दी गईं, किन्तु इनके [illegible] व्यक्तित्व के सामने सभी को झुकना पड़ा और आज भी ऐसी स्थिति है कि सकल मानव जाति इनके समक्ष नतमस्तक है । इसी क्रान्तिकारी विचार-धारा के कारण अक्क महादेवी ने दिगम्बर रूप धारण किया तथा मीरांबाई ने परिवार के लोक-लाज की उपेक्षा की । इन्होंने न तो सामाजिक अधिकारी [illegible] का बन्धन स्वीकार किया और न राजकीय । [illegible] समाज के [illegible] [illegible] [illegible] थी । जाति के [illegible] के बर्बर एवं संकुचित [illegible] की भी इन्होंने उपेक्षा की । इस प्रकार दोनों भक्त-साधिकाओं में क्रान्ति का एक [illegible] ज्वालामुखी [illegible] देखते हैं । दोनों समतावादी हैं तथा [illegible] [illegible] के [illegible] हैं ।

जन-मानस को अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित करता है। मीरां में हम भाव-विभोर होकर आत्मनिष्ठ होते हैं, किन्तु अक्क महादेवी से प्रभावित होकर हम परमात्म-निष्ठ भी होते हैं।

अब तक दोनों साधिकाओं के काव्य ने लाखों पीड़ित व्यक्तियों के आंसू पोंछे हैं। उनकी सहज-शील स्वाभाविकता भारतीय जन-मानस को तो परितृप्त करती ही है, साथ ही अन्य विदेशी भाषाओं के जनता भी उनके साहित्य को प्रस्तुत करने में भारत का मस्तक ऊंचा करती हैं। दोनों साधिकाएं अमर हैं, क्योंकि दोनों ने कान्तिकता के गीत गाए हैं। दोनों का स्थान समाज में तब तक पूजनीय माना जायगा जब तक ईश्वर के अस्तित्व में लोगों की श्रद्धा रहेगी क्योंकि अनन्य भाव से एकनिष्ठ एवं तन्मय होकर दोनों ने भक्ति-धारा को परिपुष्ट किया है और भविष्य में भी प्रेरित करती रहेंगी। दोनों साधिकाएं भारतीय संस्कृति की साक्षात् प्रतिमा हैं, दोनों में भारतीय जीवन-दर्शन की अद्भुत विलक्षणता है। दोनों का भारतीय जन-मानस के इतिहास में अनन्य व्यापक प्रभाव एवं प्रतिष्ठा है। उनसे हमें जीवन-शिक्षा मिलती है और आत्म-बोध भी होता है। दोनों कवि साधिकाओं की देन अमर एवं बहुमूल्य है।

--0--

सहायक-ग्रन्थ-सूची

विषय	विवरण
(१४) कन्नड़ विश्वकोश, संपुट-१	कन्नड़ अध्ययन संस्थे मैसूर विश्वविद्यालय, १९६९ई०
(१५) कन्नड़ विश्वकोश, संपुट-२	,, ,, १९७०ई०
(१६) कन्नड़ शासनगळ सांस्कृतिक अध्ययन	डा० ए० चिदानन्द मूर्ति, एम०ए०, पी०एच०डी०, कन्नड अध्यापक, मैसूर विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण १९६६ई० ।
(१७) कन्नड़ साहित्य चरित्रे	डा० र०श्री मुगळि एम०ए०, डी०लिट्०, १९६८ई० ।
(१८) कन्नड़ हस्त प्रति नं०४९९, वचन-१	कन्नड़ अध्ययन संस्थे मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर
(१९) "कर्नाटक द इतिहास", प्रथम संपुट	आर०एस० पंचमुखी
(२०) कर्नाटक इतिहास दर्शन	ए०वी० कृष्ण राव, एम०ए०, डी०लिट्०, एम०आर० ए०एस० मत्तु, ए० केशव भट्ट, १९७०ई० ।
(२१) कर्नाटक इतिहास मालिके होयसळर इतिहास ।	ए०एस० मधुंड स्वामी, १९७०ई०
(२२) कर्नाटक कथयित्रियरु	डा० सरोजिनी महिषी, १९६५ई० ।
(२३) कर्नाटक कवि चरित्रे	आर०नरसिंहाचार्य, प्रथम संपुट, १९६१ई० ।
(२४) कर्नाटक संस्कृति समीक्षे	डा० एच०तिप्पे रुद्र स्वामी, प्रथम संस्करण, १९६८ई० ।
(२५) गण भाषित रत्न माले (गुब्बि मल्लणा रचित)	संपादक- श्री प्रभु स्वामी विरक्त मठ दावण गेरे, १९६४ई० ।
(२६) गण सहस्र नामावळि (श्री मल्लिकार्जुन पंडिताराध्य मत्तु पालकुरिके सोमनाथ कवि विरचित) ।	संपादक- श्री० शिवमूर्तिशास्त्री, १९५५ई०
(२७) गद्यात्मक प्रभु लिंग लीले	वीरप्पा बसप्पा बिडि वाडि, १९२३ई० ।
(२८) गम लिंगि देवर वचन	श्री०शिवमूर्ति शास्त्री शरण साहित्य ग्रन्थमाला ६ ।

विषय	विवरण
(२९) चेन्न बसव पुराण	विरूपाक्ष पण्डित प्रथम संस्करण
(३०) कविप्रिय कन्नड़ साहित्य चरित्रे	त०सु० शामराय, प्रथम संस्करण, १९५४ई०
(३१) तत्व शास्त्र प्राच्य मत्तु पाश्चात्य	डा० सर्वपल्लि राधाकृष्णन, प्रथम संपुट, १९७०ई०
(३२) दक्षिण भारत इतिहास	के०के० पिळ्ळै
(३३) नेमिचन्द्र	एन०अनन्त रंगाचार्य, एम०ए०, १९५९ई०
(३४) प्रभु देवर पुराण	चहुंर हरीश्वर
(३५) प्रभु देवर शून्य संपादने (गुळूर सिद्ध वीरण्णोडेयर रचित)	संपादक- प्रो०स०शि० भूसनूर मठ, १९५८ई०
(३६) प्रभु देवर शून्य संपादने(शिवगण-प्रसादि महादेवय्या रचित)	संपादक- डा० एल बसवराजु, एम०ए०, डी०लिट्० १९६९ई० ।
(३७) प्रभु लिंग लीले	चामरस
(३८) प्रभु लिंग लीले गद्यानुवाद-मत्तु काव्य विमर्शे	बी०वी० कवळि, १९६२ई० ।
(३९) प्रभु लिंग लीले(चामरस कृत)	सं० बसवनाळ शिवलिंगप्पा एम०ए०, १९५३ई०
(४०) पंडिताराध्य चरित्रे	पाल्कुरिके सोमनाथ
(४१) पुरातन वैभीयर त्रिविधी	प्रकाशक- श्रीमल्लिकार्जुन, प्रथम संस्करण, १९३३ई०
(४२) बसव तत्व रत्नाकर	व्याकरण तीर्थ चन्द्रशेखर शास्त्री चिरेमठ, प्रथम संस्करण, १९५१ई० ।
(४३) बसवेश्वर समकालीनरु	प्रकाशक- अन्नदानय्या पुराणिक, कारड सैक्रेटरी बसव समिति बसव भवन बेंगलूर-१, प्रथम संस्करण, १९६८ई० ।
(४४) भक्ति सुधा सार(कन्नड शिवयोगी विरचित)	संपादक- स०शि० भूसनूर मठ, एम०ए०, १९४४ई० ।
(४५) भारतीय सामाजिक संस्थेगळु	ह०नंजाणि
(४६) महादेवी अक्कन पुराण	चेन्न बसवांक

विषय	विवरण
(४७) महादेवी यक्कन पुराण (चेन्न मल्लांक विरचित)	संपादक- बी०एन०चन्नप्पा, एम०ए०
(४८) महादेवी यक्कन वचनगलु	डा०आर०सी० हिरेमठ, एम०ए०,पी०एच०डी० कन्नड प्राध्यापक,कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ १९६८ई० ।
(४९)महादेवी रगळे	महाकवि हरिहर
(५०)वचन गद्दल्लि वीरशैव धर्म	डा० एस०तिप्पेरुद्र स्वामी,प्रथम संस्करण, १९६१ई० ।
(५१) वचन धर्मसार	ए०आर०श्रीनिवास मूर्ति, एम०ए०, १९५६ई० ।
(५२) वचन शास्त्र भाग१	डा०फ०गु०हळकट्टि
(५३) वचनशास्त्र भाग२(वीरशैवसिद्धांत)	,, ,, १९३८ई०।
(५४) वचनशास्त्र रहस्य	रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर,चौथा संस्करण, १९६८ई० ।
(५५) शिवैक्यानुभव षट्स्थल	डा०आर०सी० हिरेमठ, एम०ए०,पी०एच०डी० प्रथम संस्करण, १९७१ई० ।
(५६) वीरशैव उगम मत्तु प्रगति	टी० एस० महप्पा
(५७) वीरशैव तत्व प्रकाश	श्री शि०शि० बसवनाळ , एम०ए०,प्राध्यापक, लिंगराज कालेज, बेलगांव, १९५१ई०।
(५८) वीरशैव व हुट्टु-बेळवणिगे,भाग१	बसवनाळ स्मारक संपुट
(५९) वीरशैव दर्शन	श्री टी०एन०ए० सदाशिवय्या, एम०ए०, १९५६ई०।
(६०) वीरशैव साहित्य मत्तु इतिहास,भाग १	श्री०शिवमूर्ति शास्त्री, १९६२ई० ।
(६१) वीरशैव साहित्य मत्तु संस्कृति	अ०न० कृष्णराव
(६२) वैराग्य निधि अक्क महादेवी	बी०एस०लिंगणय्या, १९७०ई०
(६३) शरणचरितामृत	सिद्दय्या पुराणिक,प्रथम संस्करण, १९६४ई०।
(६४) शरणर अनुभाव साहित्य	डा० एस० तिप्पेरुद्र स्वामी

विषय	विवरण
(६४) शक्ति विशिष्टाद्वैत [illegible]	पं०नागेश शास्त्री बड़ूकरी, १९५७ई०
(६५) शिवदास गीतांजलि	संपादक- एल०बसवराजु, एम०ए०, प्रथम संस्करण, १९६३ई० ।
(६७) शिवशरणियर चरित्रे गळु	डा०फ०गु० हळकट्टि
(६८) शून्य संपादने(शिवगण प्रसादि-महादेवय्या विरचित)	संपादक- डा०आर०सी०हिरेमठ, एम०ए०, पी०एच०डी०, प्रथम संस्करण, १९७१ई० ।
(६९) शून्य संपादने कुरितु	ए० चिदानन्द मूर्ति, प्रथम संस्करण, १९६२ई०
(७०) शून्य संपादने परामर्श	प्रो० भूसनूर मठ, एम०ए०, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९६६ई० ।
(७१) षटस्थल चक्रवर्ती चेन्न-बसवण्णनवर वचनगळु	डा०आर०सी० हिरेमठ, एम०ए०, पी०एच०डी०, प्रथम संस्करण, १९६५ई० ।
(७२) षटस्थल तत्व दर्पण	पण्डित चं०नागेशशास्त्री, १९५४ई० ।
(७३) षटस्थल प्रभे	डा०आर०सी० हिरेमठ, एम०ए०, पी०एच०डी०, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९६६ई० ।
(७४) साहित्य संगम	स०स०मालवाड़, प्रथम संस्करण, १९७०ई०

(हिन्दी)

ग्रन्थ का नाम	विवरण
(१)अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	डा० दीनदयालु गुप्त, सं०२००४।
(२)उदयपुर राज्य का इतिहास	गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
(३)टाडकृत राजस्थान का इतिहास	अनुवादक-केशवकुमार ठाकुर, १९५६ई० ।
(४)तुलसी का काव्य सौन्दर्य	डा० चन्द्रभूषण, १९७०ई० ।
(५)प्राचीन भारत का राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास ।	राधाकृष्ण चौधरी
(६) पूर्व आधुनिक राजस्थान	रघुबीर सिंह, डी०लिट्०, प्रथम संस्करण, १९५१ई०।
(७) पूर्व मध्यकालीन भारत	वासुदेव उपाध्याय
(८) पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास	अवधबिहारी पाण्डेय, प्रथम संस्करण, १९५५ई०।
(९) भक्तिकालीन काव्य में राग और रस	डा० विनेशचन्द्र गुप्त, प्रथम संस्करण, १९७०ई० ।
(१०)भारतीय तत्व-चिन्तन	जगदीशचन्द्र जैन
(११)भारतीय वाङ्मय	डा० नगेन्द्र, प्रथमावृत्ति, सं०२०१५।
(१२)भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास ।	डा० सत्यकेतुविद्यालंकार, द्वितीय संस्करण, १९५३ई० ।
(१३) [illegible] संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर
(१४) मध्यकालीन भारत का इतिहास	डा० ईश्वरीप्रसाद, १९५८ई० ।
(१५) मिश्रबन्धु विनोद	मिश्रबन्धु
(१६) मीराँ और अण्डाल का तुलनात्मक अध्ययन ।	डा० ना०सुन्दरम्, प्रथम संस्करण, १९७१ई०।
(१७) मीराँ की काव्यकला और जीवनी	प्रो० नारायण शर्मा, एम०ए०, प्रथम संस्करण, १९६५ई० ।
(१८) मीराँ की प्रेम-साधना	भुवनेश्वर मिश्र 'माधव', तृतीय संस्करण, १९७०ई०।
(१९) मीराँ-दर्शन	प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव, प्रथम संस्करण, १९५६ई०।
(२०)मीराँबाई	डा० प्रभात, प्रथम संस्करण, १९६५ई० ।
(२१) मीराँबाई की पदावली	पं० परशुराम चतुर्वेदी, चौदहवाँ संस्करण, १९७०ई०।

ग्रन्थ का नाम	विवरण
(२२) मीराँबाई (जीवन-चरित्र और आलोचना)	डा० कृष्णलाल, १९५० ई० ।
(२३) मीराँबाई का जीवन-चरित्र	मुंशी देवीप्रसाद
(२४) मीराँ-वृहत-पद संग्रह	पद्मावती 'शबनम', प्रथम संस्करण, सं० २००९।
(२५) मीराँ-मन्दाकिनी	नरोत्तमस्वामी, १९५० ई०
(२६) मीरा-माधुरी	डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
(२७) मीराँ-स्मृति-ग्रन्थ	प्रकाशक- बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता, प्रथम संस्करण-संवत २००६ ।
(२८) मीरा-सुधा-सिन्धु	स्वामी आनन्द स्वरूप, प्रथमावृत्ति सं० २०१४।
(२९) मुहणोत नैणसी की ख्यात (प्रथम भाग)	अनुवादक तथा संपादक- रामनारायण दूगड़, संवत् १९८२।
(३०) राजपूताने का इतिहास	गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, वि०सं० १९८२।
(३१) राजस्थान का इतिहास	विश्वेश्वर स्वरूप भार्गव, प्रथम संस्करण, १९६६ ई०।
(३२) राजस्थान का पिंगल साहित्य	मोतीलाल मेनारिया
(३३) राजस्थान रत्नाकर, प्रथम भाग	बाबू रामनारायण ।
(३४) राजस्थानी साहित्य का इतिहास	पुरुषोत्तम लाल मेनारिया
(३५) शिवसिंह सरोज	शिवसिंह सेंगर
(३६) सरोज सर्वेक्षण	डा० किशोरीलाल गुप्त, १९६७ ई०।
(३७) हिन्दी और मलयालम में कृष्ण-भक्ति काव्य ।	डा० के० भास्करन
(३८) ह हिन्दी कविता में युगान्तर	डा० सुधीन्द्र
(३९) हिन्दी कृष्ण काव्य पर पुराणों का प्रभाव ।	डा० शशि अग्रवाल, प्रथम संस्करण, १९६० ई०।
(४०) हिन्दी भाषा और साहित्य	डा० श्यामसुन्दरदास
(४१) हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास ।	आचार्य चतुरसेन शास्त्री

ग्रन्थ का नाम	विवरण
(४२) हिन्दी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट	रायबहादुर लाला सीताराम, १९३०ई०।
(४३) हिन्दी साहित्य	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९५२ई०।
(४४) हिन्दी साहित्य : एक परिचय	डा० त्रिभुवन सिंह
(४५) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।	डा० रामकुमार वर्मा, १९३८ई०।
(४६) हिन्दी साहित्य का इतिहास	पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रथम संस्करण, संवत् १९८६
(४७) हिन्दी साहित्य का इतिहास	पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', १९३१ई०, प्रथमावृत्ति
(४८) हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास।	रामबहोरी शुक्ल, प्रथम संस्करण, १९५६ई०।
(४९) हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास	डा० ज्यार्ज ग्रियर्सन कृत, अनुवादक-किशोरीलाल गुप्त, १९५७ई०।
(५०) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास।	सं० परशुराम चतुर्वेदी, सं०१९९८।
(५१) हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास।	डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, प्रथम संस्करण, १९६५ई०।
(५२) हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि।	विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
(५३) हिन्दी साहित्य कोष, भाग२	सं०डा०धीरेन्द्र वर्मा, प्रथम संस्करण, सं०२०२०।
(५४) हिन्दी साहित्य रत्नाकर	डा० विमलकुमार जैन, १९५४ई०।
(५५) हिन्दुई साहित्य का इतिहास	डे०गार्सां द तासी अनुवादक-डा०लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
(५६) हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता	[struck through] डा० बेनी प्रसाद
(५७) हिन्दू सभ्यता	राधा कुमुद मुकर्जी

(अंग्रेजी ग्रन्थ)

ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम
१- अकबर दि ग्रेट	वी०ए० स्मिथ(द्वि०सं०)
२- ए हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इंडियन पीपुल्स ।	डा०आर०सी० मजूमदार।
३- ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री-पणिक्कर(१९६०ई० ।	
४- ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया।	चतुर्थ संस्करण--डा० ईश्वरीप्रसाद
५- ऐन एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इंडिया भाग२	डा०आर०सी० मजूमदार,एण्ड डा०एस०सी०राय चौधरी ।
६- कण्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इण्डिया टू इण्डियन कल्चर ।	एस०कृष्ण गोस्वामी आयंगर ।
७- हिस्ट्री आफ मेडिवल इंडिया	डा० ईश्वरीप्रसाद(१९५८ई०)
८- लाइफ एण्ड कंडीशन्स आफ द पीपुल आफ हिन्दुस्तान,भाग१	डा० के०एम० अशरफ।
९- माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान	डा० ग्रियर्सन
१०- मुगल एम्पायर इन इंडिया	डा० एस०आर० शर्मा
११- राइज एण्ड फाल आफ दि मुगल एम्पायर।	डा० रामप्रसाद त्रिपाठी(१९५६ई०)
१२- सम आस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन ।	डा० रामप्रसाद त्रिपाठी
१३- विक्टोरियन सिस्टम आफ मुस्लिम इण्डिया ।	डब्लू०एस० मुरलैंड
१४-[illegible]	
१४. दि रिलीजस पालिसी आफ दि मुगल इम्परर्स	एस. आर. शर्मा

अंग्रेजी जर्नल्स तथा इंस्क्रिप्शन्स

१- इण्डियन एण्टिक्वेरी, सम्पुट १४ ।

२- ऍपिग्रेफिया कर्नाटिक, सम्पुट ५,८,७।

३- कर्नाटक इंस्क्रिप्शन्स, भाग १

४- मैसूर एण्ड कुर्ग फ्राम इंस्क्रिप्शन्स

५- मैसूर आर्कीओलाजिकल रिपोर्ट (१९३३ई०)

६- साउथ इण्डिया इंस्क्रिप्शन्स सम्पुट ११

७- दि क्वाटर्ली जर्नल आफ आल इण्डिया वीरशैव, महासभा धारवाड़, सम्पुट-१